

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या ४७५२
काल न० २८१ परमा
खण्ड

संस्कृत गीतिकाव्य का विकास

संस्कृत गीतिकाव्य का विकास

[शोध प्रबन्ध]

लेखक :

डा० परमानन्द शास्त्री

एच. ए., पी. एच. डी.

रीडर, संस्कृत-विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़

प्रकाशक प्रतिष्ठान

मुन्शी राम मन्हाड़,

मेरठ, (उ० प्र०)

MUNSHI RAM MANOHAR LAL

Oriental & Foreign Book Sellers.

© सर्वाधिकार लेखक के अधीन

● मूल्य अठारह रुपए

● प्रकाशक

डा० विद्याभूषण भारद्वाज
एन २, पी एच डी

अधिष्ठाता एवं नियन्ता

प्रकाशन प्रतिष्ठान

सुभाष बाजार, मेरठ, उ० प्र०

फोन ४५८६

● मुद्रक .

प्रभात प्रेस, मेरठ ।

समर्पणम्

विद्या नयश्च विनयश्च विचारणं च सत्त्वं दृढत्वमृजुता च सहिष्णुता च ।
त्यागश्च धर्मगरिमा परकर्मयोगो यस्मिन् गुणाः समुदिता मुदिता इवासन् ॥
मुढं च शान्तिमथ यो ह्यजयत् समानमिच्छोगिलस्य निकटेऽपि च ताशकन्दे ।
तस्यैव वीरवरलालबहादुरस्य पुण्यस्मृतौ कृतिरियं सफलत्वमेतु ॥

—परमानन्द शास्त्री

आमुख

मेरा विचार है कि किसी भी साहित्य का सबसे सुन्दर अङ्ग उसका गीतिकाव्य होता है क्योंकि 'सत्य शिव सुन्दरम्' की जितनी कोमल और मधुर अभिव्यक्ति इसमें होती है उतनी अन्यत्र नहीं। इस दृष्टि से सस्कृत का गीतिकाव्य बड़ा ही समृद्ध है। उसकी यह गुण-समृद्धि दीर्घकालीन विकास-परम्परा का परिणाम है। ऋग्वेद में जहाँ तहाँ प्रकट हुई यह क्षीण निर्भरिणी अनेक व्यापक घटनाओं के फलस्वरूप विभिन्न दशाओं से प्रवहमान जनमानस की सहस्रधारा प्रवृत्ति का सङ्गम पाकर भावों की शान्त समतल भूमि पर कलकल ध्वनि से बहने लगी थी। अनेक मनीषियों ने इस पावन गङ्गा में स्नान किया और असंख्य लोगों को इसके रसामृत का प्रसाद बाँटा। कुछ ने विशेष विशेष स्थानों में गोता लगाकर थाह ली और अपनी अपनी पहुँच के अनुसार गहराई को अस्फुट किया किन्तु इस अविच्छिन्न धारा का अनुसन्धान कर उद्गम-दर्शन का विचार किसी समय सर्वोत्कृष्ट के मन में नहीं आया। कुछ दिन हुए एक निर्बल सी पद-चाप इसके शान्त कूल पर सुनाई पड़ी। गुरुवर हरवल्लाल शर्मा के पथ-निर्देशन में मैं इस ओर चल पड़ा था। जिज्ञासा की इस यात्रा में अपनी क्षमता के अनुरूप जो कुछ मैं देख सका उम्मी का स्केच आपके हाथों में है। मुझे यह स्वीकार करने में सकोच नहीं कि मैं किनारे-किनारे चला हूँ। आरम्भ से अन्त तक की गहराई नापने का प्रयत्न मैंने नहीं किया क्योंकि मेरा उद्देश्य इसकी सुदीर्घ दूरी में मिलने वाली अन्यान्य धाराओं के सङ्गम से उत्पन्न विकास-गति के साथ-साथ रास्ते में पड़ने वाले अनेक मोड़ों का ही चित्रण करना था। इन्हीं विशेष स्थलों पर गहराई की थाह लेने का प्रयास भी मैंने किया है। ऋग्वेद के गङ्गोत्तरी से निकलने के पश्चात् बौद्ध घेर घेरियों की गाथाओं की अलकनन्दा से मिलकर ही गीतिकाव्य की यह गङ्गा अपना व्यक्त स्वरूप प्राप्त कर सकी है। बालिदास का मेघदूत इसका हरिद्वार है जहाँ शीतल रस का अथाह प्रवाह पद-तरङ्गों की सुन्दर संगीत-ध्वनि के साथ सहज समतल गति से आगे बढ़ता है, और जयदेव का गीतगोविन्द वह तीर्थराज है जहाँ शृङ्गार तथा भक्ति की गङ्गा यमुना का लोकविश्रुत पददर्शी की अन्त सलिला सरस्वती से अभूतपूर्व सङ्गम होता है—ऐसा सङ्गम जहाँ 'पद पद होतु प्रयागु'। मेरी यात्रा यही तक है। इसके लिए जो मार्ग मुझ से बन पड़ा वह अच्छा है या बुरा इसका निर्णय तो सहृदय विद्वान् ही करेंगे। मैं केवल इतना जानता हूँ कि—

स तु तत्र विशेषदुर्लभ सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म य ।

विनीत

शिवरात्रि, वैक्रमाब्द २०२२

परमानन्द शास्त्री

रीडर, सस्कृत विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

विषय-सूची

१—विषय-प्रवेश

१-१२

काव्य में गीतशैली का महत्त्व और उसका जीवन से सामीप्य १, लोकगीत ३, लोकगीत और गीतिकाव्य ४, संस्कृत-काव्यशास्त्र में गीतिकाव्यविषयक उदासीनता और उसका कारण ५, विषय-विवेचन की आवश्यकता और उपयोगिता १०, उपलब्ध सामग्री १०

२—गीतिकाव्य की सामान्य विशेषताएँ

१३-३६

भारतीय मत १३, पाश्चात्य मत १४, समीक्षा और दोनों मतों का समन्वय २१, गीतिकाव्य के मूल तत्त्व—भावमयता २७, मनोवैज्ञानिक आधार २८, भावान्विति ३१, संक्षिप्तता ३२, सहज अन्तःप्रेरणा ३२, गेयता ३२, भाषा-शैली ३५।

३—संस्कृत काव्य में गीतिकाव्य के सोपान

३७-१०६

वैदिक साहित्य ३७, ऋग्वेद का साहित्यिक महत्त्व ३८, यजुर्वेद ६०, सामगायन ६१, उपनिषत्साहित्य का योगदान ६५, वाल्मीकि रामायण ६७, महाभारत ८०, पुराण-साहित्य ८५, महाकाव्य ८६, नाटक-साहित्य ८८।

४—संस्कृत में काव्यशैली का विकास और गीतिकाव्य के प्रकार

१०६-१२४

काव्यशैली का प्रारम्भिक विकास १०६, प्रबन्धशैली ११७, महाकाव्य ११८, खण्डकाव्य ११९, निबन्ध शैली ११९, मुक्तक शैली १२०, मुक्तककाव्यसंग्रह १२३।

५—संस्कृत गीतिकाव्य पर लोकभाषाओं के साहित्य का प्रभाव

१२५-१८०

लोकभाषा का महत्त्व १२५, प्राकृत भाषा—प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति १२६, प्राकृत का महत्त्व १२७, पालि १३१, साहित्यिक प्राकृते और उनकी विशेषताएँ १३५, प्राकृत भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव १३८, प्राकृत की शृङ्गारोपयोगिता १३९, पालि साहित्य का प्रभाव १४४, धेरी-गाथाएँ १४९, प्राकृत साहित्य का प्रभाव १५३, गाथासप्तशती और अमरक १५३, गाथासप्तशती और गोवर्धनाचार्य १५६, अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव १६९, नाथों का साहित्य १७७।

६—शृङ्गारिक गीतिपरम्परा

१८०-२६६

पृष्ठभूमि १८०, प्रथम उन्मेष—कालिदास और हाल १८८, कालिदास के गीतिकाव्य १८८, ऋतुसंहार १९०, मेघदूत १९२, घटकर्पर काव्य

२१२, गायसप्तशती २१४, द्वितीय उन्मेष—भर्तृहरि, मयूर और भ्रमरक
 २२१, पृष्ठभूमि २२१, भर्तृहरि का शृङ्गारशतक २२५, भ्रमरकशतक
 २३३, तृतीय उन्मेष—विल्हण गोवर्धन, घोषी १४४, पृष्ठभूमि २४४,
 और पंचाशिका २४६, धार्यासप्तशती २५३, दूतकाव्य (प्रबन्ध गीति)
 २६०, पवनदूत २६१।

७—धार्मिक गीतिपरम्परा

२६७—२७६

काव्यशास्त्रियों का दृष्टिकोण २६८, स्तोत्र परम्परा का महाकाव्यों
 पर प्रभाव २६८, बौद्ध और जैन धर्मों में स्तोत्र-परम्परा २६९,
 शृङ्गार-भावना का समावेश २७३।

८—युगप्रवर्तक कवि जयदेव

२७७—३२२

पृष्ठभूमि २७७, गीतगोविन्द की कसीटी भगवल्लीलागान २८३,
 शृङ्गार-वर्णन २८६, गेयपदशैली ३०२, उत्तरवर्ती कवियों पर प्रभाव
 और संस्कृतसाहित्य में जयदेव का स्थान ३१५, उपसंहार ३२१।

१

• • •

विषय-प्रवेश

+ + +

काव्य में गीति-शैली का महत्त्व और उसका जीवन से सामीप्य

आचार्य मम्मट ने यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अमङ्गल-श्रुति, लोकोत्तर आनन्द तथा कान्ता-सम्मित उपदेश को काव्य का उद्देश्य माना है। उनकी यह मान्यता काव्य तथा जीवन के सम्बन्ध की वास्तविक व्याख्या प्रस्तुत करती है। काव्य का अस्तित्व जीवन से है और जीवन की अमरता काव्य से है। दोनों का शाश्वत सम्बन्ध है। जिस दिन मानव हृदय में अनुभूति का अदम्य स्फुरण हुआ उसी दिन काव्य का भी निभृत आविर्भाव हो गया था, भाषा का माध्यम पाकर वह मुखरित हो उठा और लिपि के सकेत पाकर चाक्षुष बन गया। फिर तो स्वयं काव्य के जीवन की कहानी प्रारम्भ हो जाती है जिसका अन्त मानव जाति के अन्त के साथ ही बँधा है।

आहार, निद्रा आदि सहज प्रवृत्तियाँ तथा भौतिक-साधन संग्रह के व्यापारों में ही जीवन की इयत्ता नहीं है। ये तो जीवन के केवल एक पक्ष का ही प्रतिपादन करते हैं। जीवन की पूर्णता तो मानव की रागात्मक वृत्तियों के उभार और विकास में है। आज का मानव जीवन के स्थूल रूप में ही अधिक रमा हुआ है। यद्यपि जीवन के स्थूल पक्ष की रक्षा भी अनिवार्य है तथापि एकाङ्गी दृष्टिकोण से मानव-कल्याण का पथ प्रशस्त नहीं किया जा सकता। मानव-जीवन की चेतना उसकी अन्तर्वृत्तियों में है। उनके अभाव में मनुष्य केवल प्रतिमा रह जाता है। अतः इन अन्तर्वृत्तियों के परिष्कार और उदात्त रूप की विरस्थायिता का प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कवि का हृदय अन्तर्वृत्तियों के इस स्वरूप को, जिसका उदय सात्त्विक संवेदनशील क्षणों में होता है, काव्य में बाँध रखने का प्रयत्न अनायास ही करता रहता है। अतः काव्य जीवन की व्याख्या ही नहीं उसका स्वरूप भी होता है। तभी तो जॉन किङ्गडॉटर ने कवि को अन्य किसी भी कोटि के महापुरुष से उच्च माना है क्योंकि केवल एक भी सच्चे गीत की सृष्टि इस तथ्य का स्वतः प्रमाण है कि कम से

कम जीवन के कुछ क्षण पूर्णरूपेण जीवनमय (अनुभूतिमय) होकर बिताये गये हैं।¹ 'यूरोपीयों के तडागस्य परीबाहः प्रतिक्रिया' के अनुसार गीत में अनुभूति का स्वतः उष्णवसित प्रवाह रहता है और वह स्वयं काव्य का एक रूप हो जाता है। गीत में मनुष्य की विभिन्न अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। वे अनुभूतियाँ कवि के कार्य-व्यापार और वातावरण के कारण अनेक रूप धारण करती हैं। हर्ष, विषाद, राग-द्वेष, संयोग-विरह आदि अनेक शाश्वत मनोवृत्तियों का चित्रण उसमें रहता है। इस प्रकार गीत के कई रूप हो जाते हैं पर उनमें आत्माभिव्यञ्जन-प्रधान रहता है। कभी-कभी कवि आत्माभिव्यञ्जन और आत्मानुभूति के लिए बाह्य विषय का आधार स्वीकार करता है। बाह्य विषय के पुट की प्रधानता के कारण उसकी अभिव्यक्ति के रूप को बाह्य-विषयात्मक कहने लगते हैं। सम्भवतः इसीलिए इस कल्पित आधार पर काव्य शास्त्रियों ने काव्य के दो भेद किए होंगे। १-आत्माभिव्यञ्जनात्मक और २-बाह्य-विषयात्मक। दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों के मूल तत्त्व एक होते हुए भी उनके आकार-प्रकार और सीमाओं में भेद हो जाता है। आत्माभिव्यञ्जनात्मक को गीति-काव्य कहने लगते हैं और बाह्य-विषयात्मक को प्रबन्ध काव्य आदि।

प्रबन्धकार की अनुभूति पर बौद्धिक नियन्त्रण अपेक्षाकृत कुछ अधिक होता है। कथा-वस्तु, नायक, वर्णन-वैविध्य तथा आदर्श आदि के व्यवस्थित समावेश के प्रति सजगता मूल भावोन्मेष में कुछ शिथिलता तो ला ही देती है। महाकाव्य जीवन के विविध चित्रों का रंग-दिरंगा अलबम प्रस्तुत करता है और गीति अपने आप में पूर्ण केवल एक चित्र। महाकाव्य में कथा का सूत्र जीवन के अनुभूतिमय स्थलों को जोड़कर एक बड़ा ढाँचा प्रस्तुत करता है और पाठक की दृष्टि को उन स्थलों में हटकर इधर-उधर प्रसृत होने का अवसर भी देता है। अलङ्कारों का नाद, चरित्र-चित्रण का समत्कार और वन-उपवन, नगर आदि की शोभा भी उसके आकर्षण-केन्द्र बनते हैं तथा कथा-सूत्र में यत्र-तत्र गुंथे हुए भावमय सुमन ही बीच-बीच में अपने रम द्वारा उसकी आस्वाद्यता बनाये रखते हैं, किन्तु गीति गम्भीर अनुभूति का मधुमय वषक है जो अपनी मादकता से बाह्य चेतना को भुलाकर अन्तस् के उल्लास में मग्न कर देता है। अतः महाकाव्य की अपेक्षा गीति-काव्य में जीवनतत्त्व (अनुभूति) की सघनता अधिक रहती है। संस्कृत के गीति-काव्य के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक बृद्धता के साथ कही जा सकती है। कारण यह कि संस्कृत के महाकाव्यों पर परम्परागत कवियों का अङ्कुश अपेक्षाकृत अधिक रहा है।² वास्तव में गीति-काव्य

1. It may be asked 'Do you really think that a poet, who has left no other record of himself than a page or two, can claim a greater distinction than a great man who is not a poet?' I do think so. To have written one perfect song is to have given witness, and the only kind of witness that is finally authoritative that at least one moment of life has been perfectly experienced. (*The Lyric*, pp. 25)

2. The genius of Sanskrit-writers in their realism of life has found a much better expression in small pictures of lyric poems than in longdrawn epics. (S. N. Dasgupta, *HSL, Int.*, pp. XXXVIII.)

हृदय की अपनी वस्तु है जबकि प्रबन्ध काव्य में मस्तिष्क भी बहुत कुछ साक्षीदार हो जाता है। गीति-काव्य की तुलना किन्हीं अंशों में लघु कथा से की जा सकती है। लघु कथा की भाँति उसमें भी जीवन के एक ही पहलू का चित्र होता है। किन्तु कहानीकार को अपने चित्र को उभारने के लिए चरित्र-चित्रण के चार वर्णों का प्रयोग करने की सुविधा है, गीतिकार के लिये यह भी नहीं। कथा का आधार उसकी अनुभूति को प्राप्त नहीं होता। गीति-काव्य एक रेखाचित्र है जिसकी अभिव्यक्ति का माध्यम कुछ गिनी-चुनी रेखाएँ हैं। गीति-चित्रकार रेखाओं का भी सुविधानुसार मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता। उसे सामञ्जस्य और सन्तुलन के लिये बूझतया सजग रहना पड़ता है। एक रेखा की कमी हुई कि चित्र में अधूरापन भाँकने लगा और एक रेखा अधिक हो गयी तो विकृति ने कृति को कहीं का न छोड़ा। रेखाचित्र की कला आसान नहीं है। केवल सन्तुलित संस्पर्श ही चित्र में जीवन डाल सकते हैं। इसी प्रकार गीति-काव्य में भी अनुभूति की अभिव्यक्ति कुछ ही संकेतों से करनी पड़ती है। यही कारण है कि गीतिकाव्य में कवि की मौलिक अनुभूति तक पहुँचने में अधिक व्यवधान नहीं होते और पाठक से उसका सीधा सम्पर्क हो जाता है। इसीलिये गीति का प्रभाव अन्यविध काव्य की अपेक्षा अधिक सार्वजनिक होता है।¹ मिस्टन के 'पेराडाइज़ लॉस्ट' की अपेक्षा वर्ड्सवर्थ की 'सॉलिटरी रीपर' का आस्वादन अधिक व्यक्त कर सकते हैं।² 'अमरकवेरकः श्लोकः' प्रबन्धशायते में भी यही तथ्य अभिव्यक्त हुआ है। गीति में प्रसार नहीं, गहराई अधिक होती है। जीवन के हास-वदन की जैसी स्वाभाविक और गम्भीर ध्वनि गीति से आती है वैसी किसी अन्य काव्य में नहीं।

लोक गीत

गीतिकाव्य का शिष्ट साहित्य में वही स्थान है जो जन-साहित्य में लोकगीतों का। विकासवादी विद्वानों के अनुसार तो उसका उद्भव लोकगीत ही है। वस्तुतः भारतीय जीवन तो प्रारम्भ से अन्त तक गीतों की ध्वनि से गूँजता रहा है। जीवन का कोई पहलू नहीं रहा होगा जिसके सम्बन्ध में गीतों का प्रचलन भारतीय समाज में न हो और शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसके कण्ठ से कभी कोई गीत न चूट निकला हो। विविध उत्सवों, पर्वों और शुद्ध मनोरञ्जन के अतिरिक्त श्रम-जन्य क्लान्ति को भेटने में भी गीतों का उपयोग जन-साधारण करता आया है। राह चलते हुए बटोही, पहे डालते हुए मजदूर, पुर चलाते हुए किसान, हन चलाते हुए हनवाहे और पशु चराते हुए चरवाहे गाते-गाते अपना काम करते रहते हैं और ताजगी प्राप्त करते रहते हैं। इनके गीत स्वान्तःसुखाय होते हैं, यह आवश्यक नहीं कि उन्हें

1. And lyric being pure poetry, and most commonly found in isolation in short poems which are called lyrics, will make the widest appeal of all the forms in which poetry is found. For while sympathy with poetic energy is almost universal, sympathy with most other great energies is relatively rare. (John. Drink water, *Art & Craft of letters*, pp. 30.)

2. Do pp. 30.

सुनने के लिये कोई श्रोता भी उपस्थित रहे। पुरुषों की अपेक्षा नारियों के गीतों का संसार अधिक विस्तृत है। संस्कार, पर्व और मेले-उत्सव के गीत तो उन्हीं के एकाधिकार में हैं। इसके अतिरिक्त चक्की चलाते समय, चरखा कातते समय, बच्चे को सुलाते समय तथा गृहस्थी के अन्य कार्यों के समय भी कार्य के साथ प्रायः गीत भी चलते रहते हैं, खेत निराने-गोड़ने और फसल काटने के अवसर के गीतों में नारी-हृदय के सुल-दुःख की मर्मस्पर्शी कहानी छिपी रहती है। मेले-उत्सव के गीतों में अवसरानुसार भक्ति, नीति आदि का समावेश रहता है। फागुन के गीतों में यौवन की अलङ्कृता तथा सावन की महारो में शृङ्गार के संयोग एवं वियोग पक्षों का मनोहर रूप झलकता है। लड़कियों के भूला-गीतों में आवृ-प्रेम की अजस्र धारा बहती है तो लड़कों के टेसू के गीतों में बाल-सुलभ-चापल्य तथा उत्सुकता का पुट होता है। वृद्धों में निवेदपरक और भक्तिभावपूर्ण गीत गाये जाते हैं। इसी प्रकार गीतों में जीवन और जीवन में गीत पूर्णतया रमे हुए हैं। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक की मन स्थिति का विकास एवं विशिष्ट क्षणों में जागरित भावविशेष का समावेश इन गीतों में मिलता है।

लोकगीत और गीतिकाव्य

गीतिकाव्य तथा लोकगीतों का मूल प्रवृत्तिनिमित्त समान ही है विषय-वैविध्य की दृष्टि से गीति-काव्य लोकगीतों की अपेक्षा सर्कीर्ण है क्योंकि शिष्ट साहित्य होने के कारण वह प्राकृत जीवन के कितने ही पहलुओं से बच कर चला है। उस पर कलात्मक प्रसाधनों का गहरा रंग है तथा भावना की सहजता पर वाग्वैदग्ध्य का आवरण पड़ गया है। यह आवरण अपेक्षित अवश्य है किन्तु भीने रूप में ही जिससे अनुभूति के सौन्दर्य की भाँकी दुर्लभ ही न हो जाय। प्रारम्भिक कला-गीतों में कल्पना और वाक्चातुर्य का अनुभूति के साथ सामञ्जस्य और मनुजन रहा किन्तु धीरे-धीरे उनके बाह्य रूप के सँवारने और कल्पना का गहरा रंग चढ़ाने पर बल दिया जाने लगा। गीतिकार ने शब्द-संगीत, अर्थ-गौरव और शब्द-शक्तियों के प्रयोग से लोक-गीत के अलगद कलेवर को सुडौल बनाया जिससे उसमें गरिमा और महत्ता की प्रतिष्ठा तो हुई परन्तु इस संस्करण-क्रिया में अनुभूतिगत स्वाभाविकता भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। नैसर्गिक वातावरण के स्थान में कृत्रिमता का समावेश हुआ तथा अभिष्टि, विचार और शैली को अनुपातत अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इसी तथ्य को लक्षित कर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा है कि "सच्ची प्रतिभा-सम्पन्न जन-कविता का सामने। शब्दों की कविता सूर्य के सामने दीपक सी होती है। इसकी गवाही वे सहृदय पाठक दे सकते हैं जिन्होंने भोजपुरी के कवि विसराम के बिरहों को सुना है अथवा राजस्थान के पेंवाडे, पाबूजी का अवलोकन किया है। पाबूजी की पत्नी (सोडोजी) और उनकी भाभी जिस वक्त अपने पतियों के साथ सती होने की तैयारी करती है उस स्थल को पढ़ते समय एक-एक पंक्ति पर पाठकों को आँसू रोकना मुश्किल हो जाता है। यह सहज सुन्दर कविता है। सहज सौन्दर्य रखने वालों के लिये अलङ्कारों की कोई आवश्यकता नहीं होती—इसे यह

कविता बताती है। इससे यह भी मालूम हो जाता है कि कविता का प्राण रस है।^१

यह सब कुछ होते हुए भी गीतिकाव्य में रस की अधिकता रहती है। उसकी प्राणवत्ता का रहस्य यही है। रस से रहित—कोरे वैचित्र्य पर प्राधृत—काव्य को गीत की सजा नहीं दी जा सकती है। यहाँ हम रस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में कर रहे हैं जिसके अन्तर्गत व्यञ्जित व्यभिचारी, भावोदय, भावशान्ति आदि भी आ जाते हैं क्योंकि ये भी मानव हृदय की सघन अनुभूति की ही विशिष्ट संज्ञाएँ हैं और मन को रमा लेने में समर्थ होते हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में गीति-काव्य-विषयक उदासीनता और उसका कारण

संस्कृत-काव्यशास्त्र में पृथक् काव्याङ्ग के रूप में गीति का विवेचन नहीं हुआ है। आजकल 'गीति' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'लिरिक' शब्द के अर्थ में हो रहा है। लिरिक का स्वरूप आज चाहे जो कुछ हो गया हो परन्तु विकास की प्रारम्भिक अवस्था में उसका मूल तत्त्व गेयता ही समझा जाता था। स्वयं 'लिरिक' शब्द, जो यूनानी शब्द 'लायर' से विकसित हुआ है, इसका प्रमाण है। लायर एक प्रकार का वाद्य होता था। प्रारम्भ में इस बाजे पर एकाकी व्यक्ति द्वारा गाये जाने वाले गीत ही लिरिक कहलाते थे। अंग्रेजी लिरिक काव्य का उद्भव इन्हीं गीतों से हुआ। भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में तो गीत का महत्त्व और भी अधिक है। प्राचीन काल में ही गीत शैली का विकास दो विभिन्न दिशाओं में हो चुका था जिसके फल-स्वरूप काव्य तथा संगीत शास्त्र की प्रतिष्ठा हुई। गेयता का तत्त्व संगीतशास्त्र तथा काव्य में अलग-अलग ढंग से विकसित हुआ। काव्य के क्षेत्र में शास्त्रीय संगीत को तो प्रथम नहीं मिला किन्तु संगीत-रहित काव्य की कल्पना भी संस्कृत के साहित्यकार नहीं कर सकते थे। अतः काव्योचित संगीत का विकास छन्दशास्त्र के रूप में संगीत-शास्त्र से कुछ विभिन्नता के साथ हुआ। संगीतशास्त्र के अनुसार संगीत 'मार्ग' और 'देशी' भेद से दो प्रकार का होता है। 'मार्ग' संगीत ही शास्त्रीय संगीत है। अन्य अनेक शास्त्रों और विद्याओं की भाँति इसका सम्बन्ध भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि अलौकिक व्यक्तियों से जोड़ा गया है तथा अन्यान्य शास्त्रों के उद्देश्य के सदृश इस का उद्देश्य भी मुक्ति की प्राप्ति है। 'देशी' संगीत प्रादेशिक रुचि आदि के अनुरूप अनेक प्रकार का होता है जिसका उद्देश्य जन-मनोरञ्जन-मात्र है।^२ गीत, नृत्य और

१. अवन्तिका अंक १, १६१४, पृष्ठ ७६।

२. गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।
मार्गो देशीति तद्विधा, तत्र मार्गः स उच्यते॥
यो मार्गितो विरिञ्चयाथैः प्रयुक्तो भरतादिभिः।
देवस्य पुरतः शोभनीयताभ्युदयप्रदः॥
देशे देशे जनानां यद् रुच्या हृदयरञ्जकम्।
गानं च वादनं नरयं तद्देशीत्यभिधीयते॥

वाद्य के समवेत रूप को ही संगीत कहा गया है और संगीत के इन तीन तत्त्वों में से गीत की बड़ी भारी महिमा बतायी गयी है। वह पशु-पक्षियों से लेकर शिव तक पर अपना प्रभाव डालता है। सुर, असुर, यक्ष, गन्धर्व आदि सब गीत में रत हैं। वह अश्विमत फल प्रदान करने वाला वशीकरण है। संगीतरत्नाकर में गीत के सर्वज्यायी प्रभाव एवं महत्व का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः ।
 गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवज्रं गतः ॥
 सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्तता सरस्वती ।
 किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः ॥
 अज्ञातविषयास्वाद्यो वासः पर्यङ्किकामतः ।
 रुदन् भीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ॥
 वनैचरस्तृणाहारश्चित्रं भृगुशिशुः पशुः ।
 लुब्धो लुब्धकसंभीते भीते त्यजति जीवितम् ।
 तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते ।
 वर्मायंकाममोक्षानामिदमेवैकसाधनम् ॥^१

अर्थात् सर्वज्ञ देव पार्वतीपति (शिव) गीत से प्रसन्न होते हैं। गोपीपति कृष्ण भी वंशी की ध्वनि के वश में थे। ब्रह्मा सामगीति में रत हैं और सरस्वती वीणा में आसक्त। फिर यक्ष, गन्धर्व, देव, दानव और मानव का तो कहना ही क्या? विषयों के आस्वाद से अपरिचित सदा खाट पर पड़ा रहने वाला शिशु भी गीत का अमृत पान कर रोता-रोता प्रसन्न हो उठता है। आश्चर्य है कि गीत पर मुग्ध होकर वन में विचरण करने वाला तृणभोजी भृगुशिशु भी प्राण तक दे देता है।

तथा— मार्गदेशविभागेन संगीतं द्विविधं मतम् ।
 द्रष्टृण्येन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च ॥
 महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम् ।
 तत्तदे शस्यथा रीत्या यत्स्याल्लोकानुरञ्जनम् ॥
 देशे देशे तु संगीतं तद्देशीयविधीयते ।

संगीतदर्पण ३—६

१. गीतस्य यदि गीतेन नाप्नोति परं पदम् ।
 रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥
 गीतेन हरिणः रङ्गं प्राप्नुवन्त्यपि पक्षिणः ।
 वनादायान्ति कण्ठनः शिशवो न रुदन्ति च ॥
 कृत्तिलमत्कृतये किमताः परं कश्चिदरोऽस्वतरो वत पञ्चमः ।
 अपि मृतां यदवाप मदात्मनां मधुरगीतवशीकृतशङ्करः ॥
 परमानन्दनिबर्धनमभिरतफलनं वशीकरणम् ।
 सकलजनचित्तहरणं विमुक्तिबीजं परं गीतम् ॥

(संगीतदामोदर)

२. संगीतरत्नाकर (आनन्दश्रम), पृष्ठ ६

ऐसे गीत की महिमा का गान कौन कर सकता है ? धर्म, धर्म, काम और मोक्ष का यही एक अद्वितीय साधन है ।' सामगीतिरस से स्पष्ट है कि 'गीति' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से 'गीत' अथवा 'गान' अर्थ में किया गया है । शब्द कल्पद्रुम कोश में भी गीति का अर्थ गान ही दिया है ।^१ वहीं पर गीत का अक्षर तथा भेद बताते हुए निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया गया है—

धातुधातुसमायुक्तं गीतमित्युच्यते शुभं ।
तत्र नावात्मको धातुर्मातुरक्षरसञ्चयः ।
गीतं च द्विविधं प्रोक्तं यन्त्रगात्रविभागतः ।
यन्त्रं स्याद् वेणुवीणादि गात्रं तु मुखजं स्मृतम् ।
(अपि च—) निबद्धमनिबद्धं च गीतं द्विविधमुच्यते ।
अनिबद्धं भवेद् गीतं वर्णादिनियमं विना ।
यद्वा गमकवातुर्गानिबद्धं विना कृतम् ।
निबद्धं च भवेद् गीतं तालमानरसाञ्चितम् ।
छन्दोगमकषातुर्गानिबद्धं विना कृतम् ।^२

"आचार्यों ने गीत को धातु तथा मातु तत्त्वों से युक्त कहा है । धातु नादतत्त्व और मातु अक्षरसञ्चय का नाम है । 'यन्त्र' और 'गात्र' भेद से गीत दो प्रकार का होता है । वेणु, वीणा आदि यन्त्र है और मुख से उत्पन्न गीत गात्र । इसके अतिरिक्त गीत के दो अन्य भेद हैं—निबद्ध और अनिबद्ध । निबद्ध गीत, ताल-मान तथा रस पर आश्रित होता है और अनिबद्ध छन्द, अक्षर, ताल आदि के नियमों से मुक्त ।"

आधुनिक शब्दावली में यन्त्र को इन्स्ट्रुमेंटल तथा गात्र को वोकल कहा जा सकता है । इसी प्रकार से निबद्ध को शास्त्रीय संगीत और अनिबद्ध को सुगम संगीत कह सकते हैं ।

निबद्ध गीत के लक्षण में 'तालमान' 'रसाञ्चित' और 'छन्दोगमक वर्णादि-नियम' ध्यान देने योग्य हैं । 'तालमान' के अतिरिक्त अन्य दो विशेषताएँ संस्कृत काव्य में भी समान रूप से दृग्गोचर होती हैं । रस उसका जीवन है तो वर्णादिनियमों के आधार पर निबद्ध छन्द उसका परिधान । इसका अर्थ यह हुआ कि यदि संस्कृत की किसी कविता को 'तालमान' के अनुसार गाया जा सके तो वह गीत की संज्ञा पा सकती है और ऐसे उदाहरण मिलते भी हैं । अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना में 'तवास्मिगीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः' कहकर सूत्रधार ने जिस गीत की प्रशंसा की है वह यह है—

ईसोसिचुच्चिद्गाहं भमरेहिं पुउमारकेसरसिहाहं ।

ओर्बंसयन्ति दधमाणा पमबाधो तिरीसकुमसुहं ।

१. गीति, स्त्री० (गै गाने + क्तिन्), शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ ३३२

२. शब्द कल्पद्रुम कोश, पृष्ठ ३२६-३३० ।

इसी प्रकार पञ्चम अंक के अन्तर्गत यह प्रसङ्ग भी उल्लेखनीय है:—

विदूषक—(कर्णं दत्त्वा) भो वयस्य ! संगीतशालान्तरऽवधानं वेहि । कलविशुद्धायाः
गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते । जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचर्चं
करोतीति ।

राजा—तूष्णीं भव यावदाकर्णयामि ।

(आकाशे गीयते)

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिशुम्भ्य क्षतमञ्जरीम् ।

कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर ! विस्मृतोऽप्येनां कथम् ।

राजा—अहो रागवाहिणी गीतिः ।

प्रथम उदाहरण में जैसी रचना को 'गीत' बताया गया है ठीक वैसी ही रचना को दूसरे उद्धरण में 'गीति' कहा गया है । 'राग' का सम्बन्ध भी दोनों से ही बताया गया है । दूसरे उद्धरण में स्वरसंयोग का भी उल्लेख है, किन्तु स्वरसंयोग राग से व्यतिरिक्त वस्तु नहीं है । ये दोनों ही रचनाएँ यदि इतने विशिष्ट प्रसङ्गों से अलग रख कर देखी जायें तो इन्हें साधारणतया कविता ही कहा जायगा । अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत में कवियों एवं आचार्यों ने काव्य, गीत और गीति में कोई विशेष भेद नहीं माना है । नाटकों में 'गीत' के नाम पर भावमयी छन्दोबद्ध रचनाएँ ही समाविष्ट की गयी हैं । छन्दः शास्त्र में गीति आर्या गीति का एक विशेष प्रकार का मात्रिक छन्द स्वीकार किया गया है जो गीति उपगीति, आर्यागीति और उद्गीति भेद से चार प्रकार का होता है । आर्या का उत्तरार्ध भी जब पूर्वार्ध के सदृश हो तो गीति कहलाता है, पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध के व्यत्यय से उद्गीति, आर्या के अन्त में एक गुरु और एक लघु बढ़ा देने से आर्यागीति और आर्या के उत्तरार्ध के ही समान पूर्वार्ध भी होने पर उपगीति छन्द होता है ।

नाट्यशास्त्र में भी गीति शब्द एक विशेष प्रकार के गान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । गानध्वं के स्वरात्मक, तालात्मक और लयात्मक भेदों^१ के अन्तर्गत तालात्मक गानध्वं की इक्कीस विधियों में से एक गीति भी होती है जिसके अनेक भेद-प्रभेद माने गए हैं ।^२ गेय रचना के बाह्य रूप का गठन ही इस भेद-विभाग का कारण

१. उत्तरत्नाकर, अध्याय २, गीतिप्रकरण ।

२. नाट्यशास्त्र, २८, १२-१६

३. प्रथमा सागंधी ज्ञेया द्वितीया चार्धमागंधी ।

सम्भाविता तृतीया च चतुर्थी ध्रुवा स्मृता । (नाट्यशास्त्र २६, ७७)

मिन्न-वृत्ति-प्रगीता या सा गीतिर्मागंधी मता ।

अर्धकालनिधृता च विज्ञेया त्वर्धमागंधी ।

सम्भाविता च विज्ञेया गुर्ध्वरसमन्विता ।

लघ्वक्षरकृता नित्या ध्रुवा संप्रकीर्तिता ।

एतारस्तु गीतयो ज्ञेया ध्रुवायोगं विनैव हि ।

गानध्वं एव योज्यास्तु नित्यं गानयोगतृभिः । (नाट्यशास्त्र २६, ७८-८०)

प्रतीत होता है यह 'सम्भावित' गीति के गुर्वशरसम्मित तथा 'पृथक्' के लघ्वशरकृत होने से ही प्रकट है।

। तथाकथित वैयक्तिक अनुभूति को आधार मानकर काव्य का वर्गीकरण भारतीय मनीषियों को समीचीन नहीं जान पड़ा। वस्तुतः इस प्रकार का विभाजन भारतीय साहित्य में ही नहीं विश्व साहित्य में भी अपेक्षाकृत प्राधुनिक है। अंग्रेजी के विश्वकोष (Encyclopaedia Britannica) से ज्ञात होता है कि गीति के रूपमें काव्य का स्वतन्त्र प्रकार विलियम बेंब नामक विद्वान् ने सन् १५८६ ई० में किया।^१ दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काव्य विभाग के रूप में 'गीति' का नाम यूरोप में उस समय सुन पड़ा था जब संस्कृत में काव्यशास्त्रीय विवेचन चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर प्रायः रुक सा गया था और जब अंग्रेजी साहित्य के साथ यह भारत में आया तब तक संस्कृत-काव्य का सर्जन भी प्रायः बन्द सा ही हो चला था। यदि ऐसा न भी हुआ होता तो भी संस्कृत के आचार्य गीति की प्राधुनिक परिभाषा को स्वीकार करते, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे वैयक्तिकता के स्थान में साधारणीकरण के ही पक्षपाती रहे हैं। भेद में अभेद तथा समष्टि में व्यष्टि का दर्शन भारतीय दर्शन और साहित्य की विशेषता रही है।

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि संस्कृत साहित्य में प्राधुनिक अर्थ में 'गीतिकाव्य' कही जा सकने वाली रचनाओं का, जिनमें आत्मनिष्ठता, गंयता और स्वतः स्फुरित सहज अनुभूति हों, सर्वथा अभाव है। ऋग्वेद में ही इस प्रकार की कुछ रचनाएँ खोजी जा सकती हैं और स्तोत्रसाहित्य में तो कवि की आत्मनिवेदन-परक उक्तियों के सुन्दर उदाहरण अनेकत्र भरे पड़े हैं। किन्तु संस्कृत-गीति-काव्य को प्राधुनिक गीति की कसीटी पर कसने का अर्थ है उसके व्यापक क्षेत्र को सकीर्ण बना देना, और इससे भी बड़ी विषमता यह है कि ऐसा करना मनोवैज्ञानिक भी नहीं है। केवल पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को स्वीकार कर संस्कृत साहित्य के किसी भी अङ्ग की समीक्षा उपहासास्पद है। संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनिपरक काव्य को उत्तम माना गया है और उसमें भी असलक्ष्यक्रम ध्वनिरूप रस को अधिक महत्त्व दिया गया है। अतः विलायती आत्मनिष्ठता के स्थान में हमें रसनिर्भरता को ही प्रमुख नस्त्व मान कर चलना होगा। स्वयं पाश्चात्य विद्वानों ने भी संस्कृत गीतिकाव्य का अध्ययन इसी दृष्टि से करना उचित समझा है, अन्यथा अमरक-शतक जैसी उच्च कोटि की रचना को भी वे उसमें स्थान न दे पाते। अतः संस्कृत गीतिकाव्य के अध्ययन के लिये इसी व्यापक दृष्टि को अपनाना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसी दृष्टि से देखकर प्रियर्सन इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भारतीय कविता का विकसित कमल उसका गीतिकाव्य है। मुक्तक छन्दों में भारतीय

1. The earliest English critic who enters into a discussion of the law of prosody, William Webe, lays it down in 1586 that in verse the most usual kinds are four, the heroic, elegiac, iambic and lyric (*Encyclopaedia Britannica*, vol. 11, pp. 533.)

गीतिकाव्य पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। ये छोटे-छोटे पद्य प्रवीण हाथों द्वारा दो-चार रेखाओं के माध्यम से ही लिखे हुए चित्र हैं जो कला एवं भाव की दृष्टि से पूर्ण तथा एक कमनीय, लचीली और माञ्जल भाषा से रञ्जित हैं। इन छन्दों ने भारत और यूरोप के प्रथम संपर्क में ही पाश्चात्य प्रशंसकों को आकृष्ट कर लिया था।”

विषय-विवेचन की आवश्यकता और उपयोगिता

संस्कृत साहित्य की जिस विशाल रत्नराशि की पाश्चात्य विद्वानों ने भी हादिक प्रशंसा की है, उस पर आज तक विशिष्ट प्रकाश नहीं डाला गया। गीति की आधुनिक परिभाषा के साथ भारतीय काव्य-शास्त्रियों की मान्यताओं का समन्वय कर संस्कृत के गेय काव्य का परीक्षण करना आवश्यक है क्योंकि—(१) इससे हमारे प्राचीन साहित्य के मूल में निहित विकास-प्रवृत्तियों का पर्यवेक्षण हो सकेगा। इतना ही नहीं, कुछ अंशों में यह अध्ययन अनिवार्य भी है क्योंकि इसके द्वारा अर्वाचीन युग में साहित्य के विभिन्न अंशों के आविर्भाव के दावे की भी एक अंश तक परीक्षा हो जायेगी। (२) मध्यकालीन हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के गीति-साहित्य की मूल परम्पराओं को समझने में यह अध्ययन बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। कारण यह है कि इन भाषाओं के गीतिसाहित्य का विकास संस्कृत गीति-साहित्य की पृष्ठभूमि पर ही हुआ है। संस्कृत तथा आधुनिक भाषाओं के साहित्य के इस अङ्ग में परस्पर भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से जितना अधिक साम्य है उतना अन्य अङ्गों में नहीं। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन स्वयं शोध का एक विषय है और प्रस्तुत अध्ययन उसकी पृष्ठभूमि का कार्य करेगा। इस दृष्टि से इसका उद्देश्य और उपयोगिता व्यापक है। (३) संस्कृत साहित्य के विभिन्न इतिहास-ग्रन्थों, कुछ एक भूमिकाओं और एक-आध छुट-पुट-लेख में इस विषय पर जो चर्चा की गयी है वह एकाङ्गी और अपर्याप्त है। इसलिये एक विस्तृत तथा स्वतन्त्र अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। (४) संस्कृत गीतिसाहित्य पर अन्य भाषाओं की साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रभाव पर भी इससे कुछ प्रकाश पड़ सकेगा।

उपलब्ध सामग्री

साधारणतया गीतिविषयक सामग्री दो रूपों में प्राप्त होती है। एक तो वे मूल रचनाएँ जिनमें गीतिकाव्य के लक्षण घटित होते हैं और दूसरी वे रचनाएँ जिनमें मूल गीतिकाव्य की आलोचना की गयी है। गीतिकाव्य की सैद्धान्तिक आलोचना

1. The lotus bloom of Indian verse is its lyric poetry. It is however in its detached verses—Sonnets if I may use the expression—that the genius of Indian lyric poetry has reached its full perfection. These brief quatrains miniatures, each portraying by means of a few lines drawn by a master hand, little pictures complete alike in its nature and in its art coloured with all the richness which a copious and flexible language could give, attracted the attention of Western admirers at an early stage of the intercourse between Europe and India.

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने आवश्यक ही नहीं समझी, यह पीछे कहा जा चुका है।

गीतिकाव्य के तत्त्वों की दृष्टि से यदि संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद का ही अध्ययन किया जाये तो भी ग्रन्थेता की निराश नहीं होना पड़ेगा। आत्मानुभूति जैसा तत्त्व भी ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों में देखा जा सकता है। सामवेद तो सेयता की दृष्टि से प्रसिद्ध है ही। पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह निष्कर्ष निकाला है कि सामवेद के समय तक संगीत-शास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था। उपनिषदों के अध्ययन से यह अवश्य प्रतीत होता है कि वातावरण दार्शनिक चिन्तन से प्रोत-प्रोत था। अतः भाव-प्रधान रचनाओं के लिये उचित अवसर न मिला होगा। इस युग की ऐसी रचनाएँ उपलब्ध भी नहीं हैं; किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी उपनिषदों से मानव के अन्तर्मुख होने का प्रमाण तो मिलता ही है जो स्वयं गीतिकाव्य के—और सामान्य रूप से काव्यमात्र के—अन्तःप्रधानत्व गुण के उद्गम का संकेत करता है। अतः वैदिक साहित्य का समीक्षण भी गीतिकाव्य के तत्त्वों के सोपान को खोजने के लिये परम आवश्यक है।

वाल्मीकि रामायण तो निर्विवाद रूप से आदिकाव्य के रूप में स्वीकृत हो ही चुकी है और यह प्रसिद्ध है कि महर्षि वाल्मीकि का उद्दाम शोक ही श्लोकत्व की प्राप्ति होकर काव्य-जगत् का आदिपुरुष प्रमाणित हुआ। अतः उनकी रचना में प्रगाढानुभूति से भरी हुई उक्तियों का अभाव नहीं है। उसमें अनेक स्थल रसपेशल और आकर्षक हैं। महाभारत के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की धारणा और कसौटी चाहे कुछ भी हो किन्तु है वह इतिहासग्रन्थ ही। इतिहास होकर भी वह भावात्मक गेय स्थलों से शून्य नहीं है। द्रौपदी-स्वयंवर के पश्चात् द्रुपद का अन्तर्द्वन्द्व इस बात का प्रमाण है।

बौद्धों का दुःखवाद, जो धेरियों की गाथाओं में बड़ी ही भावात्मकता के साथ अभिव्यक्त हुआ है, गीतिकाव्य में शान्तरस की धारा को प्रवाहित करता है। ये निर्बेदपरक उक्तियाँ इतनी मार्मिक हैं कि विष्टरनिदृज ने इन्हें ऋग्वेद तथा कालिदास के मध्य का सर्वोत्कृष्ट गीतिकाव्य माना है। यद्यपि दुःखवाद का सिद्धान्त जलित-जन्माश्रयों के विकास में शिथिलता का ही अग्रदूत कहा जा सकता है तथापि विरक्ति विपाद और करुणा के उत्कर्ष के साथ वैयक्तिकता की भावना ने गीतिकाव्य के विकास में एक नया अध्याय जोड़ा जो बौद्ध संघारामों के इस युग का एक अन्य विरोधाभास है। इसलिये धेरीगाथाओं का अध्ययन भी बड़ा आवश्यक है।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, रूपक साहित्य में नाट्य-शास्त्रीय दृष्टि से गीति-योजना एक अन्य ही वस्तु है किन्तु स्थल-स्थल पर गीत्यात्मक सरस मुक्तक भी भरे पड़े हैं जिनका अपना महत्त्व है। ये श्लोक स्वतःपूर्ण तथा रस-सृष्टि में समर्थ हैं। नाटकों में ही नहीं, प्रबन्धकाव्यों में भी गीति-वातावरण पाया जाता है। बहुत से स्थलों पर वस्तु केवल पृष्ठभूमि का कार्य करती है और भावना का एकच्छन्न साम्राज्य स्थापित हो जाता है। उदाहरणार्थ कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग में इतिवृत्त

अनुभूति की सघनता में खो-सा गया है। डा० एस० एन० दासगुप्त का कथन है कि “संस्कृत महाकाव्य जिस श्लोक फॉर्म में लिखे गये हैं वह सम्पूर्ण वस्तु को खण्डचित्रों के रूप में परिणत कर देती है जो अपने आप में पूर्ण होते हैं और स्वतन्त्र सत्ता रख सकते हैं इसके कारण प्रायः सामूहिक प्रभाव का अवरोध हो जाता है; कथानक गौण पड़ जाता है और पाठक का ध्यान इन छोटे-छोटे चित्रों में अभिव्यक्त भावप्रवाह में लीन हो जाता है।”¹ अतः इस अध्ययन में महाकाव्यों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मेघदूत सर्वप्रथम व्यवस्थित रचना है जिसे गीतिकाव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। कालिदास से लेकर आज तक भी गीतिकाव्य-रचना का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है जिसमें कालगत के साथ अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। इस प्रकार संस्कृत-गीतिकाव्य की एक सुदीर्घ परम्परा है किन्तु हमारा अध्ययन जयदेव तक ही सीमित है जिनका गीतगोविन्द गीतिकाव्य के विकास में अन्तिम महत्त्वपूर्ण कड़ी है। उसके बाद की रचनाएँ तो कोरे अनुकरण की उपज हैं। अतः इस अवधि में प्रणीत गीतिकाव्य की प्रतिनिधि रचनाएँ ही हमारे अध्ययन का विषय हैं। कालिदास का मेघदूत, घटकपर्प, भर्तृहरि के शतक, अमरक शतक, चौरपञ्चाशिका, आर्यासप्तशती और पवनदूत आदि रचनाओं के अतिरिक्त ब्राह्मण जैन और बौद्धधर्मावलम्बियों के सैकड़ों स्तोत्र इसकी परिधि में आते हैं।

संस्कृत गीतिकाव्य को लेकर व्यवस्थित निर्णयात्मक आलोचना प्रायः नहीं लिखी गयी। संस्कृत साहित्य के विभिन्न इतिहासों में, जो समय-समय पर भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों द्वारा लिखे जाते रहे हैं, इस दृष्टि से कुछ विचार किया गया है किन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म है जिससे गीतिकाव्य के विकास का पूरा स्वरूप और उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों का उदघाटन नहीं हो पाता है। इन इतिहास ग्रन्थों में केवल साहित्यिक पृष्ठभूमि को ही लक्ष्य में रखा गया है। सामाजिक और सामयिक जीवन विषयक दृष्टिकोण पर, जो युग की प्रवृत्तियों के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी हुआ करता है, अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है। इसके अतिरिक्त कुछ पुस्तकों की भूमिकाओं के रूप में भी बिखरी हुई सामग्री मिलती है जिसका मूल्य बहुत अधिक नहीं है। प्रस्तुत अध्ययन में उक्त सभी प्रकार की सामग्री का यथोचित उपयोग किया गया है।

1. The Slok form in which the Sanskrit kavyas are generally written, renders the whole representation into little fragmentary pictures—which stand independently by themselves and this often prevents the developments of a joint effect as a unitary whole. The story or the plot becomes of a secondary interest and the main attention of the reader is drawn to the poetical effusion of the writer as expressed in little pictures.

(In lt. HSL, XXI)

गीति-काव्य की सामान्य विशेषताएँ

+ + +

भारतीय मत

पिछले अध्याय में यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में 'गीति' कोई स्वतन्त्र काव्य भेद नहीं माना गया है। अतः यहाँ सामान्य रूप से संस्कृत के काव्यशास्त्रियों द्वारा लक्षित काव्य की विशेषताओं पर ही दृष्टि डालनी पड़ेगी। विभिन्न सम्प्रदायों के बाद-विवाद के पश्चात् संस्कृत साहित्य में रस की महत्ता स्वीकृत हुई और उसी को काव्य का जीवन माना जाने लगा। यद्यपि रस-रहित से केवल वैचित्र्यप्रधान रचना को काव्य की सजा से वञ्चित नहीं किया गया तथापि उसे अपेक्षाकृत नीचा स्थान मिला और वैचित्र्य की पराकाष्ठा होने पर तो 'अधम' विशेषण से विभूषित किया गया। ध्वनि-प्रधान काव्य उत्तम समझा गया और उसमें भी असलक्ष्यत्रम ध्वनि का विशिष्ट स्थान मिला तथा रसानुभूति पर बल दिया गया जिस हम किसी भावविशेष की सघन, अबाध और एकतान अनुभूति कह सकते हैं। कोमल भावों को उदबुद्ध करने वाली रचनाओं के प्रति अधिक रुचि प्रकट की जाने लगी। प्रारम्भ में तो रस की स्थिति नाटक में ही समझी गयी किन्तु आगे चलकर अनुभव के आधार पर उसे प्रबन्ध काव्य में और उसके पश्चात् मुक्तक में भी सम्भव मान लिया गया। प्रबन्ध काव्यों में प्रसङ्गानुसार यत्र-तत्र अनेक प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति का अवसर होता है किन्तु मुक्तकों में अथवा लघुकलेवर रचनाओं में केवल एक भाव की ही अभिव्यक्ति सम्भव है या यूँ कहिये कि क्षणिक भावावेश में किसी इतिवृत्त अथवा वस्तु का आश्रय लिये बिना केवल एक ही भावना की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। ऐसी रचनाएँ संस्कृत में हुई अवश्य पर उनका अलग से नामकरण नहीं किया गया। इनमें कवियों ने इच्छानुसार अपने अथवा जग के अनुभूत भाव व्यक्त किये हैं।

इन रचनाओं की एक प्रमुख विशेषता यह है कि ये सभी गेय हैं। यों तो संस्कृत का प्रत्येक छन्द गेय है और छन्दोहीन कविता संस्कृत में आज तक लिखी ही नहीं गयी किन्तु इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत आदि इतिवृत्तात्मक ग्रन्थ प्रायः अनुष्टुप् छन्द में ही लिखे गये हैं जो अपेक्षाकृत कुछ कम गेय हैं अथवा सहज गेय नहीं हैं। महाकाव्यों की रचना तो गेय छन्दों में ही हुई। रस परिपाक का भी उसमें

पर्याप्त ध्यान रखा गया किन्तु साधारण रसपेशल मुक्तक से महाकाव्य में एक मौलिक भेद यह रहा कि कथानक एवं वर्णन-वैविध्य के आग्रह के कारण उसमें वस्तुनिष्ठता का स्वर ही ऊँचा रहा। अतः पुराण, महाकाव्य आदि इतिवृत्त पर आधृत रचनाओं से अलग रसात्मकता संक्षिप्तता और गेयता आदि गुणों की प्रधानता रखने वाली लघु रचनाओं को गीतिकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

पादचात्य मत

पादचात्य विद्वानों ने आत्मपरक (Subjective) तथा वस्तुपरक (Objective) भेद से काव्य के दो प्रकार माने हैं और पूर्ण तथा सापेक्ष भेद से दो प्रकार की कवि-दृष्टि मानी है। महाकाव्य अथवा नाटक की रचना के लिये प्रथम तथा विगुह्य गीति की रचना के लिये द्वितीय प्रकार की दृष्टि (Vision) अपेक्षित है। सापेक्ष अथवा संकीर्ण दृष्टि वाला कवि अपने व्यक्तित्व से अभिभूत रहता है। अतः स्वतन्त्र चरित्रों (पात्रों) की अवतारणा में असमर्थ होता है। उसके पात्र उसी के व्यक्तित्व का भार ढोते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह प्रकारान्तर से अपना ही चित्रण करता है। निरपेक्ष अथवा पूर्ण दृष्टि वाला कवि अपने से भिन्न पात्र की सृष्टि करता है जिसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र होता है।¹ आलङ्कारिक शैली के गाय त्रिटेन के विश्वकोश में लिखा है कि यों तो सभी कवि गायक होते हैं किन्तु उन सबको तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :—

१—गीतिकार, जो अपने अकेले स्वर में केवल एक ही तान छेड़ सकता है।

२—महाकाव्यकार तथा अधिकांश आख्यानकार कवि, जिनमें से प्रत्येक अपनी एक ध्वनि से कई स्वरों में गा सकता है।

३—सच्चा नाटककार जो प्रत्येक स्वर में गा सकता है।

गीति-प्रवृत्ति का मूल आधार केवल आत्मवाद है। अनेक गीतिकारों में तो सापेक्ष दृष्टि (Relative vision) का भी उन्नत रूप नहीं दिखाई पड़ता। वे अपने ही भावों में लीन रहते हैं; अपने चारों ओर फैले हुए जीवन से उनका कोई गहरा लगाव नहीं होता और यह कहा जा सकता है कि इस कोटि के कवि के लिये उसका अन्तःकरण एक साम्राज्य है तथा जितना छोटा वह कवि होगा उतना ही बड़ा उसके लिये यह साम्राज्य होगा। उसका गीत बड़ा ही मधुर, कृष्ण और सुन्दर होता है किन्तु वह होता है उसके ही अन्तरिक जगत् से सम्बद्ध। उसी के सुख-दुःख, आशा-निराशा, इच्छा, भय आदि से वह प्रोत-प्रोत रहता है।

1. Between relative and the absolute vision, the difference seems to be this the former only enables the poet, even in its very highest exercise, to make his own individuality, or else humanity as represented by his own individuality, live in the imagined situation, the latter enables him in its highest exercise to make special individual characters other than the poet's own life in the imagined situation. (*Encyclopaedia Britannica*, vol. 18, pp. 107)

दूसरी कोटि के कवि आत्मवादी तो होते हैं फिर भी उनकी दृष्टि कुछ व्यापक होती है, किन्तु दूरदर्शी होते हुए भी वे सूक्ष्मदर्शी नहीं होते और जाति को देखकर भी व्यक्ति को नहीं देख पाते। सामान्य से आगे विशेष तक उनकी दृष्टि नहीं पहुँच पाती। वे वर्गगत (Typical) चरित्रों को जन्म दे सकते हैं व्यक्तिगत (Individual) चरित्रों की सृष्टि नहीं कर सकते। अपने अहं से ऊपर ये भी नहीं उठते जिसके कारण कल्पना-प्रसूत वर्ण्य परिस्थिति में अपने आपको ही केन्द्रीय तत्त्व समझ लेते हैं। फल-स्वरूप उनकी रचनाएं भी उन्हीं के चारों ओर घूमती रहती है। इस ढंग का कवि समूची मानव जाति का प्रतिनिधित्व करता है और किसी भी परिस्थिति का चित्रण करते समय स्वयं को उस परिस्थिति में डाल देता है तथा वही करता है, वही कहता है, वही विचारता है और वही अनुभव करता है जो उस स्थिति में पड़ा हुआ कोई भी सामान्य व्यक्ति किया करता है।

तीसरी कोटि का कवि आत्मवाद की परिधि से बाहर होता है। 'एकोऽहं बहु स्था' की भावना उसकी कला को प्रेरणा देती है और वह, वर्ग की नहीं, व्यक्ति की सृष्टि करता है। उसकी सृष्टि अलौकिक और स्वतः पूर्ण होती है—इतनी पूर्ण कि उसके अन्दर कोई देवी शक्ति प्रविष्ट होकर पर्य-प्रदर्शन करती हुई सी प्रतीत होती। वह सजीव पात्रों का स्रष्टा होता है जो उसकी कल्पना से प्रसूत होकर भी उसके व्यक्तित्व में दबे हुए नहीं होते। वे अपने पृथक् व्यक्तित्व के कारण सामान्य जन-सम्मर्द में भी दूर से ही पहचाने जा सकते हैं।¹ ऐसे ही कवियों को सेमुएल जॉन्सन ने विशिष्ट-शक्ति-सम्पन्न तथा कुशलतम प्रतिभाशाली कहा है।²

इस सम्बन्ध में जॉन ड्रिड्जवाटर का मत भी उल्लेखनीय है। उन्होंने मानव-व्यक्ति का विश्लेषण करते हुए मानसिक शक्ति के चार प्रमुख भेद माने हैं :—

१—किसी प्रस्तुत सामग्री पर पूर्ण बौद्धिक नियन्त्रण करने की शक्ति (Profound intellectual control of material)।

२—वस्तु के प्रति पूर्ण भावात्मक चेतना (Profound emotional sensitivity to material)।

३—नैतिकता (Energy of morality)।

४—कवित्व शक्ति (Poetic energy)।

प्रथम प्रकार की शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति बिखरे हुए तत्त्वों को एकत्र कर उन्हें एक सन्तुलित सुबौल रूप देने में दक्ष होता है। यह गुण बहुत से लोगों में होता है। सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक नेताओं, शासकों और प्रबन्धकों में यह पर्याप्त उन्नत अवस्था में मिलता है जिससे वे संगठन-कार्य में विशेष रूप से सफल होते हैं। किसी वस्तु के सौन्दर्य की सत्ता में अथवा किसी विशिष्ट वातावरण में आत्म-

1. *Encyclopaedia Britannica*, article on poetry.

2. There is the highly specialized energy that delights in the objective perception of differentiations character, the chief energy of the deffest wit.

विस्मृत होकर अनुभूतिमय बन जाना अपेक्षाकृत कुछ कम लोगों में देखा जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने ऐसे परिष्कृत-हृदय व्यक्ति को सहृदय की संज्ञा दी है। यह शक्ति जहाँ आत्म-तुष्टि का साधन बनती है वहाँ परोपकार की ओर भी उन्मुख करती है। नैतिकता का गुण और भी कम लोगों में पाया जाता है और कवित्वशक्ति तो विरल व्यक्तियों में ही होती है। जॉन ड्रिड्जवाटर ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है और इसे प्रशस्त (सर्वश्रेष्ठ) से भी अधिक बताया है।¹ विशुद्ध कवित्वशक्ति ही गीतिकाव्य की जन्मदात्री है।

इन शक्तियों में से किसी एक का भी उत्कर्ष मनुष्य की रूपाति के लिये पर्याप्त है। एकाधिक के योग का तो कहना ही क्या ! कवित्वशक्ति के साथ जिस कवि में जितना ही अन्य शक्ति या शक्तियों का योग होगा उतना ही वह महान् होगा। यह एक निश्चित बात है कि महाकवि में कवि तो प्रायः ऐसा ही होता है जैसा अन्य कवियों में किन्तु उसमें महामानव अवश्य विद्यमान रहता है। महाकवि कवि और महा मानव का समन्वित रूप होता है। किन्तु केवल कवित्वशक्ति भी अपने आप में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी के कारण अनुभूति की सघनता उपयुक्ततम शब्दों में फूट निकलती है जिनको परिवर्तित करने का अर्थ होता है उसके गौन्दर्य का हनन। किसी भी रचना को काव्य कहने और न कहने का निर्णय उसमें इस शक्ति के प्रतिफलन और अभाव पर ही आश्रित है। जॉन ड्रिड्जवाटर ने लिखा है कि 'जब हम गीति की बात कहते हैं तो हमारा उद्देश्य कवित्व शक्ति के इसी गुण से होता है और हम समझते हैं कि विशुद्ध कवित्व शक्ति की अभिव्यक्ति तथा गीतिकाव्य एक ही वस्तु है।'²

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विश्वकोप में गीतिकार को महत्त्व की दृष्टि से नहीं देखा गया है, महाकाव्य के महत्त्व को स्वीकार किया गया है और नाटककार को सब से अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, परन्तु जॉन ड्रिड्जवाटर ने गीतिकार के विषय में अधिक निष्पक्षता से विचार किया है। काव्यमात्र में निहित मूल तत्त्व के आधार पर उसने भेद में अभेद का जो दर्शन किया है वह भारतीय दृष्टिकोण के निकट होने के कारण ही स्पृहणीय नहीं है अपितु तर्कसम्मत और वैज्ञानिक होने के कारण उपादेय भी है। उसके अनुसार गीति काव्य के सक्षिप्त होने का कारण यही है कि भाव का अतिरेक (tension of poetic emotion) क्षणिक होता है और उसी स्थिति में कवि वास्तविक काव्य की सृष्टि करता है। महाकाव्य भी समय-समय पर प्रादुर्भूत होने वाले भावातिरेक की दशा में रचित अनेक संक्षिप्त काव्य इकाइयों का (जिन्हें आप चाहें तो गीति भी कह सकते हैं) ग्रथित रूप है जिन्हें कवि हृदय की सामान्य दशा में प्रसूत रचनाओं के सूत्र में गूँथ देता

1. Poetic energy is witness of the highest urgency of individual life, of all things the most admirable, but, still great. (*The Lyric*, pp. 22)

2. And it seems to me, further, that what we have in our mind when we speak of lyric, is precisely this same quality; that lyric and the expression of pure-poetic energy unrelated to other energies are the same thing. (*The Lyric*, pp. 29)

है। इस कार्य में वह अपनी बौद्धिक नियन्त्रण शक्ति की सहायता लेता है।¹

"Any long work in which poetry is persistent, be it epic or drama or narrative, is really a succession of separate poetic experiences governed into a related whole by an energy distinct from that which evoked them."²

विश्वकोष की ही भाँति हीगेन और अल्फ्रेड यूफेम ने भी आत्मनिष्ठता को गीति की सब से बड़ी विशेषता बताया है³ किन्तु आत्मपरकता अथवा वैयक्तिकता का विकास धीरे-धीरे हुआ। गमरे का कथन है कि अत्यन्त प्राचीन साहित्य, गीति जैसा प्रतीत भले ही होता हो, आधुनिक अर्थ में आत्माभिव्यक्तिपरक नहीं है क्योंकि व्यक्ति का प्रादुर्भाव विकसित सामाजिक जीवन के परिणामस्वरूप हुआ जो अपेक्षाकृत बाद की वस्तु है⁴ किन्तु प्रारम्भिक 'लिरिक' में वे सब बीज मौजूद अवश्य थे जो गीति की आधुनिक विशेषताओं के रूप में प्रस्फुटित हुए। उदाहरणार्थ सैफों के एक गीत का यह भाव लीजिए—

(सुन्दरी!) वह युवक अमरों के समान सौभाग्यशाली है जिसके नेत्र तुम्हारे सौन्दर्य को निहारते हैं और जिसके कान तुम्हारे मधुर गीत का रसास्वादन करते हैं तुम्हारी मुस्कान इतनी मधुर है कि मेरे हृदय को अपने सम्मोहन से अघोर कर देती है। जब तुम्हें देखता हूँ तो सारी शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं और मैं अवाक देखता रह जाता हूँ, मेरे सिंहरते हुए अङ्गों में बिजली सी दौड़ जाती है, मस्तिष्क एक मादक सगीत में घूमने लगता है, जड़ता छा जाती है। अङ्गों में कम्पन होने लगता है और मे घास की भाँति विवर्ण हो जाता हूँ। तब दृष्टि और वाणी दोनों ही कुण्ठित हो जाती हैं।⁵

1. *The Lyric*, pp. 44.

2. *Typical Forms of English Literature*, pp. 39.

3. Every student of literary evolution is of course aware that very early literature, even when it assumes what seems to be a lyrical form, is not in our sense of the term a literature of self-expression. This is because the emergence of the individual unit from the mass is a relatively late result of advancing social life.

(*Beginning of Poetry*)

4.

Blest as the immortal gods is he,
The youth whose eyes may look on thee,
Whose ears thy tongue's sweet melody
May still devour.
Thou smilest too? Sweet smile, whose charm
Has struck my soul with wild alarm,
And, when I see thee, bids disarm
Each vital power.
Speechless I gaze: the flame within
Runs swift o'er all my quivering skin;
My eye-balls swim, with dizzy din

इस गीत की भावमयता दर्शनीय है। प्रेमी के मनोगत भावों का सुन्दर चित्रण है। कल्पना का पुट सरलता के मार्ग में बाधक नहीं है। भावान्वित अव्याहत है और संक्षिप्तता अनाहत। मूलगीत में संगीत की स्थिति क्या थी? यह कहना कठिन है, फिर भी अनुवाद से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भाषा एवं संगीत में सन्तुलन रहा होगा और वे एक दूसरे के पूरक अवश्य रहे होंगे। आत्मनिष्ठता और वैयक्तिकता की छाप से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। सचमुच ईसापूर्व ७ वीं शताब्दी की इस कवयित्री ने गीतिकाव्य के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है।¹

एंग्लो सैक्सन युग की जो रचनाएँ बच सकी हैं उनसे इस बात के संकेत मिलते हैं कि तत्कालीन कवियों ने जातीय निराशा और दोर्भाग्य को वैयक्तिक स्तर पर अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। यद्यपि इस काल की रचनाएँ प्रायः इति-वृत्तात्मक, विवरणात्मक और उपदेशात्मक हैं तथापि कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जो भावमय होने के साथ-साथ जातीय भावना को वैयक्तिक अनुभूति की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत करती हैं। उदाहरणार्थ 'डिओर्स लेमण्ट' शीर्षक कविता की अन्तिम कड़ी को ही ले लीजिए जिसका अनुवाद प्रो० गमरे ने इस प्रकार किया है—

To say of myself the satory now,
I was singer erewhile to sons of Heoden
dear to my master Deor my name
Long were the winters my lord was kind;
I was happy with clansmen; Till Heotend now
By grace of his lays has gained the land
Which the haven-of-heroes erewhile gave me
That he surmounted : So this may I².

अर्थात् अब मैं अपनी कहानी कहूँ? मैं हिओडन के पुत्रों का गायक था। मेरा नाम डिओर है। मैं अपने स्वामी का प्रिय था। जाड़े की सम्बन्धी ऋतुएँ थी और मेरा स्वामी मुझ पर कृपालु था। मैं अपने जातिजनों के साथ प्रसन्न था कि (मेरे) वीर पुङ्गव (स्वामी) द्वारा दी हुई भूमि हिओरैण्ड ने ले ली।

My brain reels round,
And cold drops fall; and trembling frail
Seizes every limb; and grassy pale
I grow; and than together fall
Both sight and sound

(Translation by John H. Merivale, 1833)

1. "The practice of Pindar and Sappho, we may say, has directed the course of lyrical poetry ever since, and will unquestionably continue to do so. They discovered how with the maximum of art to pour forth strains of personal magic and music, whether in a public or a private way." (*Encyclopaedia Britannica* article on Lyric, Vol. 14.

2. The oldest English Epic, pp. 178.

इसके पश्चात् इंगलिश गीतों पर लैटिन के धार्मिक गीतों का भारी प्रभाव पड़ा जो एंग्लो सैक्सन गीतों की ही भाँति करूण थे। लैटिन गीतों ने अत्यन्त तुक और नियमबद्ध छन्दःपरिधान इंगलिश गीतों को प्रदान किये। नार्मन विजय के पश्चात् इंग्लैण्ड में फ्रेञ्च गीतों का अधिक प्रचलन रहा और इंगलिश साहित्य को स्वयं अपना मार्ग बनाने में लगभग दो शताब्दियों का समय लग गया। अंग्रेजी साहित्य के प्रथम प्रेमगीत और प्रथम वसन्त गीत 'ब्लो नॉर्बन विण्ड' का प्रणयन इसी युग में हुआ जो सन् १३१० के एक हस्तलिखित संकलन में संगृहीत है।^१ इस संकलन के ११७ गीतों में से ४० अंग्रेजी में हैं इन इंगलिश गीतों पर फ्रेंच गीतों का पर्याप्त प्रभाव है। १४ वीं शती के चौसर की रचना में फ्रेंच प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है किन्तु उसमें विदेशी फॉर्म को पचा कर अपना बना लेने की क्षमता थी। १५ वीं शताब्दी के पश्चात् फ्रेंच साहित्य के माध्यम से ही इटैलियन सॉनेट शैली अंग्रेजी को प्राप्त हुई तथा बाँट हेनरी, हॉवर्ड, आदि ने अंग्रेजी में सॉनेट लिखना प्रारम्भ किया।

ऐलिजाबेथ युग अंग्रेजी गीतिकाव्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। भाव और कला की दृष्टि से तो गीतिकाव्य इस युग में उन्नत हुआ ही उसका शास्त्रीय विश्लेषण भी इसी युग में हुआ और, जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, बिलियम वेब ने १५८६ ई० में सर्वप्रथम गीतिकाव्य को एक स्वतन्त्र काव्यविधा स्वीकार कर उस की व्याख्या प्रस्तुत की। फिलिप सिडनी, एडमण्ड, स्पेन्सर, सेमुएल डेनियल और शेक्सपियर जैसे लोक-विश्रुत गीतिकारों का आविर्भाव इसी युग में हुआ जिनकी रचनाओं में सबैकटिविटी की उन्मुक्त अभिव्यक्ति हुई है। यूफेम ने सिडनी की कृति 'एस्ट्रोफेल एण्ड स्टैला' को इस युग का आदर्श गीतिकाव्य माना है^२ जिसमें सिडनी ने प्रकारान्तर से अपने ही असफल प्रेम का वर्णन किया है। इसमें आत्मानुभूति का उच्च स्वरूप, अभिव्यक्ति का सरल निदर्शन तथा वस्तु-वर्णन का सूक्ष्म प्रदर्शन हुआ हुआ है। उदाहरणार्थ इस संग्रह की तेतीसवीं सॉनेट ही ले लीजिए जिसमें प्रेम के क्षेत्र में अवसर चूक जाने पर एस्ट्रोफेल के पश्चात्ताप का मार्मिक चित्रण है। स्वानुभूत सूक्ष्मतम विशिष्ट चित्तवृत्तियों के अनेकानेक उदाहरण इस में भरे पड़े हैं। कला की दृष्टि से २४ वीं सॉनेट का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें 'रिच' शब्द के साथ खिलवाड़ किया गया है। नवम सॉनेट में प्रतीकों का प्रयोग पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। सुरा, सुन्दरी, सुमन एवं इतर सुकुमार सुन्दर वस्तुओं की अनुभूति तथा भाव और भाषा का कलात्मक सामञ्जस्य ऐलिजाबेथ कालीन गीतिकाव्य की विशेषता है जो ग्रीक एवं लैटिन गीतों के प्रभाव का परिणाम है।^३

अठाहरवीं शताब्दी में भी सामान्यतः प्रवृत्तियाँ ये ही रहीं किन्तु इस शताब्दी के उत्तरार्ध में Pindaric ode शैली का भी प्रचलन हुआ जिसमें असमान चरणों

1. The Typical Forms of Eng. Literature, p. 42.
2. The Typical Forms of Eng. Literature, p. 46.
3. The Typical Forms of Eng. Literature, p. 51

का प्रयोग किया गया और परिश्रम-साध्य कृत्रिम शैली को प्रश्रय मिला। अठारहवीं शताब्दी में विज्ञान, राजनीति और दर्शन का भी विकास हुआ। अंग्रेज जाति के मस्तिष्क पर विचार और तर्क का प्रभुत्व छा गया जिससे व्यक्तिवाद का जोर बढ़ गया। हृदय की अपेक्षा बुद्धि को बढ़ावा मिलने के कारण अभिव्यक्ति में भी कलात्मकता का आग्रह स्वाभाविक ही था। इसीलिये कुछ आलोचकों ने इस युग को गीतिकाव्य का युग नहीं माना।¹ अन्त में इन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया-स्वरूप पुनः रोमाण्टिक तत्त्वों का स्फुरण हुआ और साहित्यिक क्षेत्र में तर्क के स्थान पर अनुभूति की प्रतिष्ठा और गीतिकाव्य का पुनरागमन हुआ।

आत्माभिव्यञ्जन का अभिनिवेश उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया जिसका फल यह हुआ कि आजकल गीतिकाव्य जनसाधारण की समझ के बाहर की वस्तु बन गयी। वह विशिष्ट शिक्षित सहृदयों का ही मनोरञ्जन कर सकता है। उसकी सार्थकता कला के माध्यम से जीवन के आन्तरिक रहस्यों, आशा-निराशा, हर्ष-शोक आदि का चित्रण करने में है। अर्नस्ट राइस के मत से सच्ची गीति में भाव का भाषा के रूप में प्रस्फुटन होता है। उसमें शब्द और लय का सामंजस्य अभीष्ट भाव को पूर्णतया चित्रित कर देता है। पद-लालित्य एवं नाद-माधुर्य से भावित संगीतमय ध्वनि उसे अभिव्यक्ति की पूर्णता प्रदान करती है।²

हब्सन के अनुसार गीतिकाव्य में अनुभूति की सघनता और औचित्य अपेक्षित हैं। भाव और भाषा का सामंजस्य उसकी विशेषता है। विशुद्ध गीति किसी एक ही चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति करती है। अतः संक्षिप्तता उसका स्वभाव है। उसके कलेवर की लघुता घनीभूत भाव की सान्द्रता ही व्यक्त करती है तथा कला का चमत्कार उसकी हीनता का ही द्योतक होता है।³

पाश्चात्य गीतिसाहित्य की इन विशेषताओं के आधार पर ही यूफेम ने कहा कि गीतिकाव्य के विकास-क्रम में उत्तरोत्तर अनेक तत्त्वों का समावेश हुआ। आत्म-परकता एवं अन्तरवलोकन को बड़ा महत्त्व दिया गया। वास्तव में आत्माभिव्यञ्जन उसका प्रमुख तत्त्व प्रतिष्ठित हो चुका है और लम्बी गीतियों में भी भावान्विति को

1. Upham. Do.

2. The Lyric has the function of revealing, in terms of pure art, the secret of the inner life.
(Ency. Br., Vol. 14, Lyric)

3. a lyric, to the good of its kind, must satisfy us that it embodies a worthy feeling, it must impress us by convincing sincerity of its utterance, while its language and imagery must propriety, or the harmony which in all is required, between the subject and its medium. It would also be found that pure lyric, having for its purpose the expression of some single mood or feeling commonly gains much in emotional power by brevity and condensation, and that over elaboration is almost certain to entail loss in effectiveness.

(Introduction to the study of Literature, pp. 126—117).

बनाये रखा गया है ।^१

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि :—

१—पाश्चात्य विद्वानों ने आत्माभिव्यक्ति (वैयक्तिक अनुभूति) को गीति का प्रमुख तत्त्व माना है ।

२—गीति काव्य की अन्य विशेषताएँ हैं—

(अ) भाव-सान्द्रता ।

(आ) भावान्विति ।

(इ) सक्षिप्तता ।

(ई) सहज अन्तःप्रेरणा ।

(उ) सरल और स्वाभाविक अभिव्यक्ति ।

३—भारतीय मान्यता में आत्माभिव्यक्ति पर कोई विशेष बल नहीं दिया गया है । गीति की अन्य विशेषताएँ संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक रूप से रसमय मुक्तकों और लघुकलेवर खण्डकाव्यादि रचनाओं में मिल जाती हैं ।

समीक्षा और दोनों मतों का समन्वय

वैयक्तिक अनुभूति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर पाश्चात्य विद्वानों ने गीति को एक प्रकार से कवि की व्यक्तिगत सम्पत्ति ही बना दिया है । अलफ्रेड यूफेम का कथन है कि “वास्तव में गीति एक ऐसी वैयक्तिक वस्तु है कि प्रायः जन-साधारण के लिये न तो वह सहजगम्य ही है और न ही रुचिकर ।”^१ पश्चिम में इस वैयक्तिकतावाद के महत्त्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् १९१० में हडसन की “साहित्य के अध्ययन की भूमिका के, (An Introduction to the study of Literature) जिसमें इस वाद के प्रति उदासीनता बरती गई थी, प्रकाशित होने पर बड़ी टीका-टिप्पणी हुई जिसके फलस्वरूप दूसरे संस्करण में (सन् १९१५ में) उसे इस विषय पर एक परिशिष्ट जोड़कर अपनी स्थिति स्पष्ट कर देनी पड़ी । फिर भी सच्चे आलोचक के नाते उसने स्वीकार किया कि यद्यपि ‘निरिकल’ काव्य का सार वैयक्तिकता है तथापि यह भी याद रखना चाहिये कि संसार के महान् गीतिकाव्यों में से अधिकांश का साहित्य में स्थान इस कारण है कि उसमें व्यक्ति अथवा विशेष के स्थान में सामान्य मानवमात्र का प्रतिबिम्बन हुआ है । यही कारण है कि प्रत्येक पाठक उनमें स्वास्वादनयोग्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का दर्शन करता है । ऐसे स्थलों में हमें स्वयं अपने आप को कवि के स्थान में नहीं

1. In the process of evolution several things have happened. The subjective, introspective element has been greatly intensified.....subjectivity, indeed has become the chief lyric-characteristic. Imagination has at times made overfree with lyric verse.....unity of impression has been maintained, even in longer and more complex lyric-forms, such as ode.

(Typical Forms of Eng. Literature pp. 39)

2. The lyric, of course, is a peculiarly personal and intimate thing, often so much so as to be obscure and uninteresting to the general public.

(Typical Forms of Eng. Lit., pp. 74-75)

रखना पड़ता क्योंकि वह पहले ही हमारी स्थिति में पड़ चुका होता है। इसके अतिरिक्त बहुत सा गीति-साहित्य ऐसा है जो वैयक्तिक विशेषता की अपेक्षा जातीय विशेषताओं से ही अधिक युक्त है। साहित्य के उद्गम सम्बन्धी शोध ने स्पष्ट कर दिया है कि काव्य का प्रादुर्भाव समाज की अनुभूतियों को व्यक्त करने की चेष्टा के फलस्वरूप हुआ न कि व्यक्ति के भावों को व्यक्त करने में।^१

पाश्चात्य विद्वानों की देखा-देखी आधुनिक भारतीय आलोचकों ने भी आत्मानुभूति को ही अधिक प्रथम दिया। संस्कृत के विद्वान् इस विषय पर मौन है (विकासक्रम की दृष्टि से संस्कृत-गीति साहित्य का अध्ययन अभी तक हुआ भी नहीं) किन्तु हिन्दी के आलोचकों ने गीतिकाव्य की जो परिभाषाएँ दी हैं वे भारतीय परम्परा के मेल में उतनी नहीं हैं जितनी पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित। कुछ उदाहरण लीजिए।

“गीतिकाव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और बाह्य जगत् को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है। आत्माभि-व्यञ्जन सम्बन्धी कविता गीतिकाव्य में भी छोटे-छोटे गेय पदों में मधुर भावापन्न, आत्मनिवेदन से युक्त स्वाभाविक ही जान पड़ती है।कवि उसमें अपने अन्तर्तम को स्पष्टतया द्रष्टव्य कर देता है। वह अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होकर उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति कर देता है।”^२

“साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय है।”^३

“कविता की मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति है और वही जब स्वाभाविक गतिमय और गेयस्वरलहरी में प्रकट होती है तो ‘गीति’ हो जाती है। गीति को हम दो रूपों में देख सकते हैं—एक शुद्ध गीति और दूसरी प्रगीत मुक्तक। शुद्ध गीति में स्वानुभूति निरूपण करने वाले गीत है। जिनमें प्रायः प्रथम या द्वितीय पंक्ति टेक के रूप में पद पूरा होने पर दुहराई जाती है और प्रगीत मुक्तक के अन्दर वे अन्य छन्द हैं जिन

1. Though the essence of lyrical poetry is personality, it must yet be remembered that the majority of the world's great lyrics owe their place in literature very largely to the fact that they embody what is typically human rather than what is merely individual and particular, and thus every reader finds in them the expression of experiences and feelings in which he himself is fully able to share. In such cases we do not have to put ourselves in poet's place because he has already put himself into ours. Moreover there is much lyrical poetry which is communal rather than personal in character. Investigations into the beginnings of literature have shown that poetry originated in the desire to give out word form to the feelings not of the individual but of the class or group.

(An Introduction to the study of Lit., pp. 127)

२. आचार्य श्यामसुन्दरदास । [हिन्दी गीतिकाव्य में श्री कोमप्रकाश अग्रवाल द्वारा उद्धृत]

३. महादेवी वर्मा । [वही उद्धृत]

में स्वानुभूति का तीव्र प्रकाशन संगीतात्मक शब्दों में होता है। वे ललित स्वर के साथ पढ़े जा सकते हैं, शास्त्रीय पद्धति पर 'सेट' करके चाहे गाए न जा सकें।^१

'गेयत्व और सधन आत्मानुभूति जिस कविता में एक साथ पाई जाती है उन्हीको गीतिकाव्य मानना चाहिए।'^२

"गीतिकाव्य का जो स्वानुभूतिक तत्त्व उसमें विद्यमान रहता है वही उसे कविता का रूप देता है।"^३

आत्मानुभूति अथवा आत्माभिव्यक्ति से हमारा (संस्कृत-काव्य-शास्त्र का) कोई विरोध नहीं। विरोध इस शब्द की उस व्याख्या से है जिसने इसे संकीर्ण बना दिया है। प्रश्न यह है कि क्या कवि के वैयक्तिक जीवन में घटित घटनाओं और अनुभवों ने जिस भावना को उसके हृदय में जागरित किया उसी को हम कवि की अनुभूति कह सकते हैं? (जैसा कि उक्त उद्धरणों से प्रकट है) अथवा तदितर घटनाओं और दृश्यों के सन्निकर्ष से उसके अन्तःकरण में उद्बुद्ध भावना को भी? हमारे विचार से तो दोनों ही अनुभूतियाँ कवि की हैं। ये एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। फिर यह आत्मानुभूति तो कवितामात्र के मूल में विद्यमान रहती है। गीति से ही उसका विशेष सम्बन्ध क्यों? और यह आती कहाँ से है? बाह्य जगत् के सन्निकर्ष में ही नहीं। अल्फ्रेड यूकेम का कथन है कि गीतिकाव्य के मूल में प्रायः आत्मनिष्ठता और वस्तुपरकता का सम्मिश्रण कार्य करता है।^४ गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का कथन है कि "यह बाह्य जगत् जब हमारे चेतन जगत् में प्रविष्ट होता है तो एकदम कुछ और ही हो जाता है। यद्यपि इसका रूप, रंग, ध्वनि सब ज्यों के त्यों रहते हैं तथापि वे हमारे सवेदन, भय, विस्मय, हर्ष-विषाद आदि से रञ्जित हो जाता है और इस प्रकार यह जगत् हमारे भावों के अनेक गुणों से अनुप्राणित होकर हमारा अपना बन जाता है।"^५

बाह्य जगत् के साथ तदाकार-परिणति कवि की अनुभूति का अवलम्ब है। कुछ रूप रङ्ग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिये हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार जमा लेती हैं कि उसका जान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी

१. डॉ० भगवन्ध मिश्र, साहित्य-परीक्षण में संगृहीत एक लेख में, पृष्ठ ५८-५९

२. डॉ० भगवन्ध मिश्र लखनऊ से प्रकाशित 'किजलक' [२००७] में प्रकाशित 'हिन्दी गीतिकाव्य का विकास' शीर्षक लेख, पृष्ठ ६३.

३. राजस्थाना, (मार्च १९४८) 'डिगल गाती की सारणी' शीर्षक लेख।

४. More frequently still, the lyric impetus is probably a combination of objective and subjective. (Typical Forms of Eng. Lit., pp. 74)

५. This world outside us, when it enters into our consciousness, becomes quite another kind of world. Though its form, colour, sounds and the rest remain as they are, they become tinged with our approval, our wonder and fear, our pleasure and pain, and thus variegated with the manifold qualities of our feelings, this world is wrought into one that is intimately our own.

(Vishwa Bharati, Quarterly, May 1935)

अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।¹ शैली ने भी अपने 'स्व' (प्रकृति) को त्याग कर विचार, वस्तु अथवा प्राणी में जो सुन्दर है और हमारा नहीं है, उसके साथ तादात्म्य करने की बात कही।² श्री एलाचन्द्र जोशी का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि मनुष्य विश्व के अनेक रूपों में प्रतिपल प्रकाशित अव्यक्त "चेतना से प्रेरित होकर सृष्टि के संगीत को अपनी भाषा में व्यक्त करना चाहता है।"³ इसका अर्थ यह हुआ कि वैयक्तिक अनुभूति समष्टिगत संगीत की अभिव्यक्ति का निमित्तमात्र है। हडसन का कथन कि "जब साधारण भाव गम्भीरता के साथ उद्रेक को प्राप्त होते हैं और मनुष्य अपने 'स्व' तथा वैयक्तिक सम्बन्धों से ऊपर उठ जाते हैं तो काव्य में सार्वजनीन तत्त्व विशेष रूप से प्रकट होते हैं।"⁴ अंग्रेजी साहित्य का घोर व्यक्तिवादी कवि बायरन इस का प्रत्यक्ष उदाहरण है जिसने फ्रांस की राज्यक्रान्ति के युग में अपनी सार्वजनीन भावों से भरी हुई रचनाओं से यूरोप में एक तहलका मचा दिया था।⁵ तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक अनुभूति को ही मौलिक आधार मान कर गीतिकाव्य को अलग काव्यविधा मानना न तो युक्तिसंगत ही है और न वैज्ञानिक ही। ब्रिटेन के विश्वकोष यह भी लिखा है कि कदाचित् जोफॉय प्रथम काव्यशास्त्री था जिसने सर्वथा स्पष्ट देखा था कि गीति स्वयं कविता-मात्र का ही दूसरा नाम है जिसे यह सिद्ध होता है कि लिरिकल कविता में कविता के सारे प्राण का—व्यक्तिगत तथा भावगत अण का—अन्तर्भाव है। इसलिये आउम्बरी समालोचनाकृत काव्यविभाजन कविता-तत्त्व के विवेचन के लिये किसी काम का नहीं। हम वर्णनात्मक काव्य को एक परिष्कृत ग का काव्य मानते हैं, नाटक को भी मानते हैं। इन दोनों में ही जब व्यक्तिगत भाव प्रबल हो जाता है तब वे भी गीतिकल्प हो उठते हैं, किन्तु शुद्ध नाटक और शुद्ध प्रबन्ध के अतिरिक्त प्रायः सब कविता लिरिकल होती है।"⁶ "इससे स्पष्ट है कि गीतिकाव्य केवल वही कविता नहीं है जो

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ २२४-२५.

2. A going out of our own nature and an identification of ourselves with the beautiful which exists in thought, action or person, not our own. (*In defence of Poetry*).

3. कला का उद्गम शीर्षक लेख, साहित्य सुषमा, पृष्ठ २६.

4. When general feelings are deeply stirred, and men are lifted out of themselves and the concerns of their private lot, the concerns of their private lots, the communal element in poetry becomes specially conspicuous.

(*An Introduction to the study of Literature*)

5. *French Revolution and English Literature* by Dowdon.

6. Jouffry was perhaps the first aesthete to see quite clearly that lyrical poetry is, really, nothing more than another name for poetry itself, that it includes all the personal and enthusiastic part of what lives and breathes in the art of verse, so that the divisions of pedantic criticism are of no real avail to us in its consideration. We recognise a narrative a classical poetry; we recognise drama, in both of these when the individual inspiration is strong, there is much that trembles on the verge of the lyrical. But outside what is pure epic and pure drama, all or almost all is lyrical (*Encyc. Brit.* 14th Vol., pp 523).

कवि की अहंबुद्धिद्योतक अथवा आत्मानुभूतिव्यञ्जक हो। कविताभाव में सबके भाव का अन्तर्भाव है, चाहे वह कवि का अपना हो अथवा राम कृष्ण आदि काव्यगत व्यक्तियों का।¹ अतएव "यह समझना भ्रम है कि कोई अनुभूति इस लिये कम वैयक्तिक है कि उसका सम्बन्ध किसी ऐसी घटना से है जो कवि के साथ न घटकर किसी अन्य व्यक्ति के साथ घटी है और कवि ने उसका केवल वर्णन कर दिया है।"²

तात्पर्य यह है कि कोई भी रचना विषय और विषयी दोनों की प्रेरणा से अस्तित्व में आ सकती है (गीतिकाव्य भी इसका प्रवाद नहीं है) और प्रत्येक अनुभूति, जिससे प्रेरित होकर कवि काव्यसर्जना में प्रवृत्त होता है, चाहे वह उसे बाह्य जगत् को अन्तर्जगत् में ले जाकर देखने से प्राप्त हुई हो या अन्तर्जगत् को बाह्य जगत् में लीन कर देने पर मिली हो, उसकी अपनी अनुभूति है और उसकी होकर भी सब की है। टीगोर ने इसको 'विश्वआत्मा' (Universal self) अथवा व्यापक व्यक्तित्व (large individuality) कहा है।³ कीट्स इसे नो सेल्फ (No self) कहते हैं⁴ जो भारतीय 'साधारणीकरण' से भिन्न कुछ नहीं है। टी० एम० इलियट के शब्दों में यह कवि का आत्म वलिदान (सेल्फ सैकरीफाइस) है।⁵ अनुभूति की पूर्णता भी इसी व्यापकता में है। इसी को दृष्टि में रखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की आलोचना करते हुए कहा है कि "तुलसी की स्वानुभूति ऐसी नहीं जो एक दम सब से ग्यारी हो।" गीति के सम्बन्ध में जब वैयक्तिक अनुभूति अथवा आत्माभिव्यञ्जन की बात कही जाये तो उसका अर्थ कवि की यही व्यापक अनुभूति और आत्मा मानना चाहिये। अन्य किसी संकुचित अर्थ को स्वीकार करना अनुचित और अज्ञानिक है। अतः गीति एक सार्वभौम अभिव्यक्ति है जो कवि के आत्म-निवेदन अथवा विषय की गहन भावात्मक अनुभूति से अनुप्राणित होती है। आत्म-निवेदन में विषय और विषयी की अभिन्नता दीख पड़ती है जिसकी पृष्ठ भूमि यह जगत् ही है। जहाँ कवि अपनी वासना, भावना आदि की अभिव्यक्ति करना चाहता है वहाँ सामाजिक, वैयक्तिक, नैतिक आदि कारणों से अपने आप को गुप्त भी रखना चाहता है। आत्माभिव्यक्ति की सफलता अपने आपको प्रच्छन्न रखने में ही है क्योंकि यदि आत्माभिव्यक्ति के बिना कला अस्तित्व में ही नहीं आती तो व्यक्तित्व के अधिक प्रक्षेप (projection) के कारण उसका ह्रास भी हो जाता है। अतः व्यक्तित्व का सन्तुलित प्रक्षेप ही कला की रक्षा के लिये अभीष्ट है। गीतिकाव्य की आत्मनिष्ठता का अर्थ यही है कि उसमें वस्तु गौण रहती है और अनुभूति प्रमुख।

1. डा० सिद्धेश्वर वर्मा, हिन्दी गीत गोविन्द की भूमिका, पृष्ठ ८.

2. It is fallacy to suppose that some experience is the less personal because it is concerned with an event happening to some one else.

(John Drink water, *The Lyric*, pp.)

3. साहित्यर पथे, बं० स० ३४२, pp. १६८—१६९.

4. Keat's letter to Wood House, 27 Oct. 1817.

5. Tradition and Individual Talent, (1932).

6. तुलसीदास पृष्ठ, ८५.

प्रत्येक कवि अपनी रचि के अनुकूल आत्माभिव्यक्ति का माध्यम चुनता है नाटककार यह कार्य पात्रों की सृष्टि द्वारा करता है। प्रत्येक नाटक में एक-प्राथ पात्र ऐसा अवश्य होता है जो कवि के ही स्वर को दुहराता है। कालिदास के कई पात्रों में उसकी सरल, भावुक, उदार और आदर्श-प्रिय प्रकृति की झलक स्पष्ट रूप से मिलती है। हिन्दी के प्रमुख नाटककार प्रसाद के पात्र उनकी विचारधारा के मूर्त प्रतीक हैं और बर्ताई शा की बुद्धिवादिता उनके पात्रों में स्वयं बोलती है। महा-काव्य में भी कवि की चेतना परोक्ष रूप में निहित रहती है। अतः जब गीतिकाव्य के विषय में आत्माभिव्यक्ति की बात कही जाती है तो उसका एक विशिष्ट अर्थ होता है जिसे हम 'अनुभूति का आवेशमय अभिव्यक्ति' कह सकते हैं। यदि कवि अपनी रचना का लक्ष्य स्वयं ही बन जायेगा तो वह पाठक के साथ सहज सम्पर्क बनाये नहीं रह सकता। डा० रामखेलावन पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि "व्यक्ति को सामाजिक प्रतिवेश से हटा कर देखने का अर्थ कृत्रिम वातावरण में उसे रख कर देखना है।" अतः सामान्य रूप से कविता की, तथा विशेष रूप से गीति की, अनुभूति कॉमन (विश्वजनीन) होती है। कवि जहाँ आत्माभिव्यक्ति के लिये लालायित रहता है वहाँ वह पाठक के मनोवेग को भी जगाना चाहता है। यदि वह अपनी ही गाथा गाना चला जाये और पाठक का हृदय इसका आस्वादन न कर सके तो उसकी कला का करुण अवमान ही समझिए। इसलिये वह 'अपवीनी' कहता हुआ भी अन्य के मन की बात कहता है और दोनों का समन्वय ही कला का कलित रूप प्रस्तुत करता है। कवि का व्यक्तित्व उसके जीवन से सम्बद्ध घटनाओं में निहित नहीं होता अपितु उसके मानसिक घात-प्रतिघातों में रहता है। अतः उसके व्यक्तित्व और आत्मनिष्ठता का अर्थ यह नहीं है कि वह आत्म-चरित में सम्बद्ध घटनाओं का यथावत् वर्णन करता चला जाये। वह कल्पना के माध्यम में आत्मतत्त्व का परिष्कार कर अपने अनुभूत भावों को सहृदय की मनोभूमि में उतारने में सफल हो सकता है। अनगव गीतिकाव्य में बाह्य घटनाओं की अपेक्षा मानसिक दशा के चित्रण का ही महत्त्व अधिक है क्योंकि अनुभूति के तीव्रतम क्षणों को कला के पाश में बाँध रखना ही उस का चरम उद्देश्य है। अनुभूति के लिये भी किसी वस्तु अथवा घटना का आश्रय तो अपेक्षित है ही। "कला वास्तव में न तो वस्तुगत हो सकती है और न आत्मगत बल्कि दोनों के सम्यक् सन्तुलन में ही कला की परिणति होती है," पर यह आवश्यक नहीं कि वह वस्तु कवि के ही जीवन से सम्बद्ध हो और उसकी अनुभूति इस अर्थ में अपनी हो। डा० रामखेलावन पाण्डेय ने स्पष्ट कहा है कि अनुभूति की एकता (अखण्डता) के कारण किसी की अनुभूति न्यायी हो ही नहीं सकती।^१ अतः इस कृत्रिम आधार पर काव्य का वर्गीकरण उचित प्रतीत नहीं होता। संस्कृत के आचार्यों ने ऐसा किया भी नहीं है और जोफ्राय, हडसन आदि पाश्चात्य आलोचकों का दृष्टिकोण भी यही है। जान ड्रिड्क्वाटर का कथन है कि कविता भावों के

१. गीतिकाव्य, पृष्ठ ८१.

२. गीतिकाव्य पृष्ठ ८४.

सघनतम व्यापारों का परिणाम होती है; काव्य में भावों की अभिव्यक्ति, लय के साथ हुषा करती है तथा भावाभिव्यक्ति-समर्थ शब्दों का कौशलपूर्ण चयन विषय-वस्तु के महत्त्व का परिचायक होता है। इन विशेषताओं से सम्पन्न कला—बैस्ट वर्ड इन द बैस्ट ऑर्डर—को ही हम काव्य की संज्ञा देते हैं। काव्य का वर्गीकरण असंभव है किन्तु काव्य की (मूल रूप में) अभिव्यक्ति प्रायः लघु रचनाओं में ही जिन्हें हम लिरिक कहते हैं, पायी जाती है। इसलिये हम कह सकते हैं कि लिरिक की विशेषता उसके विषुद्ध कवित्व-शक्ति-प्रसूत होने में है और लिरिक तथा काव्य समानार्थक शब्द हैं।¹

अतः उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीतिकाव्य में कवि की सान्द्र भावानुभूति की अभिव्यक्ति होती है, वस्तु का स्थान अत्यन्त गौण (केवल भाव के आधार रूप में) होता है तथा यह आवश्यक नहीं कि भाव को जागरित करने वाली घटना कवि के जीवन से ही सम्बद्ध हो।

गीतिकाव्य के मूल तत्त्व

भावमयता—आनन्दवर्धन ने वाल्मीकि का अभिनन्दन करते हुए कहा है कि ऋञ्चद्वन्द्वद्वियोगोत्थः शोकः श्लोकस्वभागतः। स्वयं रामायण के प्रारम्भ में भी ऐसा ही कहा गया है और महाकवि कालिदास ने भी 'श्लोकस्वभावापन्न यस्य शोकः' कह कर इसका उल्लेख किया है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध गीतिकार शैली का मत है कि 'हमारे मधुरतम गीत करुणतम वस्तुओं की कहानी कहते हैं' और हिन्दी के लब्ध-प्रसिद्ध कवि पन्त ने गाया है—

वियोगी होगा पहला कवि ब्रह्म से निकला होगा गान ।

निकल कर आलों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान ॥

देश, काल और भाषा की दृष्टि से महान् अन्तर होते हुए भी इन तीनों उक्तियों में एक समान तत्त्व की ओर संकेत किया गया है और वह है करुणभाव, जिस संस्कृत के कवियों ने कविता के शैली में गीत के और पन्त ने कविता और गीत दोनों के प्रादुर्भाव का मूल कारण माना है। शोक कदाचित् मन को अभिभूत करने वाली वृत्तियों में सब से अधिक प्रबल है इसीलिए भवभूति तो 'एको रसः करुण एव' का दावा भी करते हैं। शोक की जिस ध्रुवमयता का उक्त कथनों में उल्लेख

1. We find that poetry is the result of the intensest emotional activity attainable by man focussing itself upon some manifestation of life, and experiencing that manifestation completely; that the emotion of poetry expresses itself in rhythm and that the significance of the subject-matter is realised by intellectual choice of perfect word. We recognise, in the finished art, which is the result of these conditions,—The best word in the best order—poetry; and to put this essential poetry into different classes is impossible. But since it is most commonly found by itself in short poems which we call lyric, we may say that the characteristic of the lyric is the product of the pure poetic energy unassociated with other energies, and that lyric and poetry are synonymous terms. (The Lyric, pp. 63—64).

किया गया है वह वास्तव में उपलक्षणमात्र है। वस्तु-स्थित यह है कि जब किसी भी कोमलभाव की अनुभूति पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो गीत स्वतः ही फूट निकलता है। यद्यपि काव्य के किसी भी रूप का अस्तित्व भाव के ही आधार पर टिक सकता है। महाकाव्य हो या खण्डकाव्य; नाटक हो या गीति; सब के मूल में भाव की मामिकता अनिवार्य रूप से अभीष्ट है किन्तु गीति के विषय में भावाभिव्यक्ति और भी अधिक अपेक्षित है क्योंकि गीतिकार का क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यन्त संकुचित होने के कारण प्रभाव की सृष्टि के लिये उसे मूलतत्त्व (भाव) का अधिकाधिक आश्रय लेना पड़ता है। उसी के द्वारा वह अपने पाठकों की अनुभूति को तीव्र कर सकता है।

वस्तुतः गीति की आत्मा भावातिरेक ही है। कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से विषय अथवा वस्तु को भावात्मक बना देता है। जिस प्रकार सांसारिक वस्तुएँ स्वयं जीवन का साध्य नहीं साधन है उसी प्रकार गीतिकाव्य में भी वस्तु अथवा विषय अनुभूति का साधन मात्र बन जाता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि कवि अनुभूति से वस्तु की ओर जाता है अथवा वस्तु से अनुभूति की ओर क्योंकि जहाँ अनुभूति के रंग में वस्तु का रेंगा जाना दीख पड़ता है वहाँ वस्तु द्वारा अनुभूति की तीव्रता भी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु इतनी बात तो अवश्य है कि अनुभूति की चरमावस्था में वस्तु का अपना महत्त्व कुछ नहीं रह जाता। वह गौण होकर अनुभूति के ही अनुरूप कार्य करने लगती है। यही कारण है कि अनुभूति के अनुसार एक ही वस्तु से विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ हुआ करती हैं। संयोग की अवस्था में शीतलता प्रदान करने वाले चन्द्र और चन्दन वियोग अवस्था में अग्नि से दाहक जान पड़ते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कवि की अन्तर्वृत्ति वस्तु अथवा विषय के साथ स्वानुरूपता स्थापित कर लेती है और विषय तथा विषयी का भेद तिरोहित हो जाता है। गीति-काव्य की मामिकता का रहस्य यही तादात्म्य स्थिति है।

मनोवैज्ञानिक आधार—

गीति के भावमय होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसमें बुद्धितत्त्व-पदार्थ नियन्त्रण शक्ति—का हस्तक्षेप बिल्कुल ही नहीं होता। जब तक बुद्धि का समुचित नियन्त्रण प्राप्त नहीं होता तब तक भावावेश काव्य के रूप में ढाला ही नहीं जा सकता। यह मत कि “जब बुद्धि भाव की अपेक्षा गौण पड़ जाती है तो अभिव्यक्ति का उचित साधन काव्य होता है और जब भाव बुद्धि से गौण रह जाता है तो गद्य” स्थूल रूप से सत्य है। जॉन बेली ने केवल भाव पर आश्रित काव्य को हीन वस्तु कहा है और जान ड्रिड्जवाटर के अनुसार तो केवल भाव के आधार पर कविता का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता। काव्य में बुद्धितत्त्व का समावेश भी अनजाने ही

1. It has been said by a living writer that when reason is subsidiary to emotion verse is the right means of expression, and, when emotion to reason, prose.’ This is roughly true, though the poetry of mere emotion is poor stuff (John Baillie’s essay on Milton).

हो जाता है और दूषित काव्य में कवि का भाव और बौद्धिक तत्त्व दोनों ही कवित्व शक्ति के मानदण्ड से नीचे रह जाते हैं।¹ यूफेम ने भी भावानुभूति तथा उसके द्वारा तत्काल ही मस्तिष्क में उद्बुद्ध विचार के योग से गीति का प्रादुर्भाव माना है।²

गीतिकाव्य का सम्बन्ध, जैसा कि कहा जा चुका है, कवि की गम्भीर रागात्मक अनुभूति से है, किन्तु अनुभूति के चरमोत्कर्ष की अवस्था में अभिव्यक्ति सम्भव नहीं क्योंकि उस समय मानसिक स्थिति ऐसी होती है कि किसी अन्य प्रवृत्ति के लिये अवकाश ही नहीं रह जाता। अंग्रेजी की कहावत कि 'जब हृदय भरा हुआ होता है तो बाणी मूक हो जाती है'³ इसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित है। तात्पर्य यह है कि कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये (जिसमें गीतिकाव्य भी सम्मिलित है) अनुभूति के प्राधान्य की नितान्त आवश्यकता होते हुए भी चिन्तन भी—जिसे संस्कृत के आचार्यों ने चर्वण संज्ञा दी है—आवश्यक है। सत्य तो यह है कि अनुभूति, इच्छा शक्ति और बोधवृत्ति आदि मानसिक शक्तियों का रूप जल-वीचि सदृश मिश्रित एवं अभिन्न है। व्यावहारिक दृष्टि से इनमें भेद भले ही मान लिया जाये किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इन्हें विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। गीतिकाव्य में अनुभूति प्रधान रहती है तथा इच्छा शक्ति एवं बोधवृत्ति उसके अङ्ग रूप में आती हैं; रागात्मक वृत्ति पर बोधवृत्ति का शासन नहीं रहता पर वह साधन के रूप में साथ अवश्य रहती है। बोधवृत्ति रागात्मक वृत्ति के निकास (अभिव्यक्ति) में सहायक तो रहती है पर न तो वह रागात्मक वृत्ति को जन्म ही दे सकती है और न ही उसमें तीव्रता ला सकती है। प्रेम एक रागात्मक वृत्ति है जिसकी उद्बोध-अवस्था में प्रेमी अपने प्रिय के लिये विचारपूर्वक कल्याण-कामनाएँ कर सकता है और क्रियात्मक रूप से उसके हित का सम्पादन भी कर सकता है किन्तु सोच-विचार करने के बाद कोई किसी से प्रेम करता नहीं देखा गया। सारांश यह है कि जब भावना का उभार होता है तो बोधवृत्ति गौण पड़ जाती है और उसके निकास में सहायक बनती है। गीतिकाव्य में यही सब कुछ तो होता है। भावना और कर्तव्य के द्वन्द्व की बात भी जीवन तथा साहित्य में बहुत कुछ देखी सुनी जाती है। यह संघर्ष रागात्मक वृत्ति तथा बोधवृत्ति का स्तर समान होने पर होता है। जब बोधवृत्ति रागात्मक वृत्ति के समानस्तर पर क्षण भर रह कर पुनः उसमें लीन सी हो जाती है तो तर्क सञ्चारी की आख्या पाती है। बोधवृत्ति की चरम स्थिति शास्त्रीय ज्ञान के रूप में पर्यवसित होती है। आचार और नीतिशास्त्र में बोधवृत्ति का प्राधान्य रहता है और रागात्मक अनुभूति कुण्ठाग्रस्त हो जाती है।

1. I would suggest the poetry of emotion, in this sense does not, and could not exist. Bad verse is merely the evidence of both emotion and intellect that are so to speak, bellow poetic power not of emotion divorced of intellect, which evaporates unrecorded. (*The Lyric*, pp. 22)

2. More frequently still, the lyric impetus is probably a combination of objective and subjective, an experience of sense, impression plus the idea it at once arouses in the mind (*Typical Forms of Eng. lit.*, pp. 74).

3. 'When heart is full, tongue is silent'.

अतः गीतिकाव्य के क्षेत्र में नैतिक अनुभूति अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ पदार्पण नहीं कर सकती, जहाँ कहीं नीति का पुट होता भी है वहाँ वह अनुभूति से अभिभूत ही रहती है। निष्क्रिय बुद्धिवादिता का भार वहन करना अनुभूति के बस की बात नहीं।

चित्त की चञ्चलता तो प्रसिद्ध ही है। अनुभूति की प्रगाढ़ता क्षणिक होती है जिसे गीतिकार अपनी इच्छा-शक्ति और विचार-शक्ति का सहारा पाकर अभिव्यञ्जनीय बना वाणी का रूप देने का प्रयास करता है। अनुभूति के आविर्भाव के मूल में कारण चाहे कुछ—वस्तु, विषय, परिस्थिति, व्यक्ति आदि—रहा हो उसका अनुभूति के उद्बोध से भ्रमण कोई महत्त्व नहीं होता। जब अनुभूति तीव्र होती है तो कवि कारण के प्रति उदासीन हो जाता है किन्तु जब अनुभूति समुचित स्तर से नीचे रह जाती है तो उसके साथ काव्य में विषय भी प्रतिफलित होने लगता है। अर्थात् अनुभूति जिस अनुपात से उथली होती जाती है उसी अनुपात से विषय का प्रतिफलन भी बढ़ता जाता है और जब अनुभूति का आवेश बहुत क्षीण हो जाता है तो विषय उभर कर गीत पर छा जाता है क्योंकि केवल कल्पना रागात्मक आवेश की पूर्ति नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में अन्तर्वृत्ति का गौण रह जाना स्वाभाविक ही है। मनुष्य के अन्तःकरण का मगठन कुछ ऐसे ढंग से हुआ है कि उस पर बाह्य जगत् के व्यापारों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह समानता हाँते हुए भी विभिन्न मनुष्यों के अन्तःकरण की प्रतिक्रिया एक ही प्रकार की और एक ही स्तर की नहीं दीख पड़ती। इतना ही नहीं, एक ही व्यक्ति में एक ही वस्तु द्वारा विविध अन्तर्वृत्तियाँ भी जग जाती हैं। किसी अज्ञात वस्तु को देखकर पहले भय, आश्चर्य और तत्पश्चात् आकर्षण विकर्षण आदि की भावना जगती है। देश और काल की विभिन्नता भी किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रभाव में वैषम्य उत्पन्न कर देती है। अतएव महत्त्व व्यक्ति, विषय और वस्तु का नहीं, तज्जन्य प्रभाव का होता है जिससे अभिभूत कवि का हृदय आत्मभिव्यक्ति के लिये व्यग्र हो उठता है। मन की इस अवस्था को गीति-वृत्ति (Lyric mood) कहा जा सकता है।

अनुभूति की तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था में वह अपने विषुद्ध रूप में रहती है और जैसा कि कहा जा चुका है, बोधवृत्ति के प्रसुप्त रहने के कारण अभिव्यक्त नहीं की जा सकती; (वस्तु, परिस्थिति आदि से जनित हर्ष-विषाद की चरम अनुभूति की अवस्था में एक प्रकार की जड़ता छा जाती है) दूसरी अवस्था में सवेदन के प्रथम आघात से उत्पन्न कुण्ठा में शैथिल्य आने लगता है और प्रसुप्त बोधवृत्ति में स्पन्दन होता है जिससे अभिव्यक्ति की मानसिक एवं शारीरिक चेष्टाएँ प्रकट होने लगती हैं। तीसरी अवस्था में सामाजिक प्रतिक्रिया के विचार-समाज के व्यक्तियों की सहानुभूति अथवा विरोध—का उदय होता है और कवि को (अथवा अनुभूति के आश्रयभूत व्यक्तियों को) अपनी वृत्ति की नैतिकता, तीव्रता आदि का ज्ञान हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि रागात्मिका वृत्ति स्वकारणभूत विषय या वस्तु की प्रकृति की अपेक्षा उसके द्वारा मानसिक जगत् में उद्भूत सक्षोभ को ही व्यक्त करती

है। जिस कवि में अन्तःक्षोभ का आविर्भाव नहीं होता वह वस्तु का ही अधिकाधिक चित्रण करने लगता है जिससे पाठक के हृदय में चित्रात्मकता-प्रसूत प्रसाद की अनुभूति भले ही हो जाये अन्तःसंक्षोभ का संचार नहीं हो सकता। उपर्युक्त क्षणिक अन्तःक्षोभ को शब्दों के रूप में मुखरित करने का प्रयत्न ही गीतिकाव्य का मनोवैज्ञानिक आधार है।

भावान्विति

क्षणिक होने के कारण गीति में अभिव्यक्त अनुभूति एक ही मूल भाव से अनुप्राणित रहती है। गीति का केन्द्रबिन्दु यही मूलभाव होता है जिसका विश्लेषण और विस्तार कवि गीति के कलेवर में करता है। पदात्मक अथवा राग-रागनियों में लिखे हुए गीतों में इस केन्द्र की स्थिति 'टेक' अथवा 'ध्रुवपद' में रहती है संगीत में गायक प्रारम्भिक स्वरालाप द्वारा अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर गीत के मूलभाव की, पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है (आधुनिक सिने-गीतों में यह कार्य विविध वाद्यों से भी पूरा किया जाता है) फिर टेक के रूप में मूल-भाव उपस्थित करता है और तदनन्तर राग विस्तार, स्वर, नान, आलाप आदि साधनों से उसको व्यापक उत्कर्ष तक पहुँचाता है। इसी प्रकार कलात्मक गीतों में भी टेक का भाव गीत के विभिन्न चरणों में विकास पाकर पूर्णता को प्राप्त होता है। गीत गोविन्द के गीत इसी प्रकार के हैं। सङ्गन का अधिकांश गीति साहित्य पदबद्ध न होकर छन्दोबद्ध है जिसमें टेक का कोई प्रदन ही नहीं उठता, फिर भी इन मुक्तकों में प्रायः किसी पद या वाक्य में पूरा भाव समाया रहता है और जिस प्रकार गाने में विभिन्न स्वरों के अनेक बोल बनाता हुआ गायक विविध भाव-भङ्गियों से टेक के भाव को विकसित करता है उसी प्रकार संस्कृत के प्रगीत मुक्तकों का लेखक कल्पना, शब्द-योजना, ध्वनि, अलङ्कार आदि के आधार पर उस भाव का विस्तार करता है। प्रो० चन्द्रशेखर पाण्डेय ने गीति के सम्बन्ध में लिखा है कि "मुख और दुःख की अनुभूति जब तीव्र से तीव्रतम हो जाती है, तब उसी आवेश में उदात्त और अनुदात्त ध्वनियों के सामञ्जस्य से कवि के कण्ठ से जो शब्द निकल पड़ते हैं, वे ही गीत की संज्ञा पा सकते हैं। उसमें कवि की एक ही भावानुभूति कोमल और मधुर शब्दों के संबल से गीति-प्रधान शैली में व्यक्त होती है।" एक ही भावानुभूति से प्रोत-प्रोत होने के कारण गीति में स्वतः पूर्णता एवं स्वयं सवेद्यता का गुण आप से आप समाविष्ट हो जाता है। वस्तु की आधार भूमि पर अङ्कुरित होकर तथा उससे रस ग्रहण करके भी वह भाव के उन्मुक्त वातावरण में विकसित होकर अपने मधुर सौरभ की विकीर्ण करती है। इससे स्पष्ट है कि भाव की अन्विति (Unity of emotion) गीति काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। गीति नामक काव्य भेद न मानकर भी संस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने काव्य में भावान्विति पर बल दिया है। किसी भी पद्य अथवा वाक्यांश में एक से अधिक रसकी प्रमुखता उन्हें स्वीकार नहीं। प्रमुख रस के साथ अन्य रसों का समावेश अङ्गरूप में ही हो सकता है। यदि कोई भाव मुख्य रस के उपकार के स्थान से

करे तो हरसदोष का आधायक समझा जाता है।

सक्षिप्तता

गीति के उपर्युक्त गुणों—भावना की क्षणिकता, एकता, अन्विति आदि—से उसकी सक्षिप्तता का भी पता चलता है। तथापि उसकी सक्षिप्तता के विषय में किसी निश्चित मापदण्ड अथवा परिमाण का निर्धारण नहीं किया जा सकता। उसके आकार का स्वरूप भावना की पूर्णता अपूर्णता पर निर्भर रहता है। कभी-कभी भावना का आवेश इतना क्षणिक होता है कि कवि एक ही पद या पद्य में उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति कर देता है और कभी-कभी वह कई पद्यों में उसे समेट पाता है। प्रायः किसी कथानक पर आधृत गीतियों में अनेक पद्यों का समुष्फन रहता है जिनमें एक ही मुख्य भावना के विभिन्न स्तर अथवा पोषक अवान्तर भावनाओं की पृथक्-पृथक् पद्यों में अभिव्यक्ति होती है। ये पद्य व्यष्टि रूप से अपने आप में पूर्ण और स्वतः सवेद्य भी होते हैं और प्रधान अनुभूति के पोषक होने के कारण समष्टि रूप में परस्पर सम्बद्ध भी होते हैं।

सहज अन्तःपेरणा

गीति कवि की अन्तःपेरणा का सहज समुच्छवसित रूप है। उसमें अस्तु अथवा क्रिय का आधार तो नाममात्र का ही होता है। यो तो, जैसा कि उक्त स्वप्न न कहा है और जिसका उल्लेख हम पोंछे कर आये हैं कविता मात्र ही अन्तःपेरणा होती है किन्तु गीति में यह वित्तपता और भी अधिक मिलती है, यही कारण है कि व्यक्तित्व के प्रतिफलन की सम्भावना भी इसमें अधिक रहती है जिसे पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने गीति का अनिवार्य तत्त्व ही मान लिया है।

गेयता

गेयता गीति काव्य के प्रमुख तत्त्वों में से है। किन्तु गीति की गेयता को शास्त्रीय संगीत के बन्धन में बाँधना उचित नहीं। श्री श्रीगुरुकाश अग्रवाल का कथन है कि “संगीत गीति काव्य की अनिवार्य विशेषता है।” गीति काव्य में काव्य की अपेक्षा संगीत की ही मात्रा अधिक होती है, कारण यह कि गीतिकाव्य का उद्देश्य आत्मकल्याण और परम आनन्द की प्राप्ति करना है और इनका सन्तुष्ट साधन है संगीत।^१ यह कथन अतिजनक है क्योंकि गीतिकाव्य सर्वप्रथम काव्य है बाद में कुछ और। उसका महत्त्व इसलिये नहीं है। यह संगीतमय है अतः इसलिये है कि उसमें काव्यत्व है। संगीत के स्वर अपने स्वतन्त्र स्वर होते हैं और उनका गिरतार सकोच अपने नियमों के अनुसार होता है। अतः काव्य के प्रवाह के साथ-साथ संगीत का तारम्य बँधा नहीं रह सकता। काव्य में संगीत को प्रमुख रूप देने का अर्थ है उसके काव्यत्व का ह्रास और काव्यत्व की रक्षा का अर्थ है संगीत को गौणता प्रदान करना। इसीलिये जॉन ड्रिड्जवाटर ने कहा है कि जब कभी सच्चे काव्य को संगीत के साथ में डाल दिया जाता है जो तो उसका मूल्य घट जाता है और जब कोई कविता गायक

के हाथ पड़ जाती है तो वह कविता नहीं रह जाती।¹ कारण यह है कि काव्य और संगीत दोनों में शब्दों का प्रयोग एक ही ढँग से नहीं होता। संगीत में गायक आलापक द्वारा वातावरण की सृष्टि कर लेता है और शब्दों के उच्चारण को संगीत के अनुसार परिवर्तित कर स्वरों के द्वारा भावाभिव्यक्ति में तीव्रता लाता है। यही कारण है कि किसी गेन की भाषा से सवधा अपरिचित श्रोता भी केवल स्वरों के आरोह-अवरोह से आनन्द प्राप्त कर सकता है किन्तु कविता में शब्दों का प्रयोग दूसरे ही ढँग से होता है। इसीलिये जॉन ड्रिड्जवॉटर का कथन है कि इन दो महान् कलाओं—काव्य तथा संगीत—में सम्बद्ध व्यापारों की चर्चा का कोई अर्थ ही नहीं क्योंकि दोनों की पद्धति और क्षेत्र सर्वथा भिन्न हैं।²

उपर्युक्त कथन से हमारा सम्पन्न केवल इतना ही है कि गीतिकाव्य में शास्त्रीय संगीत का समावेश न तो आवश्यक ही है और न अभीष्ट ही। इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें किसी प्रकार का भी संगीत नहीं हात क्योंकि गीतिकाव्य में सान्द्र-अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है और जैसा कि डारविन् ने लिखा है जब वाणी को किसी सबल भाव का माध्यम बनाया जाता है तो वह संगीतात्मक वैशिष्ट्य की ओर झुक जाती है।³ उसका कथन है कि मनुष्य में संगीत ध्वनि निकालने की श्राव्यता का विकास सवप्रथम प्रणयनिवेदन के साधन के रूप में हुआ और इस प्रकार सर्वप्रबल भावा—प्रम विरोध आदि—के साथ उनका सम्बन्ध हो गया।⁴ अभिव्यक्ति का यह वैशिष्ट्य नाद सौन्दर्य और भावसंगीत कहा जा सकता है जो आधुनिक युग में गीतिकाव्य का आवश्यक अंग समझा जाता है।⁵ कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत का कवि इसके प्रति सदा से ही सजग रहा है।

इन अन्त संगीत के अतिरिक्त छन्द संगीत का उल्लेख भी आवश्यक है। गेय छन्दों के परिधान में गीतिकाव्य का सौन्दर्य और भी खिल उठता है। यद्यपि

1 Whenever a true poem is given a musical setting the strictly poetic quality is destroyed. The musician if he be a good one—finds his own perception and he translates the expression of that perception from the terms of poetry into the terms of music. The result may be and often is of rare beauty and of an artistic significance as great perhaps as that of the poem itself. But in the hands of musicians once a poem has served this purpose it has as poetry no further existence. (*Art and craft of letter page 50*)

2 It is unnecessary to discuss the relative functions of the two great arts wholly different in their methods different in their scope

3 When the Voice is used under any strong emotion it tends to assume through the principle of association a musical character

(*The Expression of the Emotions page 36*)

4 The habit of uttering musical sounds was first developed as a means of courtship in the early progenitors of man and this became associated with the strongest emotions of ardent love rivalry and triumph

(*The Expression of the Emotions page 35*)

5 Today we rather expect good lyric to abound in this verbal melody

(*Upham Typical forms of Eng Lit page 40*)

आधुनिक युग में कवि ने छन्द के बन्धन से भी छुटकारा पाने की चेष्टा की है। वाल्ट व्हिटमैन और उनके अनुयायियों ने मुक्तछन्द कविता का सफलतापूर्वक प्रणयन और प्रचार किया है। यूफेम का कथन है कि गीतिकाव्य में भी मुक्तछन्द शैली का प्रयोग सुन्दरता के साथ किया जा सकता है¹ तथापि छन्द का महत्त्व पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी कुछ कम नहीं माना गया है। श्री लीलाधर गुप्त ने अपने पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त में लिखा है कि लय की उत्पत्ति अन्तर्वेग से है और अन्तर्वेग को उत्तेजित करने की उसमें विशेष क्षमता है, लय हमें हँसा सकती है, लय हमें रुला सकती है, लय हमें आकृष्ट कर सकती है, लय हमें उत्कृष्ट कर सकती है, लय हमारे शरीर में हरकत कर देती है, हम नाचने लगते हैं, हम ताल देने लगते हैं। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द प्रावेक्षण (anticipation) की प्रवृत्ति को उत्तेजित कर शब्दों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोहन निद्रा सी ले आता है और व्यञ्जकता तथा संवेदनशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी ध्वनि और गति से अर्थ का प्रकाशन करता है। यदि अन्तर्वेग अतितीव्र हो तो वह उसकी तीव्रता में सतुलन ला देता है और यदि अन्तर्वेग प्रतिमन्द हो तो उसको उत्कृष्ट कर देता है। छन्द कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है, काव्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति को रिश्म और परिभाषित कर देता है, कल्पना को दीप्त कर ऐसी दृश्यमान एवं श्रोतव्य प्रतिमाएँ (images) प्रदान करता है जिनसे उनके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।² जॉन ड्रिङ्क्वाटर का कथन है कि कविता स्वभाव से ही पद्य का रूप धारण करती है।³

संस्कृत के कवि तो छन्दोहीन कविता की कल्पना भी नहीं कर सके थे। छन्दोहीन पदावली को वे गद्य ही कहते हैं⁴ जो संगीत के क्षेत्र में भले ही ग्राह्य हो पर कविता नहीं कहला सकती। अतः छन्दोमुक्त गीतिकाव्य संस्कृत में मिल ही नहीं सकता। छन्दों की लयात्मक गेयता संस्कृत गीतिकाव्य का विशेष गुण है। डा० एस० एन० दास गुप्ता का कहना है कि संस्कृत कविता की गेयता परिचित कानों पर ऐसा सम्मोहन डालती है कि केवल समुचित ङंग से कविता पाठ ही प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। यूरोप में मैंने जब कुछ पद्यों का पाठ किया तो वे व्यक्ति भी जो संस्कृत से तनिक भी परिचित नहीं थे, संस्कृत पद्यों की मोहक लय से अत्यन्त प्रभावित हुए और अधिकतर श्रोतु-समुदाय संगीत के जादू से सम्मोहित

1. It lends itself well enough to.... even those lyrics in their impulses. It may be done with no little charm. (*The typical forms of Eng. Lit., page 72*)

2. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, पृष्ठ २२८

3. It should here be added that poetry habitually takes the form of verse. (*The Lyric, page 57*)

4. गद्य निगद्यते छन्दोहीनं पदकदम्बकम्, संगीत रत्नाकर, पृष्ठ ३०६।

सा हो गया।¹ स्पष्ट है कि यह संगीत संस्कृत के छन्दों का स्वाभाविक संगीत या शास्त्रीय संगीत नहीं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है कि गीतिकाव्य कहलाने के लिए गीत सभी योग्य हो सकते हैं जब उनमें काव्यरस और काव्यबिम्बना का पूरा-पूरा संचार हो। इस दृष्टि से गीतिकाव्य उन गीतों का नाम है जिनमें काव्यरस तथा काव्यबिम्बना असंदिग्ध हो और जिन्हे सर्वसाधारण वास्तव में गा सकें।²..... कहने की आवश्यकता नहीं कि सर्वसाधारण छन्दः संगीत के अनुसार ही गा सकते हैं। इसी छन्दः संगीत की ओर संकेत करते हुए हिन्दी के आधुनिक गीतिकार सुमित्रानन्दन पन्त ने कहा है, कि जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति में मूछेनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा व्यञ्जना आदि विशेष शब्द शक्तियों तथा विशेष छन्दों के समिश्रण और सामञ्जस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।³ संस्कृत के कवि छन्दों का भावानुसार प्रयोग करने में बड़े सजग रहे हैं। भोज के कविकण्ठाभरण, क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में छन्द के प्रयोग के ढँग पर विचार किया गया है।

भाषा शैली

गीतिकाव्य का कोमल कलेवर भाषा के बोझिल आडम्बर को सहन करने में असमर्थ होता है। अतः भाषा की जटिलता को उसमें प्रोत्साहन नहीं मिलता। गीति में भावना का उमड़ता हुआ प्रवाह रहना है और यही उसकी प्रमुख विशेषता है। शब्दों की कठिनता तथा पदविन्यास की जटिलता एवं अनियमितता इस प्रवाह में व्यवधान बन कर गतिरोध उत्पन्न करती है और पाठक रस ग्रहण से वञ्चित रह जाता है। गीति की भाषा वस्तु और भाव का संकेत प्रत्यक्ष शैली में करती है। शाब्दिक चमत्कार और अर्थगाम्भीर्य के लिए उसमें स्थान नहीं होता। सादगी, सौन्दर्य और जोश उसकी विशेषता है। कम से कम शब्दों में भाव की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति कर हृदय को रसप्लावित कर देना गीति का एक विशेष गुण है। इस लिए गीतिकाव्य में ध्वन्यात्मक भाषा का प्रयोग आवश्यक हो उठता है। गीतिकार सब कुछ कह डालने का प्रयत्न नहीं करता। उसकी दशा बहुत कुछ रत्नाकर की गोपियों की सी होती है जिन्होंने अपने मन की बात—

नकु कही बंननि अनेकु कही नैननि सों ।

बची खुची सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सों ॥

जैसा कि कहा जा चुका है, गीति की अनुभूति क्षणिक होती है। उसमें विचारों का ठोस और स्थिर रूप नहीं होता। अनुभूति की द्रवणशीलता, कल्पना की उन्मुक्त उड़ान को सहन नहीं कर सकती। इसीलिये गीतिकाव्य में कल्पना का संयत

1. पस० पन० दास गुप्ता, सं० सा० के इति० की भूमिका।

2. हिन्दी गीत गोविन्द की भूमिका, पृष्ठ ६।

3. हिन्दी गीत गोविन्द की भूमिका, पृष्ठ ६।

रूप रहता है जो वास्तविकता से दूर नहीं रह सकता। गीति के सुकुमार सुविभक्त और सुगठित कलेवर पर एक प्रकार का नाद-सौन्दर्य अपेक्षित है जो उसकी अन्तरात्मा के अनुसार 'अन्यदेव' प्रतीयमान होता है। भाषा की शिथिलता इसमें अक्षम्य है। प्रबन्ध काव्य में तो कथा के प्रभाव में निस्तेज पंक्तियाँ भी खप जाती हैं और उनको पृष्ठभूमि पर 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' के अनुसार क्षीणतेज पंक्तियों के भी चमकने की संभावना रहती है किन्तु गीति में न तो इतिवृत्तात्मकता ही होती है और न विवरणात्मकता ही। अतः भाषा की समाहार शक्ति का पूर्ण विकास गीति-काव्य में ही देखा जाता है। जिस प्रकार इत्र के विलीन हो जाने पर भी उसकी मादक, मोहक और मधुर सुगन्ध देर तक हृदय को उल्लसित करती रहती है, उसी प्रकार गीतिकाव्य में शब्दों की भ्रूति भावना को उद्दीप्त कर पूर्णता प्रदान करती है। संस्कृत साहित्य में रीति की प्रतिष्ठा का उद्देश्य यही है जिसे किसी-किसी आचार्य ने तो काव्य की आत्मा ही मान लिया। विषय के अनुरूप नाद-सौन्दर्य-समन्वित विशिष्ट शब्दों का चयन ही तो रीति है।

संक्षेप में गीतिकाव्य की आत्मा है मान्द्र अनुभूति तथा कलेवर सहज अभिव्यक्ति। गेय छन्द उसका उपयुक्त परिधान है और नादसौन्दर्य प्रसाधन। इस विवेचन के आधार पर संस्कृत में गीति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—

गौणवस्तु भवेद् गीतिर्भावाभिव्यञ्जनं कवेः।

सधुकलेवरा मेवा संभारसाम्प्रदायः॥



संस्कृत साहित्य में गीति-काव्य के सोपान

*

*

*

वैदिक साहित्य

ऋग्वेद विश्व के पुस्तकालय की सर्वप्रथम पुस्तक है। यों, मिश्र, असीरिया, तूरान और चीन की सम्यता भी बड़ी प्राचीन समझी जाती हैं और उक्त देशों के विद्वान् अपने-अपने देश की सम्यता की प्राचीनता सिद्ध करते हैं किन्तु बिना किसी अनुत्तम के उनकी बात को मान भी लें तो भी भारतीय सम्यता का महत्त्व कम नहीं हो जाता। साहित्य सम्यता के उत्कर्ष का एक विश्वसनीय मानदण्ड है और भारत का प्राचीनतम साहित्य किसी भी देश के पुराने से पुराने साहित्य की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है। स्वयं वेबर ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में कहा है कि भारतीय साहित्य में उक्त देशों के प्राचीन साहित्य से एक मौलिक अन्तर है। मिश्र के साहित्य में शासकों की नामावली और युद्धों के उल्लेख के सिवाय कुछ नहीं है। असीरिया और बेबीलोन के लेख भी ऐसी ही कहानी कहते हैं। प्राचीन चीन का साहित्य भी सम्यता और संस्कृति के विकास के विषय में कोई प्रकाश नहीं डालता किन्तु भारतीय साहित्य का रूप कुछ और ही है। उसमें न तो राजाओं की वंशावली ही है और न युद्धों या अन्य ऐसी घटनाओं का ही विवरण मात्र। इसमें सम्यता और संस्कृति के विकास तथा प्रसार का एक स्पष्ट और सुसंबद्ध चित्र प्राप्त होता जो किसी अन्य साहित्य में नहीं मिलता। वास्तव में ऋग्वेद की प्रौढ़ रचना भावात्मकता, कलात्मकता और इनसे अभिव्यक्त संस्कृति का उदात्त रूप इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि वैदिक साहित्य के प्रणयन से पहले ही साहित्य, सम्यता और संस्कृति के कितने ही स्तर जम चुके थे और समाज कितने ही उत्थान-पतन देख चुका था। संघर्षों की कठोरता ने आर्य जाति की जीवनी शक्ति को अधिक पुष्ट, दृढ़ और सक्षम कर दिया जिससे अनेक कष्टों और कठिनाइयों का सामना करके भी यह जाति विकास पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होने के लिये उपयुक्त शक्ति का संचय करती रही।

इसमें संदेह नहीं कि ऋग्वेद की रचना और संकलन ऐसे समय में हुए होंगे जबकि अनेक युगों का व्यवधान आ जाने के कारण प्राचीन काल के कवियों और आचार्यों के प्रति श्रद्धा और मान्यता की भावना का उद्रेक हो गया होगा। ऋग्वेद की अनेक पंक्तियाँ अन्तःसाक्ष के रूप में प्रमाणस्वरूप उपस्थित की जा सकती

हैं जिनमें तत्कालीन कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रति श्रद्धा प्रकट की है¹, प्राचीनों के साथ नवीन कवियों का उल्लेख किया है² और नवीन ऋचाओं को स्वीकार करने की प्रार्थना की है।³ विष्णुनिन्दन ने अपने इतिहास में ब्रूमफील्ड के कथन का उल्लेख किया है जिसके अनुसार ऋग्वेद में ५००० पंक्तियाँ पुनरुक्त हैं।⁴ इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक युग के समान ही तत्कालीन अनेक कवियों ने प्रचलित पक्ति विशेष को आधार मानकर समस्या पूर्ति के रूप में उन ऋचाओं की रचना की होगी। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद अनेक परम्पराओं का विकसित स्वरूप उपस्थित करता है और उसे काव्य का उद्गम मान लेना असमीचीन न होगा। ऋग्वेद की पूर्ववर्ती रचनाओं में से एक भी अब उपलब्ध नहीं है अतः संसार का सर्वप्रथम काव्य-संग्रह ऋग्वेद को ही मानना पड़ेगा।

साहित्यिक महत्त्व—

विष्णुनिन्दन का कथन है कि जब तक ऋग्वेद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को मान कर न चला जायेगा तब तक कालिदास की प्रौढ़ एवं परिष्कृत रचना, कपिल की दार्शनिक शक्ति, जयदेव की आनन्दमयी रहस्यात्मक प्रवृत्ति और व्यास तथा वाल्मीकि की प्रसाद-गुण-पूर्ण शैली, ये सभी जो स्वयं में इतने महत्त्वपूर्ण हैं, रेगिस्तान में हरे-भरे प्रदेशों (नखलिस्तान) की भाँति बिखरे-बिखरे प्रतीत होंगे। मैकडानल ने भी कहा है कि वैदिक काल के पूर्वार्ध का साहित्य सर्जनात्मक तथा कवित्वमय है।⁵ इसी प्रकार इम्पीरियल गजेटियर में भी वैदिक साहित्य का महत्त्व स्वीकार किया गया है।⁶ निःसन्देह ऋग्वेद में अनेक ऋचाएँ ऐसी हैं जो किसी भी भाषा की उत्कृष्टतम रचना के समकक्ष रखी जा सकती हैं। यद्यपि पूर्वार्ध प्राञ्जल साहित्य की अपेक्षा उनमें अभिव्यक्तिगत अन्तर स्पष्ट दीख पड़ता है तथापि उनकी सहज अनवद्य हृद्यता की उपेक्षा कोई भी रसिक पाठक कर नहीं सकता। इसी प्रकार आगमकालीन प्रौढ़ दार्शनिकता के दर्शन ऋग्वेद में चाहें न हो किन्तु वे मूलतत्त्व अवश्य विद्यमान हैं जिनको नीचे पर भारतीय दर्शन का पूरा भवन खड़ा है।

यह सत्य है कि ऋग्वेद का सकलन उपासना, स्तुति और यज्ञों के लिए हुआ अतः इसमें प्रायः यज्ञपूरक मन्त्रों का ही संग्रह हुआ है तथापि कुछ ऐसे मन्त्रों का भी समावेश हुआ है जो उक्त विषयों से सर्वथा भिन्न विषयों पर आधारित हैं, जिन्हें

1. पुरा देवा अनवणास असन । ७।११।४ त इदेवर्वा सभमाद आसन्नुतावानः कवयः पूर्यासः । ७।७६।४ ।

2. ये च विप्राः, अ० ७।२१।१ ।

3. प्र वा मनमान्युचमे नवानि कृतानि मम जुजुपर्णमानि । अ० ७।६१।६, शुचि नु स्तोमं नवान्तमथ इन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेधाम् । अ० ७।६१।७ ।

4. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, बाल्युम १, अ० १ ।

5. In the former half of vedic age the character of its literature is creative and Practical. (Macdonell, Hist. of Sans. Lit., Page 8)

6. देखिये, पृष्ठ २०६ ।

पाश्चात्य विद्वानों ने 'संक्षुलर' कहा है और हम लौकिक कह सकते हैं। प्रकृति के कतिपय दृश्य ऐसे भी हैं जिनमें देवत्व की प्रतिष्ठा नहीं की गयी है। विष्टरानिदृष्ट के शब्दों में "बहुन मे सूक्त न तो सूर्यदेव को ही अर्पित किये गये हैं, न अग्निदेव को, न द्यौ को, न वायु तथा जल देवों को और न उषा देवी को ही ये सूक्त अर्पित किये गये हैं, किन्तु स्वयं प्रकाशमान सूर्य, रात्रि में गगन में चमकता हुआ चन्द्रमा, वेदी अथवा चूल्हे से उठती हुई अग्नि की लपटे या मेघों से फूटने वाली बिजुल की दीप्ति, दिन का निर्मल और रात्रि का तारों भरा आकाश, गरजता हुआ वायु, मेघों या नदियों में प्रवाहित होने वाला जल, प्रकाशमयी उषा' और शस्यश्यामला विस्तृत पृथ्वी, इन समस्त प्राकृतिक दृश्यों का कवित्वपूर्ण वर्णन किया गया है।¹ ऋग्वेद में काव्य-तत्त्वों का उल्लेख करते हुए प्रो० हिरियन्ना कहते हैं कि प्राचीनतम भारतीय काव्य, जो हमें उपलब्ध है, ऋग्वेद में संगृहीत है। यह प्रसिद्ध है कि इस कृति में धार्मिक गीतों का संकलन हुआ है तथा आधुनिक अव्येता की रूचि के अनुसार इसका महत्त्व ऐतिहासिक है काव्यात्मक नहीं, किन्तु साथ ही साथ यह सोचना ठीक नहीं कि इसमें काव्यात्मक तत्वों का सर्वथा अभाव है। धार्मिक उत्साह सर्वत्र ही वास्तविक कविता का उद्गम रहा है और भारतवर्ष भी इस नियम का अपवाद नहीं है। ऋग्वेद का काव्यात्मक पक्ष भी है तथा कुछ सूक्तों में वस्तुतः उत्कृष्ट कोटि के काव्य-गुणों का समावेश हुआ है।² ऋग्वेद के इन काव्य गुणों का उद्घाटन कर उनमें गीति-तत्त्वों के अन्वेषण का प्रयास यहाँ किया जायेगा।

ऋग्वेद का काव्य प्रकृति का काव्य है। वैदिक ऋषियों के जीवन ने प्रकृति का ही मोहदायिनी मोह में आखे खोली थी, उसी में वह विकसित, पल्लवित और पुष्पित हुआ और अन्त में संसार में युग-युगान्त तक प्रसृत रहने वाले अपने सौरभ को छाड़ कर वह प्रकृति की गोद में ही विलीन भी हो गया। प्रकृति के तनुजन्माओं का धर्म भी प्रकृति के अनिरिक्त और कुछ नहीं था। वही उनकी उपास्य थी, उसी के विविध तत्त्व उनके देवता थे। प्रकृति के साथ मानव का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध कदाचित् ही किसी अन्य युग में रहा हो। ऋषियों ने संमोहनमयी प्रकृति की सुन्दरता को निहारा, निहारा ही नहीं अनुभव भी किया और अनुभव ही नहीं किया उसके अदम्य प्रभाव का मोहक वर्णन भी किया। उस समय तक नर काव्य का उदय तो अवश्य हो चुका था पर प्राधान्य प्रकृति-काव्य का ही था क्योंकि भौतिक कृत्रिमता की लौह-प्राचीर तब तक अपना सिर उठाकर खड़ी नहीं हो पायी थी।

1 हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, बाल्यूम १।

2. The earliest Indian poetry that has come down to us is found in the Rigveda. It is well known that this work consists of sacred songs and that interest to a modern student is historical, not poetical. But at the same time, it would be incorrect to think that the work is devoid of aesthetic merit. Religious fervour everywhere gives rise to poetry and India is not an exception to the rule. The Rigveda has a poetic side also and the poetic quality exhibited in some of the hymns is indeed very high. (*Sanskrit Studies, page 1*)

अतः प्रकृति से मानव का सीधा सम्बन्ध था। उस समय प्रकृति को केवल उद्दीपन के अत्यन्त संकुचित प्रकोष्ठ में बन्दी करने की चेष्टा नहीं की गयी। यही कारण है कि कविता के उस अरुणोदय काल में प्रकृति के इतने सुन्दर चित्र उपस्थित हुए जिनके वर्णन आज भी छाँसों को ही नहीं, मन को भी मुग्ध कर लेते हैं। काल की सतत अविराम गति से उठती उठती हुई धूलि, जिसके नीचे तब से अब तक न जाने कितने साम्राज्य, नगर, प्रासाद दब गये, इनका स्पर्श तक न कर सकी। इनकी सुन्दरता में सत्य निहित है और सत्य में शिव। प्रकृति में जिस देवता की प्रतिष्ठा इन मन्त्र-द्रष्टाओं ने की थी परवर्ती कवि सम्यता-जन्य कृत्रिमता का बहुत कुछ आवरण सामने आ जाने पर भी उसका दर्शन 'बनदेवता' के रूप में करते रहे और उसे अपने नाटकों की नायिका की प्रिय सहचरी बनाते रहे। निःसन्देह यह उसी कोटि की कविता है जिसकी प्रकृति के अव्यवहित सम्पर्क में स्थित समाज में उद्भूत होने और पनपने की आशा की जा सकती है।¹ मन्त्रद्रष्टाओं की भावुकता स्थान स्थान पर फूटी पड़ती है जिसके कारण कमनीय काव्य-कला के स्वतः निदर्शन के रूप में एक नहीं सैकड़ों मन्त्र उपस्थित किये जा सकते हैं। भाव-प्रकाशन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियों के आर्घ्य चक्षुष्यों द्वारा अनुभूत तत्त्वों के नितान्त मरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक हैं। वैदिक ऋषि मनोऽभिलषित भावों को थोड़े से चुने हुए सुबोध शब्दों में सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय-समय पर वह अपने भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति के हेतु अलङ्कारों का विधान करने से भी पराङ्मुख नहीं होता।² वेद के मूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिए, भौतिक सुख-सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गयी है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विकास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हादिक भावनाओं की रहिर अभिव्यञ्जना है।³

प्राकृतिक वर्णनों में सबसे अधिक मनोज एवं सुकुमार कल्पनाएँ उपा के प्रसङ्ग में प्राप्त होती हैं जिनमें शृङ्गार भावना का सूक्ष्म किन्तु मृदुल एवं मधुर स्वरूप भी अनेकत्र द्रष्टव्य है। साथ ही कोमल कान्त पदावली का स्वाभाविक प्रभाव भी लक्षित करने योग्य है—

जायेव पश्य उशती सुवासा उषा हृन्नेव नि रिणीते अस्तः।⁴

इन शब्दों में कवि ने उपा की उपमा शोभनवस्त्रावृत युवती से दी है तथा नारी के कोमल हृदय का स्पर्श कर एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की अभिव्यञ्जना की है।

1. This poetry is such as may be expected to arise in a society which was in intimate communion with nature.

(Prof. Hiriyanna, Sanskrit Studies, page 2)

2. बलदेव उपाध्याय, आलोचना, अङ्क ११, पृष्ठ ५८।

3. वही, पृष्ठ ५६।

4. ऋग्वेद, १।१२४।७।

कौन सुन्दरी अपने प्रियतम के समक्ष हृदय नहीं खोल देती ? सुन्दरतम सज्जा-सम्पन्न रूप से रिझाकर कौन उसे अपना वंशवद नहीं बना लेना चाहती ? यह आभा अपनी मसृणता के कारण ऋग्वेद के ऋषियों को बड़ी पसन्द प्रतीत होती है । दशम मण्डल में एक दूसरा ऋषि व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ कहता है—

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं,

उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तन्व विसले,

जायेव पर्य उशती सुवासाः ॥ १०।७।४

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार इसका अर्थ है—व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति एक ऐसा जीव है जो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता, किन्तु व्याकरण के ज्ञाता के लिये वाणी अपना स्वरूप उसी प्रकार खोल देती है जिस प्रकार शोभन वस्त्रों में सुसज्जित कामिनी अपने पति के समक्ष अपने आपको समर्पित कर देती है । कहने की आवश्यकता नहीं कि उपमा की मार्मिकता के साथ विरोधाभास का चमत्कार और लक्षणा की स्वाभाविक शक्ति वर्ण्यविषय की शुष्कता को सरसता में परिणत कर काव्य का सुन्दर रूप उपस्थित करती है । अस्तु, उषा की सुकुमारता की व्यञ्जना का उत्कर्ष इन आश्चर्यपूर्ण शब्दों से स्पष्ट लक्षित होता है कि कहीं सूर्य की तीव्र किरणें उसे संतप्त न कर दें जिस प्रकार राजा चोर अथवा शत्रु को संतप्त करता है—

नेत् त्वां स्तेनं न यथा रिपुं तपाति सूरौ अचिसा सुजाते अश्वसूते ।^१

रङ्गमञ्च पर थिरकने वाली नर्तकी की तनुयष्टि, जिसका उन्मुक्त सौन्दर्य दर्शकों को मोहित कर लेता है, उपमान रूप में प्रयुक्त होकर उषा की विशद रमणीयता को अपने ही समान साकार बनाती हुई इस पंक्ति में दृग्गोचर होती है—

अधि पेशांसि धपते नृत्तरिवापोणुंते वक्ष उल्लेख वर्जहम् ।^२

अपना वक्ष खोलकर दर्शकों को मोह लेने वाली नर्तकी, ऋषियों को आकृष्ट कर लेने वाली वैसी ही उषा और सहृदयों को लुभाने वाली इस ऋचा में कौन अधिक सुन्दर है यह कहना कठिन है । उषा को विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया है । वह चमचमाते वेश में बड़े गर्व के साथ आती है जैसे उसके कमनीय कलेवर को उसकी माता ने अलंकृत कर दिया हो जिसे अपनी पुत्री के सौन्दर्य पर गर्व है । प्रकाश का आवरण धारण किये हुए वह तरुणी पूर्वं की ओर दिखायी देती है और अपने सौन्दर्य-सम्मोहन से दर्शकों को मोह लेती है । प्राची के पट को खोलकर वह लज्जित

१. ऋ० वे० ५।७।४ ।

२. ऋ० वे० १।४२।४ ।

चरणों से चसती है। गौर वर्ण वाली, सुसज्जित, अपने सौन्दर्य से अभिज्ञ, स्नान करके ऊपर को उठी हुई रमणी की भाँति आकाश-पुत्री उषा अन्धकार को विलीन करती हुई संचार करती हमारे सामने खड़ी हो जाती है। यह आकाश की रमणीय पुत्री मञ्जुलमय वेष धारण कर पतिव्रता स्त्री के समान सामने आने पर लज्जा से मस्तक झुका लेती है। अपने पूजक को कृतार्थ करती हुई यह नित्य यौवना पूर्ववत् इस समय भी प्रकाश को लाई है।¹ वह जलतरङ्गों के समान जाती हुई दीख पड़ती है।² जिस प्रकार एक रूपवती रमणी सभी के आनन्दमय कौतूहल का कारण बनती है उसी प्रकार उषा भी सभी को आनन्द देती हुई आती है।³ यह उषा सम्यक् संचरणशील सूर्य की पत्नी है और अन्धकार को उसी प्रकार समेट लेती है जिस प्रकार कोई तरुणी अपने वस्त्र को लपेट कर रखती है।⁴ देखिए यह किस प्रकार शृङ्गार करके मुस्काती हुई कुमारी के समान सूर्य के पास जा रही है—

कन्धेव तन्वा शश्वानां एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।

संसमयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्विक्षांसि कृण्वे विभाती ॥⁵

वह कमनीय कन्या के समान अत्यन्त सज्जित आकर्षक वेष में अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती है और यह मुस्काती हुई तरुणी उसके समक्ष अपने वक्ष को अनावृत कर देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उषा की सौम्य सुषमा का प्रभाव कवि के हृदय पर अमिट रूप से अङ्कित ही नहीं हुआ अपितु उसकी सरसता से व्यापक होकर छलक भी उठा है और 'पुरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया' के अनुसार कवि उसकी अभिव्यक्ति के लिये आकुल हो उठा है। अभिव्यक्ति को भावानुरूप रूप देने के लिए ही उसने मानवीकरण का आश्रय लेकर उषा को प्रसन्न-वदना सुन्दरी कुमारी युवती के रूप में प्रणय-निवेदन के लिए सूर्य के पास जाते हुए देखा। यहाँ हमें जानझिझुवाटर के ये शब्द याद आ जाते हैं कि कवि की अभिव्यक्ति उसकी पूर्ण अनुभूति का चिह्न है, जो कुछ वह यथा सम्भव श्रेष्ठ (तम) ढँग से कहता है वह उसने प्रतिशय उत्तम ढँग से—अर्थात् पूर्णतया—अनुभूत भी किया है।⁶ इसी को वह कविता अथवा गीति का मूल तत्त्व मानता भी है यह हम पहले कह आये हैं।

उषा के इस वैदिक स्वरूप पर पाश्चात्य विद्वान् भी मुग्ध हैं। वहीलर ने लिखा है कि हमें (ऋग्वेद में) प्रातःकालीन प्रकाश की प्रथम पीतवर्ण रश्मि के एक सुन्दरी कुमारी के रूप में दर्शन होते हैं, वह जगत को उसी प्रकार जगाती हुई प्रतीत

1. ऋग्वेद. १।४०।१-६।

2. " ६।६१।१।

3. " १।४०।१२।

4. " ३।६४।४।

5. " १।१२३।१।

6. The poet's expression is the token of perfect experience; What he says in the best possible way, he has felt in the best possible way, that is completely. (*The Lyric, page 9*)

होती है जिस प्रकार कोई युवती अपने बच्चों को। यह कवित्वमय धारणा वैदिक गायकों पर विचित्र संमोहन डाले हुए थी नवोद्गा से भी अधिक स्पृहणीय नारी रूप में उषा जिस उत्साह के साथ चित्रित की गई है वह कदाचित् आधुनिक हृत्ति से मेल नहीं खा सकता।¹ मैक्डानल का कथन है कि सबसे अधिक कवित्वमय सूक्त वे हैं जो उषा की स्तुति में रचे गये हैं। वे काव्य सौन्दर्य में यदि किसी भी अन्य साहित्य के धार्मिक गीतिकाव्य से बढ़कर नहीं तो कम से कम बराबर तो हैं ही।² इन शब्दों में मैक्डानल ने उपन्-सूक्तों की धार्मिक गीतिविषयक सर्वोत्कृष्टता कुछ दबे से शब्दों में स्वीकार की है किन्तु उसके विवेकी हृदय को इससे सन्तोष प्राप्त न हो सका। अतः उसने पूर्णतया विचार करने के पश्चात् जो निष्कर्ष निकाला उसके अनुसार 'उषा' वैदिक कवियों की सर्वसुन्दर सृष्टि है जिसके सौन्दर्य को अन्य किसी भी साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीतिकाव्य का सौन्दर्य नहीं पहुँच सका है।³ मैक्डानल के इन शब्दों से यह भी स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि उषा के सौन्दर्य-वर्णन से प्रभावित होकर उन्होंने उसे ऋषियों द्वारा सृष्ट मानवीय-गुण-सम्पन्न पात्र मान लिया है। *She* और *creation* शब्द स्पष्ट ही इस तथ्य को ध्यातित करते हैं। डा० कीथ ने भी उषा-वर्णन के आधार पर वैदिक कवियों की शृङ्गारिक-रचना-सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि जो वैदिक कवि उषा देवी की उपमा एक सुन्दरी नर्तकी से और अपने प्रियतम के समक्ष निज वक्ष अनावृत कर देने वाली कुमारी से ले सकते थे, वे धर्मनिरपेक्ष उपयोग के हेतु शृङ्गारिक रचना करने में अक्षम नहीं थे।⁴ उषा की दूसरी बहिन रात्रि को भी देखिए। वह शाश्वत देवी नीचे, ऊँचे और विस्तृत सभी स्थानों में फैल जाती है। उसने आकर अपनी बहिन उषा को हटा दिया है। रात्रि के आगमन पर हम आ जाते हैं। जैसे, पक्षियों के समूह अपने वृक्ष-स्थित नीडों में चले जाते हैं। लोग अपने-अपने घर चले जाते हैं, पशु-पक्षी भी घर चले जाते हैं। लालची बाज तक अपने घर चले जाते हैं। हे रात्रि ! वृकी, वृक्षघोर चोरों

1. We have the vision of early morning; of the first pale flush of light, imaged as a pure lovely maiden awakening the sleeping world as a young wife awakens her children. This poetic conception seems to have had peculiar charms for the old vedic bards...As a mere female, Usha is likened to a young bride, with perhaps more warmth of painting than would suit modern taste.

(Wheeler, *India Vedic & Postvedic*, page 29-30)

2. The most poetical hymns are those addressed to dawn, equal if not superior in beauty to the religious lyrics of any other literature.

(Macdonell, *A Vedic Reader, Introduction*, page 28)

3. In any case, she (उषा) is their most graceful creation, the charm of which is unsurpassed in the descriptive religious lyric of any other literature.

(Macdonell, *Hist. of Sans. Lit.*, page 81)

4. The vedic poets, who can compare the goddess of dawn to a fair dancer, to a maiden who unveils her bosom to a lover, can not have been incapable of producing love poetry for secular use.

(Keith, *Hist. of Sans. Lit.*, page 42.)

को दूर रख कर हमारे लिए सहज व्यतीत करने योग्य बनो । हे उषस् ! सघन धिरे हुए विकट ग्रन्थकार को मुझसे दूर रखो, उसे ऋण के समान निःशेष कर दो ।¹

प्रकृति के ग्रन्थ तत्त्वों का भी भावमय रोचक वर्णन ऋग्वेद में मिलता है, “सूर्य देवताओं का देदीप्यमान वदन है, मित्र, वरुण और अग्नि की आँख है, स्थावर जङ्गम की आत्मा है, वह पृथ्वी एवं आकाश तथा उनके मध्यवर्ती स्थान में व्याप्त हो जाता है । रोचमाना उषा के पीछे-पीछे सूर्य इसी प्रकार जाता है जिस प्रकार शोभन अवयवों वाली युवती का पीछा करने वाला कोई पुरुष । सूर्य की रसहरणशील रश्मियाँ आकाश में फैल जाती हैं । वे तत्काल ही पृथ्वी और गगन को व्याप्त कर लेती हैं । यह सूर्य का महत्त्व और देवत्व है कि संसार का फैला हुआ कर्म-जाल मध्य में ही समेट लेता है उषो ही वह अपनी व्यापनशील किरणों को संहत करता है राशि चतुर्दिक् अपना आवरण डाल देती है ।² चमकता हुआ सूर्य उषा की गोद से उठता है, गायक उसका उसका स्वागत करते हैं । आकाश का यह स्वर्णमय रत्न दूर से ही चमकता हुआ उदित होकर अपने सुदूर लक्ष्य की ओर चलता है । वह अपने पथ पर द्येय की भाँति तीव्र गति से बढ़ता है ।³

पर्जन्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है — “चाबुक से अपने घोड़ों को प्रेरित करना हुआ पर्जन्य स्त्री के समान अपने दृष्टि-दूतों को प्रकट करता है । जब वह आकाश को वर्षा से व्याप्त करता है तो दूरस्थ सिंह के समान गर्जन करता हुआ प्रतीत होता है । जब वह पृथ्वी पर रेतस् (बीज उत्पन्न करने वाला जल) बरसाता है तो वायु चलती है, बिजली कड़कती है, वनस्पतियाँ विकसित होती हैं और समस्त संसार में प्रकृति जीवित हो उठती है । जिसके इंगित से पृथ्वी भुक जाती है, पशु उछल-कूद मचाते हैं, वनस्पतियाँ विविध रूप में प्रकट होती हैं, वह पर्जन्य हमारे महान् कल्याण का अघायक बने ।⁴ वायु का वर्णन करता हुआ एक ऋषि कहता है कि जब वायु का रथ चलता है तो उसका घोष गर्जन करता हुआ तथा (वातावरण को) चीरता हुआ चलता है आकाश को छूकर वह कुछ अरुण बनाता हुआ और पृथ्वी पर सर्वत्र धूलि उड़ाता हुआ चलता है । पड़ी हुई अनेक वस्तुएँ उसके पीछे उसी प्रकार चल देती हैं जैसे स्त्रियाँ किसी मेले में जाती हैं और इस विश्व का राजा वायु उन सबके साथ अपने रथ में बैठा हुआ चला जाता है । अन्तरिक्ष में अपने मार्ग पर सतत चलता हुआ वायु किसी भी दिन विश्राम नहीं करता । यह जल का सखा सबसे पहले उत्पन्न हुआ किन्तु न जाने कहाँ उत्पन्न हुआ ? कहाँ से आया ?⁵

इस प्रकार के शुद्ध प्रकृति-वर्णन के उत्तमोत्तम चित्रों से ऋग्वेद भरा पड़ा

1. ऋ० वे० १०।१२७।१।५ ।
2. ऋ० वे० मण्डल, १।११५।१।४ ।
3. ब०, ७।६३।१।४ ।
4. ब०, ५।८३।१।५ ।
5. ब०, १०।१६८।१।३ ।

हैं जिनमें कवि का प्रकृति-विषयक राग दूर से ही स्पष्ट दिखाई देता हुआ नयना-भिराम भाँकी प्रस्तुत करता है। इन कतिपय उदाहरणों से प्रो० हिरियन्ना के उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है और इस कथन में सन्देह करने की गुञ्जाइश नहीं रह जाती कि प्रकृति विषयक रति के ऐसे उदाहरण विश्व-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। प्रकृति जैसे कवि की कल्पना के प्रकाश में शाश्वत रूप से प्रतिष्ठा पाकर व्यापकता के साथ चमक उठी है। कवि की कल्पना शक्ति का प्रस्फुटन प्राकृतिक तत्त्वों के मानवीकरण में ही नहीं हुआ अपितु उषा के व्यापक सौन्दर्य के चित्रों में भी उसका उद्रेक द्रष्टव्य है जो अन्तःकरण को आनन्दमग्न कर देते हैं। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण से वही अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है जिसकी प्राप्ति के लिए हम कला-कृतियों की शरण लिया करते हैं।¹

किन्तु ऋग्वेद में कोरा प्रकृति-वर्णन और स्तुतियाँ ही नहीं हैं। मानव मनोविकारों की स्पष्ट व्यञ्जना करने वाली कविता भी इसमें मौजूद है। प्रकृति-विषयक रति के अतिरिक्त दाम्पत्य-रति और यौन-भावना की अदम्यता के सूचक सूक्त भी सगृहीत है। पुरुषा और उर्वशी का सवाद-सूक्त तथा यम के प्रति यमी का प्रणय-निवेदन-सवाद उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

यम और यमी भाई बहिन थे। यमी ने समुद्र के मध्यवर्ती एक द्वीप में निर्जन प्रदेश में यम से गर्भाधान की प्रार्थना की। यम ने प्रस्तावित यौन-सम्बन्ध-विषयक भेत्ती का प्रत्याख्यान करते हुए कहा कि भाई बहिन मे यह सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। यमी ने प्रजापति का उदाहरण दिया, एक ही माता के उदर में रहने के रूप में प्रजापति द्वारा प्रथमतः एव दोनों के दाम्पत्य भाव को विहित मान लेने की युक्ति दी। निर्जनता के कारण किसी के द्वारा देखे जाने की आशका भी नहीं है, यह भी कहा और पुत्र-प्राप्ति का प्रलोभन भी दिखाया किन्तु यम अपनी शान्त मुद्रा से गम्भीरतापूर्वक इस धर्म-व्यवृत्तिक्रम के प्रस्ताव को ठुकराते ही रहे। उन्हें भाई बहिन में दाम्पत्य सम्बन्ध अनुचित ही प्रतीत हुआ। उन्होंने कहा कि शायद आगे किसी युग में भाई बहिन में यह सम्बन्ध हो सके। एकान्त स्थान वाले तर्क को उन्होंने यह कहकर टाल दिया कि प्रजापति के दूत सदा सर्वत्र-विचरण करते रहते हैं। अन्त में यमी कुछ खोमकर कहती है—

किं भ्राता सद्यदनाथं भवति, किमु स्वसा यन्निर्हृतिनिगच्छात्।

कामभूता बह्वेतद्रपायि, तन्वा मे तन्व सं पिपृषि ॥¹

1. Nature is here presented to us suffused in a continual light of the poet's fancy, whose power we feel not only in the bold personifications but also in the refreshing pictures of the physical aspects of the dawn. Such imaginative rendering of nature can not fail to give us a peculiar joy for which we almost instinctively go to works of art.

(Prof. Hirianna, Sans. Poetry. A Historical Review, page 3)

2. ऋ० वे० १०-१८-११। तुलना कीजिए—स कि सखा साधु न शस्ति यो नृपे
दितान्यः संश्रयुते स कि प्रभुः।

वह कैसा भाई जिसके होते हुए बहिन अनाथ रहे और वह क्या बहिन जिसके होते हुए भाई दुःखी रहे ? मैं काम-संतप्त होकर बार-बार तुम से कह रही हूँ, अपने शरीर से मेरे शरीर का आश्लेष करो ।

किन्तु यम का संयम अडिग ही रहा । इस पर यमी कातर वाणी में कहती है—

बतो बताति यम नंव ते मनो हृदयं चाविदाम् ।

अन्या किल त्वां कक्षेव युक्तं परि ध्वजाते लिबुजेव वृक्षं ॥^१

ओह यम ! तुम कितने दुर्बल और दयनीय हो ! तुम्हारे मन और विवेक को मैं समझ नहीं पायी । दूसरी स्त्री तुम्हें कक्ष्या (कमर की पेटो) के समान आलिङ्गित किये रहती है, उसी प्रकार जिस प्रकार लता वृक्ष से लिपटी रहती है (और मेरे प्रणय को तुम ठुकराते हो) यम उसके वचनों से द्रवित न होते हुए उसे अन्य पुरुष के वरण का उपदेश देते है—

अन्यमू षु त्वं यम्यम्य उ त्वां परि ध्वजाते लिबुजेव वृक्षं ।

तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्रां ॥^२

यमी ! तुम किसी अन्य पुरुष का और वह तुम्हारा लता वृक्ष की भांति आलिङ्गन करे । तुम उसकी वशवर्तिनी और वह तुम्हारा वशवर्ती होकर मङ्गलमय पथ पर अग्रसर हो ।

इस सूक्त में काम के उद्दाम वेग में बहती हुई नारी का प्रणय-निवेदन है । शास्त्रीय दृष्टि से इसे रस न कह कर रसाभाम कहेंगे क्योंकि बहिन के हृदय में भाई के प्रति दाम्पत्य रति का अनौचित्य रस के मार्ग में बाधक है । अनौचित्य-प्रवृत्त ही सही, किन्तु रति के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता । साथ ही अनुभूति की स्वाभाविकता और भावा की सरलता तथा सरसता भी ध्यान देने योग्य है ।

इसी प्रकार सूर्या सूक्त^३ में दाम्पत्य रति का सभोग पक्ष चित्रित किया गया है । इसमें सूर्या और सोम के विवाह-प्रसङ्ग का कुछ विस्तार के साथ वर्णन है । एक ऋचा में सुरत का नग्न उल्लेख भी मिलता है जिसे हम सायण-भाष्य सहित यहाँ उद्धृत करते हैं—

तां पूषच्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।

या न ऊरु उशती विश्रयाते यस्यामुशतः प्रहराम शेषं ॥^४

हे पूषन् पोषकतन्नामक देव ! शिवतमामत्यन्तमङ्गलभूतां तामेरयस्व । आ ईरय, सर्वतः प्रेरय । यस्यामूरी बीजं रेतोलक्षणं मनुष्या वपन्ति आबधते । या नो

१. ऋग्वेद, १०।१०-१३ ।

२. " " १०।१०।१४ ।

३. " " १०।८५ ।

४. " " १०।८५।३७ ।

यस्माकमूक उशती कामयमाना विश्रपाते । यस्यामूरावृशन्तः कामयमाना वयं क्षेपं
स्पर्शनयोग्यं पुंस्रजननं प्रहरामः ऊरी व्यञ्जनसम्बन्धं करवाम इत्यर्थः (सायण) ।

पुरुषवा और उर्वशी के संवाद-सूक्त में विप्रलम्भ शृङ्गार का मार्मिक चित्रण हुआ है । ऋग्वेद में संवाद-मात्र दिया हुआ है । कथा का उन्नयन शतपथ ब्राह्मण से करना पड़ता है ।^१ वृहदेवता में भी यह कथा किञ्चित् परिवर्तित रूप में मिलती है ।^२ पुरुषवा मानव था और उर्वशी अप्सरा । उर्वशी ने उससे इस शर्त पर विवाह किया था कि पुरुषवा उसे शय्या के प्रतिरिक्त अन्यत्र नग्न न दिखायी दे अन्यथा वह तत्काल उसके पास से चली जायेगी । चार वर्ष तक दोनों विलास-सुख भोगते रहे किन्तु इधर देवताओं की सभा उर्वशी के बिना फीकी पड़ गई । वे उसे लौटाना चाहते थे । एक बार जब वे एक शय्या पर रति-केल-मलग्न थे तो उर्वशी के एक पुत्र को किसी ने हट लिया । वह चिल्लायी कि मेरे पुत्र को अनाथ की भाँति हरा जा रहा है । पुरुषवा नग्न था उसने अपहर्ता का पीछा नहीं किया । इस पर दूसरा पुत्र भी पहले के समान अपहृत कर लिया गया, वह फिर चीख उठी । पुरुषवा से न रहा गया । उसने उठकर पीछा किया और लड़कों को छुड़ा लाया । जल्दी में वह वस्त्र धारण करना भूल ही गया था । देवताओं ने विस्मृत चमका कर उर्वशी को वह नग्न दिखा दिया और वह उसे छोड़ कर चली गयी । पुरुषवा उसके वियोग में तड़पता फिरता था । एक बार वह मानसरोवर पर उसे स्नान करती हुई मिल गयी । उसने अपनी वियोग व्यथा उसे कह सुनायी । इसके आगे का संवाद ऋग्वेद में है । पुरुषवा उर्वशी को लौटा ले जाना चाहता है पर उर्वशी निरन्तर मना करती चली जाती है । उर्वशी में उसके प्रति कोई ईर्ष्या अथवा औदामीन्य का भाव नहीं है । केवल एक-आध ऋचा में उसने 'मूर' (मूढ़) कहकर पुरुषवा की भत्सना की है पर अधिकांश कथनों में वह उसके प्रति सहानुभूतिमयी रही है । जब वियोग की मर्मान्तक पीड़ा से संतप्त पुरुषवा उर्वशी के प्रत्याख्यान से निराश होकर कह उठता है—

सुदेवो अथ प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गंतवा ।

अथा शयीत निश्चैतेरुपस्थेऽर्जुनं वृका रभसासो अष्टुः ॥^३

'तुम्हारा यह पति जिसने तुम्हारे साथ विलासकेलियाँ की थीं, आज यहीं गिर पड़े, वह दूर से दूर-इतना दूर-महाप्रस्थान कर जाये कि फिर लौटकर ही न आ सके, पृथ्वी की गोद में सो जाये, या उसे भेड़िये बलात् खा ले, तो उर्वशी का नारी-हृदय एकदम कराह उठता है वह कहती है—

पुरुषवो मा मृथा मा प्र पत्नी मा त्वा वृकासो अशिवास उ अन् ।

न वं स्त्रेणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हवयान्येताः ॥^४

1. देखिये सायण भाष्य, १०-६५ ।

2. " आक्सफोर्ड से प्रकाशित, आक्सहिता १०म मसहल की भूमिका ।

3. ऋग्वेद, १०।६५।१४ ।

4. वही, १०।६५।१५ ।

पुरुषवा तुम न मरो, न गिरो और न ही अशुभ वृक तुम्हारा भक्षण करें। ये स्त्रियाँ ही वृक जैसे हृदय वाली होती हैं।

यहाँ पर भी 'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पश्चात् पुंसस्तद्विज्ञितं' के विपरीत पुरुष-प्रवृत्त रति का वर्णन है। अतएव अनौचित्य प्रवर्तित होने के कारण रसाभास की आशाझुका उठती है। किन्तु यह बात ध्यान रखने की है कि उर्वशी और पुरुषवा में दाम्पत्य सम्बन्ध है। अतः इसे रसाभास नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार शृङ्गार रस से सम्बद्ध कोमलतम भावनाएँ, जिनके ऊपर संस्कृत का अधिकांश गीतिकाव्य निर्भर रहा है, ऋग्वेद में सहज सरल रूप में अभिव्यक्त हुई है—कही तो उपमानों के स्वरूप एवं व्यापारों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में और कही प्रत्यक्ष रस अथवा भाव की अभिव्यक्ति के रूप में। डा० शम्भूनाथ सिंह ने इनमें कामशास्त्रीय समस्याओं का दर्शन किया है।

उषा की रंगीनी पर मुग्ध वैदिक कवियों ने प्रकृति के मनोरम सौंदर्य देवताओं के महान् महत्त्व और शृङ्गार की कोमल भावना के क्षेत्र में भी अपनी दृष्टि को अवरुद्ध नहीं रखा। उषा के प्रत्येक नव आगमन के साथ-साथ जीवन के एक-एक दिन को खिसकते और परिणामतः जिन्दगी के अन्तिम छोर को उत्तरोत्तर निकट से निकटतर आते हुए भी देखा था। इस दर्शन-दृष्टि के साथ उन्होंने उषा का जो वर्णन किया है वह कर्णा का सस्पर्श पाकर बड़ा ही मार्मिक हो उठा है। कवि की अन्तर्दृष्टि ने देखा कि यह 'पुराणी' तथा दिव्य उषा प्रतिदिन एकसी ही साज-सज्जा और रंग में रंगी आती है और मनुष्यों के जीवन को क्षीण करती चली जाती है।¹

मानव हृदय की मार्मिक कथा का कर्ण चित्रण अक्षमूक्त में हुआ है जिसमें एक छूतकार की हृदयस्पर्शी अनुभूति की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। कान्ता के मृदु उपदेश की अवहेलना कर अपना सर्वस्व अश्वों की भेंट चढ़ाकर पश्चात्ताप के विषम अनल में जलने वाले छूतकार की उक्तियों में रमा हुआ पाठक यह सर्वथा भूल जाता है कि वह एक धार्मिक ग्रन्थ का अध्ययन कर रहा है, लगता है जैसे कोई भवभूति अपनी कर्णा विपञ्ची के तारों से खेल रहा हो। सब कुछ गँवाकर छूतकार को पत्नी की बात याद आती है, वह सोचता है कि उसने मुझे कभी बुरा भला नहीं कहा, कभी अप्रसन्न नहीं हुई, मेरे तथा मेरे मित्रों के प्रति वह सदा कल्याणी रहती थी किन्तु इन अश्वों (छूत कीड़ा) के कारण मैंने अपनी पति-परायणता पत्नी को निकाल दिया—

न मा मिमेथ न जिहील एषा शिवा सखिभ्य उत महाभासीत् ।

अश्वस्याहमेकपरस्यहेतोरनुज्ञतामपजायामरोधम् ॥²

1. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृष्ठ २८-२९।

2. There are other passage which add a poetic note to what is otherwise purely naturalistic poetry. For example, one poet states that the divine and ancient usas, born again and again and bright with unchanging hues, wastes away the life of mortals.

(Prof. Hiriyanna, Sansk. Poetry, A Historical Retrospect, page 2)

3. ऋग्वेद, १०-३४-२।

सात्त्विक क्षणों में विशदीभूत हृदय की यह आत्म-भर्त्सना कितनी मनोवैज्ञानिक है ! काव्यशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर इसमें स्मृति ग्लानि और विषाद का त्रिवेणी-सङ्गम हिलोरें ले रहा है। अन्य उदाहरण लीजिये—

द्विष्ट इवधूरप जाया वज्रद्वि न नाथितो विन्दते मर्दितारम् ।

अश्वस्येव जरतो वस्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥^१

सास द्वेष करती है। पत्नी मुझे पास भी नहीं आने देती। आपत्ति में कोई सहायक नहीं मिल रहा। मेरी दशा एक बूढ़े घोड़े जैसी है जिसका मूल्य केवल एक वस्त्र लगाया जाता है।^२ विवशता का कितना मर्मस्पर्शी चित्रण है। आत होता है कि द्यूत-व्यन्तर-समाविष्ट पति द्वारा अपमानित होकर उल्टी अपने नैहर चली गयी। द्यूतशाला में अपना सब कुछ गँवा कर जब उसकी आँखें खुली तो बेतना धापी, समुराल पहुँचा, किन्तु अब अबसर निकल चुका था। सास ने अपमान किया, पत्नी ने रास्ता बता दिया, अब वह बूढ़े घोड़े के समान है, उसका कोई मूल्य नहीं, कोई उपयोग नहीं, कोई पूछता नहीं। उपमा की स्वाभाविकता अनुभूति को हृदयङ्गम बनाने में सहायक है और “न नाथितो विन्दते मर्दितारम्” में लिपटा हुआ सत्य कानों में गूँजता हुआ ही नहीं रह जाता सूक्ति बनकर ओठों पर भी चढ़ जाता है। वस्तु-वर्णन की अपेक्षा अनुभूति प्रधान हो गयी है। यहाँ वस्तु-वर्णन का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। वह तो मानसिक अभिव्यक्ति का आधार मात्र है। गीति के लिए और चाहिये ही क्या ? मैक्डानल ने इस सूक्त को करुण-भाव-पूर्ण-कविता का उत्कृष्ट उदाहरण बताया है।^३

युद्ध-उत्साह की अभिव्यंजना इन्द्र की स्तुतियों में बड़े ही सुन्दर रूप में हुई है। भालम्बन के रूप में वृत्र, शम्बर, पणि आदि का वर्णन किया गया है। इन्द्र के युद्ध व्यापारों के विशद वर्णन में कवि की कल्पना नवीन-नवीन उद्भावनाओं द्वारा प्रभाव की सृष्टि करने में उत्कर्ष पर पहुँची हुई परिलक्षित होती है। यद्यपि आश्रय की वीरता में अधिकाधिक उत्कृष्टता साने के लिए भालम्बन की वीरता का वर्णन नहीं किया गया है तथापि भालम्बन द्वारा किये कार्यों से ही उसका अनुमान लगाया जा सकता है, जैसे ‘ग्रहि’ के वध का वर्णन करने में कवि ने उसके द्वारा रोक लिये गये जल का उल्लेख किया है—

ग्रहन्नाहि पर्वते शिभिद्याणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वयं ततश्च ।

वाथा इव घनवः स्यन्दमाना अरुजः समुद्रमव जम्भुरापः ॥^४

ग्रहात् त्वष्टा द्वारा निर्मित स्वरयुक्त गर्जन करने वाले वज्र से इन्द्र ने वृत्र का

१. ऋग्वेद, १०।३५।३।

२. जो बिकने के लिए है (मैक्डानल)।

३. The gambler's lament is a fine Specimen of pathetic poetry.

(Vedic Reader, Int., page XXXIX)

४. ऋग्वेद, १।३२।२॥

चन्द्र किशोरो उसके द्वारा भवच्छ जल रम्भाती हुई धेनुओं के समान तेजी से बहता हुआ समुद्र की ओर चल निकला। बहुत दिनों तक रहने के कारण एकत्रभूत, और छोड़े जाने पर घोर शब्द के साथ तेजी से बहने वाले जल के लिये सायंकाल में चरागाहों से लौटती हुई अपने बछड़ों के लिए जोर से रम्भाती हुई उत्सुक धेनुओं की उपमा कितनी उपयुक्त है। जिस व्यक्ति ने इस विशाल जल राशि को रोका होगा वह कुछ विशेष ही शक्ति रखता होगा। अतः उसका वध करने वाला इन्द्र स्वतः ही वीर सिद्ध होता है। प्रो० बलदेव उपाध्याय का यह कथन उचित ही है कि उषा विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है तो इन्द्र विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप-वर्णन में यदि स्वभावोक्ति का आश्रय है तो वरुण की स्तुति के भवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा प्रनयता का विशद परिचायक चिह्न है भावों की सहज अभिव्यक्ति; निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।¹ इन्द्र की वीरता को व्यञ्जित करने वाला एक अन्य उदाहरण लीजिये—

भीमो विषेवायुचेभिरेशामपांसि विष्टवा नर्याणि विद्वान् ।

इन्द्रः पुरो जह्वेषाणो वि दूषोत् विवस्त्रहस्तो महिना जघान ॥²

अर्थात् मनुष्यों के हितकारक कर्म को जानता हुआ आयुषों से भयंकर इन्द्र असुरों के समूह में प्रविष्ट हो गया, वे कोप उठे और इन्द्र ने वज्र लेकर उत्साह सहित उनका वध कर डाला। इसी प्रकार अन्य रसों के उदाहरण भी ऋग्वेद में ली जा सकते हैं। दानस्तुति में दानवीर का चित्रण हुआ है। इन्द्र सम्बन्धी सूक्तों में ही वीर के साथ रौद्र, भयानक आदि रस भी देखे जा सकते हैं। हास्य रस के उदाहरण के रूप में मण्डूक सूक्त और शिशु आंगिरस का नाम लिया जा सकता है।

किन्तु ऋग्वेद का सबसे अधिक महत्त्व इस लिए है कि वह धर्म, दर्शन, भक्ति और पौराणिक आख्यानों का मूल उद्गम है। धार्मिक काव्य की दृष्टि से यास्क ने मन्त्रों के वर्ण्य विषय के तीन विभाग किये हैं—प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक कृत। प्रत्यक्षकृत उन मन्त्रों को कहा गया है जिनमें देवता को प्रत्यक्षवत् सम्बोधित करके स्तुति की गयी हो। परोक्षकृत मन्त्रों में ऋषियों ने ऐतिहासिक अथवा वर्णनात्मक शैली में देवताओं के महत्त्व का वर्णन किया है। इसमें स्तुत्य देवता को अन्य पुरुष सर्वनाम के रूप में व्यवहृत किया जाता है और आध्यात्मिक कृत मन्त्रों में आत्मानुभूति का स्पर्श रहता है।

प्रत्यक्षकृत मन्त्रों में देवताओं से सीधी प्रार्थना की गयी है जैसे “हे अग्ने ! हम आपकी स्तुति करते हैं, यहाँ आइये, यह कुशा आपका आसन है, समिधा आपका इन्धन है।” इस प्रकार की स्तुतियों में प्रायः ऐहिक वदाशों और सुखों की प्राप्ति के

1. आलोचना, अङ्क ११, पृष्ठ १६।

2. ऋग्वेद, ७।१३।८।

लिए ही प्रार्थना की गयी है और गौ, अन्न, वीर पुत्र, बहु-तेज आदि की भी प्रस्तुत की गयी है। किन्तु उदात्त भावनाओं का भी यत्र-तत्र उदय देखा जा सकता है जिनमें विश्व-मंगल की कामना, राष्ट्रोन्नति का उत्साह और लोक-मर्यादा को बनाये रखने की रचि का प्रतिफलन हुआ है। ऋत की प्रशंसा और अनुत की निन्दा के साथ-साथ ऋतमार्ग का अनुसरण करने वाले के अम्युदय और उत्संघन करने वाले के विनाश की भी भावना अभिव्यक्त हुई है।

परोक्षकृत मन्त्रों में तथ्य-कथन की अपेक्षा अतिरञ्जन का अधिक पुट देखा जाता है और कल्पना की जागरूकता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है किन्तु उससे स्वाभाविकता में कोई बाधा नहीं आती अपितु रोचकता ही बढ़ती है। जैसे, बलवान् इन्द्र संग्रामों में तरणि है, घोड़े के समान है, आकाश और पृथ्वी में व्याप्त हो जाने वाले मेघों के समान है और स्तोताओं के लिये पिता के समान है।

आध्यात्मिक मन्त्रों के विषय में यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यहाँ इस शब्द का प्रयोग आधुनिक प्रचलित अर्थ में नहीं हुआ है। इसके अन्तर्गत मास्क ने क्षप्य, अभिशाप अथवा किसी सत्यविशेष का प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों को माना है। निन्दा, प्रशंसा और परिदेवना को भी इसी श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार के मन्त्रों का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस श्रेणी में वैयक्तिक छाप से मुक्त मन्त्रों को रखा गया है। वशिष्ठ का सुदास की विजय होने पर इन्द्र के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन, विश्वामित्र का नदी विषयक सूक्त, वशिष्ठ का रोगमुक्ति के लिए प्रार्थना वाला सूक्त, सब इसी प्रकार के हैं। ऐसे मन्त्रों में कहीं-कहीं आत्मसमर्पण की भावना का सुन्दर अभिव्यञ्जन हुआ है। यद्यपि वैदिक ऋषि की भक्ति सख्य भक्ति ही कही जा सकती है। उसमें आत्मसमर्पण का प्रकटीकरण अधिक नहीं हुआ है, पूजा, उपासना, यज्ञ आदि के बदले में वे अपने उपास्य देवता से साथ के साथ अभीष्ट वस्तुएँ माँगते रहे और असफल होने पर यह भी कह देते थे कि 'हे देव ! यदि मैं आपकी तरह सर्वसम्पत्तिशाली होता तो मेरा स्तोता सदा गायों का स्वामी रहता' तथापि दैन्यपूर्ण विनय की भी उत्कृष्ट उक्तियाँ यत्र-तत्र मिल ही जाती हैं जिनसे भक्त के हृदय की व्यथा फूटी पड़ती है। सान्द्र अनुभूति के साथ वैयक्तिकता के तत्त्व का भी प्रचुर समावेश ऐसे स्थलों पर हो गया है। इस प्रकार गीतिकाव्य की आधुनिक कसौटी पर कसने में भी ये उक्तियाँ पूर्णरूपेण सुवर्णमयी उतरती हैं। उदाहरण के रूप में वशिष्ठ द्वारा वरुण की स्तुति विषयक सूक्त उपस्थित किया जा सकता है। ज्ञात होता है कि महर्षि वशिष्ठ ऋषि ही नहीं भक्त भी थे और भक्त ही नहीं कवि भी थे। अपने आराध्य देव वरुण के दर्शनों की अभिलाषा में तड़पते हुए इस साधक की दशा देखिए—

उतं स्वया तन्वा संवेदे तत् कदा न्वन्तर्बन्धो मुच्यते ।

कि मे हृदयमहृषानो मुवेत कदा मृळीकं मुच्यते अभि स्वम् ॥¹

वे आप ही आप अपने मन से प्रश्न कर रहे हैं कि वह कौन सा समय होगा जब मैं वरुण देव में तल्लीन (अन्तर्भूत) हो जाऊँगा ? क्या वह क्रोध रहित होकर प्रसन्नचित्त मेरी हवि को ग्रहण करेंगे ? कब मैं उनके दर्शन मुक्त हृदय से कर सकूँगा ।

भावविस्मृत होकर वे वरुण से मानसिक साक्षात्कार करते हुए पूछते हैं—

पूछे तदेनो वरुण विदूषुषो एमि चिकितुषो विपूषुषं ।

समानमिमे कथयषिषवाहुरय ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥^१

हे वरुण ! मुझे आपके दर्शनों की कामना है, मैं आपसे उस पाप को पूछता हूँ जिसके कारण मैं आपके पाशों में बद्ध हूँ । सभी विद्वान् एक ही बात मुझसे कहते हैं कि तुमसे वरुण देव अप्रसन्न है ।

मन्त्र का उत्तरार्ध स्तोता की मानसिक व्यग्रता का द्योतक है । सभी विद्वान् वरुण को अप्रसन्न बताते हैं । वे अन्त नहीं कह सकते, वरुण अप्रसन्न ही होगा । यह सोचकर उसका चित्त उद्विग्न हो उठता है और वह मनःप्रत्यक्ष वरुण में अपना अपराध पूछना चाहता है, अपना पुराना सम्बन्ध याद दिला कर उसके हृदय में सहानुभूति और दया का सञ्चार करना चाहता है—

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यस्ततोत्तर जिघांससि सखायम् ।

प्र तन्मे वोचो ब्रूषभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ॥^२

हे वरुण ! कौन सा अपराध है जिसके कारण आप अपने ज्येष्ठ स्तोता को भी नष्ट करना चाहते हैं । तनिक बताइये तो मैं आपको नमस्कार करता हूँ ।

और अन्त में वशिष्ठ कातर होकर क्षमा की प्रार्थना करते हैं—

अथ ह्युधानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं अकृमा तनूभिः ।

अथ राजन् पशुतृप न तार्युं सृजा वस्तं न दास्यो वसिष्ठम् ॥^३

हे वरुण ! मेरे पूर्वजों के द्वारा किये हुए तथा मेरे स्वयं इस शरीर द्वारा किये हुए अपराधों को क्षमा कर दीजिये । हे राजन् जिस प्रकार स्तैन्य-प्रायश्चित्त करने पर चोर को छोड़ दिया जाता है, जिस प्रकार बछड़े को रस्ती से खोल दिया जाता है उसी प्रकार मुझे भी अपने पाशों से मुक्त कर दीजिये ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पंक्तियों में ज्ञान का तीव्र प्रकाश नहीं भावना की विशद सरसता है; दर्शन की काट-छांट नहीं अनुभूति की अखण्ड एकता है; कर्मकाण्ड का जटिल विधान नहीं भक्ति-भाव जन्य-विह्वलता का प्रतान है और कोरी उपासना नहीं, आत्मसमर्पण भी है । इसीलिए यह मन्त्र नहीं गीति है । सचमुच नम्रता तथा दीनता, अपराध-स्वीकृति तथा आत्मसमर्पण की भव्य भावनाओं से

१. ऋग्वेद, ७।८६।३ ।

२. वही, ७।८६।४ ।

३. वही, ७।८६।५ ।

मण्डित यह सूक्त वैष्णव भक्तों की सुध दिलाता है जिसमें उन्होंने अपने को हजारों अपराधों का भाजन बताकर भगवान् से आत्मसात् करने की याचना की है।^१ उपनिषदों के दर्शन-प्रवाह में प्रतिबिम्बित होने वाली तथा शंकराचार्य के ग्रहं ब्रह्मास्मि वाक्य में समाहित अध्यान्तरिकता काव्यात्मक गुणों के साथ ब्रह्मगुणी की देवी सूक्त के नाम से प्रसिद्ध उक्तियों में प्रस्फुटित हुई है। एक उदाहरण लीजिये—

ग्रह च्छ्राय धनुरा तनोमि

ब्रह्मद्विगे शरवे हन्तवा उ ॥

ग्रह जनाय समव केणो

म्यह छावापृथिवी आ विवेश ॥ १० १२५-६

अर्थात् ब्रह्मदेवी हिंसकी के विनाश के लिए मैं ही रुद्र के धनुष को तानती हूँ। मैं ही मनुष्यों में युद्ध कराती हूँ और दुलोक तथा पृथ्वीलोक में सर्वत्र मैं ही व्याप्त हूँ। ऐसी रचनाओं को देखकर मैकडानेल को कहना पड़ा कि यूनान के प्राचीन युग के विपरीत वैदिक युग ने, जिसमें केवल धार्मिक कृतियों की ही सर्जना हुई है, गीति-गुणों की दृष्टि से एक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था।^२

रसात्मक तथा धार्मिक काव्य के अतिरिक्त उदात्त भावनाओं के आधान एवं ऐहिक जीवन की सफलता के उद्देश्य से लिखी हुई भी अनेक रचनाएँ इस विशाल कोष में संगृहीत हैं। यथा पीछे जिस ग्रन्थसूक्त का उल्लेख किया गया है उसमें दूतकार की शोचनीय परिस्थिति का चित्रण कर उसे सत्यपर प्रवृत्त होने की सलाह दी गयी है—“हे दूतकार। तुम अब जुषा मत खेनना, अब तो तुम खेत ही जोतो और अपने धन को बहुत समझकर उसी से प्रेम रखो, मुझसे सबके प्रेरक सूर्यदेव ने कहा है कि खेती से ही गायें मिलती हैं, उसीसे स्त्री मिलती है।”^३

ग्रन्थमादीव्यः कृषिमित् कृषस्व।

वित्ते रमस्व बहु मन्दमान ॥

तत्र गावः कितव तत्र जाया।

तन्मे विचष्टे सजितायमयः ॥

यह तो हुई भावात्मकता एवं वर्ण्य विषय की बात। अब अभिव्यक्ति की बात भी पर भी कुछ विचार कर लिया जाय। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि अपनी सान्द्र अनुभूति, मृदुलता एवं सीमित स्थान के अनुरूप गीति काव्य की शैली काव्य की साधारण शैली से भिन्न हो जाती है। अभिधा के अर्थ-प्रपञ्च के लिए उसमें उपयुक्त स्थान नहीं मिलता इसीलिए गीतिकार को व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। उसका काव्य ध्वन्यात्मक होता है इसलिए भी उसे उच्चकोटि का कहा

१. कलदेव उपाध्याय, अल्लोचना, अङ्क ११, पृष्ठ ६।

२. The Vedic, which unlike the earlier epoch of Greek, produced only religious work reached a high standard of merit in lyric poetry
(Macdonell, History of Sansk. Lit., page 9)

३. आनन्द, १०।३४।१३।

जा सकता है। परवर्ती साहित्यिक कृतियों की कलात्मकता और ध्वन्यात्मकता की प्राणा ऋग्वेद से नहीं की जा सकती और न ही इस मापदण्ड के आधार पर उसका मूल्यांकन करना समीचीन है, फिर भी ध्वनि काव्य के अत्यन्त सुन्दर उदाहरणों का भी उसमें अभाव नहीं है—

एवा च त्वं सरम आजग ग्रन्थ प्रबाधिता सहसा बन्धेन ।

स्वसार त्वा कृण्वे मा पुनर्मा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥^१

पणियों द्वारा इन्द्र की गायें हर लेने पर इन्द्र सरमा को दूती रूप में उसके पास भेजता है। वाद-विवाद होता है, पणि घमकियाँ देते हैं पर सरमा अपनी माँग पर घटल रहती है, तब वे कहते हैं कि—“सरमे ! तुम देवी बल से प्रबाधित होकर (बलात् भेजी गयी) आयी हो तो हम तुम्हें अपनी बहिन बना लेंगे और तुम्हारे साथ गायें बाँट लेंगे इससे प्रतीत होता है कि पणि सरमा को अपने वश में करना चाहते हैं। इसलिए यहाँ पर स्वतः सभवी वस्तु से वस्तु ध्वनि है। हिरण्यगर्भ सूक्त की प्रसिद्ध पंक्ति कस्मै देवाय मनसा विधेम मे कस्मै शब्द हिरण्यगर्भ की अनिवंचनीयता का स्रोतक है और देव शब्द का विशेषण होने के कारण उसके अलौकिक देवत्व का बोधक है जिससे ग्रन्थ देवताओं की तुलना में उसका उत्कर्ष अधिक व्यञ्जित होता है। इस प्रकार यहाँ वस्तु ध्वनि से अलङ्कार ध्वनि हो जाती है।

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये । बयो न वसतीयश्च^२ वशिष्ठ की मति धन प्राप्ति के लिए वरुण पर ही पहुँचनी है। जैसे, पक्षी (विश्राम की आवश्यकता होने पर) अपने नीड पर पहुँचता है। इस उपमा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैसे पक्षी के लिए अपने घोंसले से अधिक शान्तिप्रद और कोई स्थान नहीं होता उसी प्रकार वरुण के प्रतिरिक्त वशिष्ठ की गति अन्यत्र नहीं। इस प्रकार यहाँ उपमा अलङ्कार से वस्तु ध्वनि हुई।

ऋग्वेद में अलङ्कारों का भी ऐसा समीचीन और स्वाभाविक उपयोग हुआ है जो परवर्ती साहित्य में नितान्त दुर्लभ है। वे भावना के उत्कर्षाधायक बन कर ही आये हैं, अपना मित्र उठाने नहीं। कुछ उदाहरण लीजिए

अनुप्रास :—

पति न पत्नीदशतीदशन्तं स्पृशन्ति त्वा शबसावन् मनीषाः । १-६२-११,

उपमा :—

मृगो न भीमः कुचरो गिरिठठाः । १०-१८०-२

मालोपधा :—

सूर्यस्येव वक्षसो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा मभीरः ।

धातस्येव प्रजयो नाग्येन स्तोमो वसिष्ठा ऋग्वेदस्य ऋः ११ ७३३।८

१. ऋग्वेद, १०।१०=१६ ।

२. ऋग्वेद, १।२५।४ ।

गम्योत्प्रेक्षा :—

अस्येदु भिया गिरयश्च दृढा, आवा च भूमा जगुवस्तुभेते ।

मानो इन्द्र के भय से ही पर्वतो में दृढता आती जा रही है और आकाश तथा पृथ्वी काँप रहे हैं । भय द्वारा दृढता और काँपने की सम्भावना की गई है । इस आदि शब्द व्यञ्जक भी नहीं है, अतः गम्योत्प्रेक्षा ही कही जायेगी ।

रूपक :—

“ता भूरिवाशावनृतस्य सेतु” ७-६५-३ तथा

“विद्या अङ्गारा हरिणे न्युप्ताः” १०-३४-२

प्रथम उदाहरण में मित्रावरुण पर सेतुत्व का आरोप और दूसरे में अश्वो पर अङ्गारो का आरोप करना स्पष्ट ही रूपक है ।

इत्येव :—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विद्यां रूपाणि विभूतः ।

वाचस्पतिबला तेनां तन्वो अद्य वचातु मे ॥ शो० १-१-१

यहाँ पर वाचस्पति के प्रतिरिक्त वैयाकरण अर्थ भी वाच्य है वह भी स्वोजसादि विभक्तियों के २१ रूपों को धारण करता है ।

ग्याजस्तुति :—

एतद् घेदुत वीर्यमिन्द्र चकथं वीर्यं

स्त्रियं यद् दुर्हणापुत्रं वधीर्द्विहतरं विवः ॥ ४-३०-८

हे इन्द्र यह तुम्हारा वीर्य-पूर्ण पराक्रम है कि तुमने बेचारी एक स्त्री आकाश-पुत्री को मार डाला । स्पष्ट ही निन्दा प्रतीत होती है, किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि क्षुपुत्री राजा का विनाश उदित होता हुआ इन्द्र (आदित्य) करता ही है ।

काव्यसंलग्न :—

अयं पिबा मधूनां सुतं बायो विविष्टवु । त्वं हि पूर्ववा असि । ४-४६-१

वायु से सर्वप्रथम सोम पीने की प्रार्थना की गयी है और पहले पीने का हेतु भी दे दिया है “एवं हि पूर्ववा असि” अतः काव्यसंलग्न का सुन्दर उदाहरण है ।

परिकर :—

इन्द्रं प्रच्छा विपश्चितम् । १-४-४

यहाँ विपश्चित् विशेषण सभिप्राय है । सदेहात्मक समस्याएँ विपश्चित् ही सुलभा सकते हैं ।

समाधि :—

सन्ति कामातो हरिषो बहिष्ट्व स्मो वयं सन्ति नो विमः । ८-२१-६

सोमरि ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र ! हमारी कामनाएँ हैं, आप कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं ही, फिर हमारे (विषय) कर्म भी हैं, कर्म का फल आपको देना ही

चाहिये । यहाँ फल प्रदान कार्य के सीकर्य की सामग्री एकत्र होने के कारण समाधि भलकार है ।

अर्थान्तरन्यास —

मा त्वा सोमस्य गत्त्वया सदा याचन्नह गिरा ।

भूणि भृग न सवनेषु बुक्थ क ईशान न याचिषत ॥ ८ १२०

यहाँ 'क ईशान न याचिषत' इस सामान्य कथन द्वारा मेधातिथि द्वारा इन्द्र से की गयी याचना का समर्थन किया गया है । अतः सामान्य द्वारा विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है ।

विरोधाभास —

नीचा वतन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्त सहन्ते ।

विष्या अङ्गारा इरिषे न्युप्ता शीता सन्तो हृदय निबहन्ति ॥

विरोधाभास का यह उत्कृष्ट उदाहरण है । १—ये अक्ष नीचे चलते हैं और ऊपर स्फुरित होत हैं यह विरोध हुआ । अक्षों के नीचे गिरते ही उत्कृष्ट हो जाती है उन्हें फिर उठा लिया जाता है और वे फिर नीचे डाले जाने के लिए झूट क्रीडक के हाथ में पहुँच कर स्फुरित होने लगते हैं यह विरोध का परिहार हुआ । २—स्वयं हाथ न होने पर भी ये हाथ वालों को जीत लेते हैं यह विरोध है इनके ठीक दाँव न लाने के कारण झूतकार हार जाता है यह विरोध का परिहार हुआ । ३—स्वयं धीतल होते हुए भी ये हृदय को जलाते हैं यह विरोध है । हृदय को दुःखी करते हैं । यह उसका परिहार हो गया । अक्षों को अङ्गार बताया गया है और अङ्गारों का कार्य (जलाना) भी वे करते हैं । अतः यहाँ पर रूपकातिशयोक्ति भलकार है जो विरोधाभास का अङ्ग हो गया है । इस प्रकार यहाँ इनका अङ्गाङ्गीभाव सकर है ।

कल्पना तत्त्व तो ऋग्वेद की रचनाओं में प्रामाण्य इस स्वाभाविकता के साथ समाविष्ट हुआ है कि आश्चर्य होता है । इन कवियों ने पिछले खेद के कवियों की भाँति चमत्कार ही उत्पन्न करना कल्पना का लक्ष्य नहीं बनाया अपितु वण्य-वस्तु अथवा भाव को मूर्त रूप देकर अधिकाधिक आस्वाद्य बनाना ही इनका उद्देश्य रहा । ऋग्वेद को आँखें मूँद कर कही स भी खोल लीजिये वहीं आपको कल्पना का विशद एवं अनुत्पन्न रूप दिखाई देगा । उदाहरण के लिए उषा वर्णन को ही ले लीजिये कही उस नतकी का रूप दिया गया है तो कही वस्त्र प्रभूषण से सज्जित प्रेयसी का रूप । प्रतीत होता है जैसे उसकी माँ ने उसे वात्सल्यपूर्वक प्रसाधित किया हो, वह अपने प्रियतम सूर्य के पास जाती है और अपना वक्ष खोल देती है । वायु की गति को लक्ष्य कर उसके रथ की कल्पना करके सुन्दर वर्णन किया है जो बिम्बग्रहण कराने में भी सहायक होता है । सूर्य का वर्णन भी ऐसा ही है । इन्द्र की बीरता के वर्णन के विषय में भी यही बात कही जा सकती है, इनके विषय में भी पीछे जिन आचार्यों को प्रसङ्गवश उद्धृत किया गया है उन्हें ही वहाँ भी उदाहरण

किया जा सकता है :—मैकडानल का कथन है कि ऋग्वेद में वास्तविक कविता अधिक है क्योंकि अधिकतर देवता प्राकृतिक दृश्यों से सम्बद्ध हैं। मतः उनकी प्रशंसा में जो स्तुतियाँ कही गयी हैं उनसे कल्पना का सुन्दर और उच्च रूप फूट पड़ा है।

“(The Rigved contains much genuine poetry. As the gods are mostly connected with natural phenomena, the praises addressed to them give rise to much beautiful and even noble imagery. (*A Vedic Reader for students Intro., p. 39*)

स्पष्ट है कि ऋग्वेद प्रारम्भिक लोककाव्य का संग्रह नहीं है, जैसा कि इस युग के पाश्चात्य अध्येताओं ने प्रारम्भ में सोचा था, यह भाषाओं के उत्तम मस्तिष्क द्वारा रचित कौशलपूर्ण स्तुतियों का संग्रह है जो यज्ञों के अवसर पर गायी जाती थीं। इसलिए इसमें स्थान-स्थान पर विविध देवताओं तथा कर्मकाण्ड विषयक संकेत मिलते हैं जिनके कारण काव्यात्मक समरसता में बहुत से स्थानों में व्याघात भी पड़ता है, अग्नि और सोम की स्तुति में यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है, फिर भी जिस वातावरण में इसका जन्म हुआ उसे दृष्टिकोण में रखते हुए रचयिताओं की सफलता प्राशंसीत एव स्तुत्य है। यजनीय देवताओं की प्रशंसा में कुछ रचनाएँ अवश्य ही रहस्यमय हो गयी हैं जिनमें एक विशेष प्रकार की गूढ़ कल्पना के साथ-साथ शब्दों का कलात्मक प्रयोग मिलता है। यह कदाचित् इसलिए कि यजनीय वस्तु का सूत्र प्रायः सर्वत्र एकसा ही होने के कारण यत्र तत्र वैविध्य का समावेश करने के प्रयास इस रूप में प्रतिकलित हुए। किन्तु विदग्धतापूर्ण विलम्ब शैली के प्रारम्भ का सूचक होने पर भी ऋग्वेद की प्रायः सभी रचनाएँ सरल एव सरस भाषा शैली में रची गयी हैं, समासों का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है और वह भी प्रायः दो शब्दों के ही समासीकरण तक सीमित है। भाव भी प्रायः स्वाभाविक एवं अन्तःप्रेरित है।¹ अभिव्यक्ति की विविधता की चर्चा करते हुए मैकडानल ने कहा है कि, “यह कहा जाता है कि ऋग्वेद के सूक्तों में सर्वत्र एकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है। इस धारणा में सत्य अवश्य है किन्तु इसका एक सबल कारण यह भी है कि एक ही देवता की स्तुति के अनेक सूक्त प्रत्येक मण्डल में एक साथ ही रख दिये हैं। यदि आधुनिकतम कविता के किसी संग्रह में से वसन्त ऋतु के वर्णन के २०-३० गीत उठाकर पढ़े जायें तो भी यही धारणा उत्पन्न हो सकती है और जब हम यह विचार करते हैं कि केवल दो देवताओं की ही स्तुति में लगभग पाँच सौ सूक्तों की रचना की गयी है तो आश्चर्य होता है कि एक ही थीम के इतने विविध रूप संभव हो सकते हैं।²

भाषा की सहज सरलता और कल्पना की स्वाभाविकता के अतिरिक्त छन्द की मधुर लय की विशेषता भी बड़ी महत्वपूर्ण है। आदि से लेकर अन्त तक सभी

1. देखिए, मैकडानल का संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६५-६६।

2. When we consider that merely five hundred hymns of the Rigved are addressed to two deities alone, it is surprising that so many variations of the same theme should be possible. (*History of Sans. Lit., page 47*)

ऋचाएँ गेय हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के विधान द्वारा उच्चारण को निश्चित रूप में बाँधने का जो प्रयास किया गया था वह भाषा-विज्ञान की ही दृष्टि से नहीं गेयता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। आज भी परम्परागत प्रणाली से शिक्षित वेदपाठी इन ऋचाओं का सस्वर गान करते हैं तो एक आश्चर्य विह्वलता के प्रसार से वातावरण को रसमय बनाती हुई सय हृदय को स्पर्श करती हुई गूँज उठती है। सम्भव है उस समय भी ये ऋचाएँ सामूहिक रूप से गायी जाती हों। दुन्दुभि, अदम्बर आदि अनेक वाद्यों का भी उल्लेख वेदों में मिलता ही है। वैदिक उच्चारण की इस संगीतात्मकता को पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। मैकहानल के अनुसार, वैदिक उच्चारण प्राचीन ग्रीक उच्चारण के ही समान संगीतमय है, यह स्वरों के नाम तथा छन्द की लय में उनके बाधक न होने से ही प्रकट है।¹

ऋग्वेद के इस विवेचन और विश्लेषण के आधार पर हम सुगमता के साथ निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँच जाते हैं—

१—इस युग का अधिकांश काव्य प्रकृतिपरक है जिसका मूल प्रवृत्तिनिमित्त धार्मिक है। इन रचनाओं में आरम्भ से अन्त तक प्रकृति-प्रेम लबालब भरा है जिसके आधार पर इसे प्रकृति-काव्य कहा जा सकता है।

२—किन्तु नरकाव्य का भी सर्वथा अभाव इस युग में नहीं रहा। गायानाराजसी-विभाग इसका स्पष्ट प्रमाण है। इस ढँग की रचनाएँ लोककाव्य के रूप में अवश्य प्रचलित रही होंगी और पर्याप्त मात्रा में सृष्ट हुई होगी। कदाचित् ऋग्वेद के अन्तर्गत ये स्थल उन्हीं में से परिष्कृत अथवा उनको आधार मान कर रचित रचनाएँ ही हैं जो प्रसङ्गवश संगृहीत कर ली गयी थीं। लेखन-कला के अभाव में सब साहित्य कष्ठाग्र रखकर ही जीवित रखा जाता था। अतः धार्मिक साहित्य को प्रमुख मानकर उसकी रक्षा के लिये विशेष सतर्कता बरती गयी और अन्य प्रकार की रचनाएँ काल के प्रवाह में विलुप्त हो गयीं।

३—धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष दोनों ही प्रकार की रचनाओं में भाव-प्रवणता पायी जाती है। कतिपय सूत्रों में भक्ति-भावना का उत्कृष्ट रूप मिलता है जिससे दैन्य और विनयपरक उक्तियों का भी समावेश हो गया है। भावुकता के साथ-साथ इनमें वैयक्तिक अनुभूति का भी संयोग है। अतः ये उक्तियाँ वैष्णव कवियों की गीतियों से टेढ़कर ले सकती हैं। वशिष्ठ द्वारा वरुण की स्तुति इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

४—धर्मनिरपेक्ष रचनाओं में शृङ्गार-विषयक रचनाएँ भी हैं। शृङ्गार के संयोग और विप्रलम्भ भेदों के साथ-साथ रसाभास के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार शिष्ट काव्य में भी दाम्पत्य रति को मूल आधार मानकर काव्य-रचना-

3. The Vedic, like ancient Greek, accent was a musical one depending mainly on pitch, as is indicated both by its not affecting the rhythm of metre and by the name of chief tone. (*Vedic Grammar*, page 448)

प्रवृत्ति का संकेत मिलता है जिसका विकास संस्कृत साहित्य में शृङ्गार-रस के प्राधान्य के रूप में पर्यवसित हुआ जो संस्कृत के गीतिकाव्य की आत्मा है। शृङ्गारिक उक्तियों में रूपवर्णन प्रायः नहीं है केवल मनोभावों की अभिव्यक्ति ही है जिसमें वस्तुवर्णन का आधार पर्याप्त मात्रा में है। शृङ्गार रस के क्षेत्र में मानवीय भावनाओं का आरोप प्राकृतिक दृश्यों पर कर लिया गया है, विशेष रूप से उषा के प्रसंग में। भालम्बन का महत्त्व परवर्ती साहित्य जितना नहीं दीख पड़ता। नख-शिक्ष अथवा भंग-प्रत्यङ्ग-वर्णन नहीं है। सौन्दर्य का व्यापक रूप अवश्य चित्रित किया गया है। कोमलता, सुकुमारता आदि की व्यञ्जना के साथ-साथ उत्कण्ठा आदि भावों की भी अभिव्यक्ति मिलती है। अभिसार के दोनो रूप—स्त्री-प्रवृत्त और पुरुष-प्रवृत्त—इसमें मिलते हैं। उषा का सूर्य के पास सजकर जाना और सूर्य का उषा के पीछे स्त्री के पीछे पुरुष सद्गुण जाना इसके उदाहरण हैं। लज्जा, अवहिस्था, उत्कण्ठा आदि कतिपय ही संचारियों की अभिव्यक्ति मिलती है। स्त्री-पुरुष दोनों का ही प्रणय-निवेदन और प्रत्याख्यान प्रदर्शित किया गया है जिसमें संताप और अनुभूति की तीव्रता प्रशमनीय है।

५—इन रचनाओं का कलापक्ष भी काफी आकर्षक है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार ध्वनि के विविध रूपों से लेकर चित्र काव्य जैसे ढंग की उक्तियाँ भी परिलक्षित होती हैं। अधिकतर भाषा सरल और अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। अलंकारों का मनोहर योग तथा कल्पना का भाव के साथ उचित सामञ्जस्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। छन्दों की योजना आकर्षक और नेयता अनिवार्य रूप से पायी जाती है।

इस प्रकार गीति काव्य की अनेक विशेषताएँ तथा मूल तत्त्व अपने प्रारम्भिक किन्तु विकासोन्मुख रूप में हमें ऋग्वेद में मिलते हैं। किसी-किसी उक्ति में तो गीति-काव्य के सभी तत्त्व पर्याप्त विकसित रूप में दीख पड़ते हैं जो अपवाद स्वरूप ही हैं, सामान्य प्रवृत्ति-जन्य नहीं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि ऋग्वेद का इस दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है। ऋग्वेद जहाँ अन्य अनेक प्रकार के ज्ञान का मूलस्रोत है वहाँ गीति काव्य का भी। क्या यह कम गौरव और विस्मय की बात है कि “अब से तीन सहस्र वर्ष से भी अधिक पहले भारतीय इतिहास के मुख-द्वार पर ही हमें कुछ ऐसे गीत्यात्मक काव्य के दर्शन होते हैं जो भारोपीय परिवार के साहित्यों में सर्वाधिक प्राचीन होते हुए भी भाव-सौन्दर्य, परिष्कार, तथा भाषा एवं छन्द विषयक कौशलपूर्ण योजना की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है।”¹ “यद्यपि काव्य गुणों के

1. On the very threshold of Indian literature more than three thousand years ago, we are confronted with a body of lyrical poetry which although far older than the literary monument of any other branch of Indo-European family, is already distinguished by refinement and beauty of thought, as well as by skill in the handling of language and metre.

(Macdonell, *History of Sans. Lit.*, page 29)

स्तर की दृष्टि से विविध सूक्तों में पारस्परिक अन्तर है तथापि समग्र रूप से देखने पर औसत पर्याप्त ऊँचा बैठता है ।¹

यजुर्वेद काल में संगीत-तत्त्व की विशिष्ट उन्नति हुई । यजुःसंहिता में वेद-गायकों का भी उल्लेख पाया जाता है ।² इन गायकों के प्रति स्त्रियों के आकर्षण की भी बात कही गयी है—

अगायन् देवाः सा देवाग्गायत उपावर्तत तस्माद् गायन्तस्त्रियः कामयन्ते कामुका एनग्यं स्त्रियो भवन्ति । (यजु० ६-१) । काठक-संहिता में एक कथा आयी है कि इयेन का रूप धारण कर गायत्री ने जब सोम का अपहरण किया तब गन्धर्वों ने उसे बीच में ही छीन लिया, देवताओं ने याचना की किन्तु गन्धर्वों ने कोई ध्यान नहीं दिया । इस पर देवताओं ने सोचा कि गन्धर्व स्त्री-कामुक होते हैं । अतः उन्होंने वाणी को स्त्री रूप में परिवर्तित कर एक चाल चली और गन्धर्वों से समझौता किया कि वह सोम सहित जिस पक्ष में चली जाय वही सोम का अधिकारी हो । गन्धर्व मान गये । देवताओं ने उसे आकृष्ट करने के लिए गायत्रियों का गान किया और गन्धर्वों ने वेद का । यह देवताओं के पास ही आयी । इसलिये स्पष्ट है कि स्त्री गायक को ही चाहती है वेदपाठी को नहीं ।³ यही बात मैत्रायणी संहिता में भी प्रकारान्तर से कही गयी है । उनमें लिखा है कि देवताओं ने गाथाएँ गायी थी और गन्धर्वों ने वेद । वह देवताओं के पास ही आयी । इसलिए विवाह में गाथाएँ ही गायी जाती हैं और गाने वाला स्त्रियों का प्रिय होता है—गाथां देवा अगायन् ब्रह्म गन्धर्वा अवबन्सता देवानुपावर्तत, तस्माद् विवाहे गाथा गीयते, तस्माद् गायन्तिस्त्रियाः प्रियः ।⁴ वाजसनेयी संहिता में गीत और शैलूय शब्दों का सम्बन्ध जोड़ा गया है ।⁵ शतपथ ब्राह्मण में भी आया है कि स्त्रियाँ आज तक भी निरर्थक बातों की ओर जाती हैं । अतः जो नाचता है, जो गाता है उसी को वे तत्काल चाहने लगती हैं—“तस्मादप्येतद् भोघसंहिता एव योषा । तस्माच्च एवं नृपति यो गायति तस्मिन्नेवेता निमिषलतम इव ।”⁶ इम्पीरियल गजटियर के अनुसार यजुर्वेद के समय तक कई प्रकार के पेशेवर गायक अस्तित्व में आ चुके थे और मौखिक संगीत प्रारम्भिक दणा से

1. The degree of literary merit in different hymns naturally varies a good deal, but the average is remarkably high.

(Macdonell, Vedic Reader for Students, Int., page 38)

The literary as well as the metrical skill with which the hymns of the Rigveda are composed, is considerable. (Imperial Gazetteer of India, page 211 Edn. 1909.)

2. उदकु भानधिनिधाय दास्या माश्लीयं परिनृत्यन्ति यथो निज्जतीरिदं मधु गायन्तो मधु दे देवानां परममन्नं यं परमेवन्नं यमवर्कं ये यथो निज्जन्ति मही यामेवेषु दधति । (यजुः संहिता ७-५)

3. काठक संहिता, २४।१ ।

4. मैत्रायणी संहिता, ३।७।३ ।

5. वाजसनेयी संहिता, ३०।६ ।

6. शतपथ ब्राह्मण, ३।२।४।६ ।

ऊपर उठ चुका था। सामगान की जटिल प्रणाली से यही प्रकट होता है।¹

सामवेद तो गाये जाने के लिए प्रसिद्ध ही है। बाण भट्ट ने ऋचाग्रों के उच्चरित होने, यजुर्मन्त्रों के पढ़े जाने और साम के गाये जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है—केचिद् ऋचः समुदचारयन् केचि यजुंष्यपठन् साम गायन् विस्वरमकरोत्।² महाभारत के वनपर्व में भी यज्ञावसरों पर साम के गाये जाने का उल्लेख है—

महदोषम्यं गीयते साम चाग्यं सम्यक् सोमः पीयते चात्र सत्रे ।

शुचीन् भगान् संजगृह्य च हृष्टाः साक्षाद्देवा जनकायोत राज्ञः ॥

सामवेद के १५४६ मन्त्रों में से केवल ७५ ही नये हैं। अवशिष्ट मंत्र ऋग्वेद से संगृहीत हैं जिनमें कुछ संगीत विषयक परिवर्तन कर लिये गये हैं—

(The Samaveda is, therefore, only the book of words employed by the special class of Udgatri-preists at the Soma sacrifice. Its stanzas assume their popular character of musical saman or chants only in the various song-books called ganas, which indicate the prolongation, the repetition, and the interpolation of syllables necessary in singing, just as is done in European Publications when the words are given bellow the musical notation. (Macdonell, History of Sansk. Literature. page. 171.)

स्वयं ऋग्वेद में पक्षियों का गायन साम के समान मधुर बताते हुए कहा गया है—

उद्गातेष शकुने साम गायसि ।

बहुपुत्र इव सवनेषु शंससि ॥ ऋ० वे० २।४३।२

छन्दोग्य उपनिषद् में स्वर की ही साम की गति बताया है—

का साम्नो गतिः । स्वर इति हो वाच । छा० उ० १।८।४

जैमिनीय सूत्र में गीतिषु सामाख्या सूत्र से स्पष्ट है कि गीति ही साम है। बृहदारण्यक उपनिषद् में साम शब्द की बड़ी ही सुन्दर व्युत्पत्ति दी गयी है—

सा च भ्रमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । (बृ० उ० १।३।२२)

अर्थात् सा शब्द का अर्थ है ऋक् और भ्रम का अर्थ है गान्धार आदि स्वर। अतः साम शब्द का व्युत्पत्ति-सूचित अर्थ हुआ ऋक् के साथ सम्बद्ध स्वर-प्रधान गायन—तथा सह संबद्धो भ्रमो नाम स्वरो यत्र वर्तते तत्साम । जिन ऋचाग्रों के ऊपर

1. By the time of Yajurveda several kinds of professional musicians existed : and that vocal music had already advanced beyond the most primitive stages appears from the some what complicated method in which the Samaveda was chanted (Imperial Gazetteer, page 127)

2. इषं चरित, प्रथमोच्छ्वासा ।

ये साम गाये जाते हैं वे सामयोजि के नम से बिरुपात है और सामसंहिता इन्हीं ऋचाओं का संग्रहमान है। अर्थात् सामवेद में सामोपयोगी ऋचाओं का ही संकलन है उन गान्धर्वों का नहीं जो साम के मुख्य वाक्य है। उनका संकलन तो 'मान-संहिता' में किया गया है।

नारदीय शिक्षा में सामगान के सात स्वरो का भी उल्लेख है—

यः सामगानां प्रथमः स वर्णो मध्यमः स्मृतः ।

योऽसौ द्वितीयो गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः ॥

चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत् ।

षष्ठो निषादो विज्ञेयस्सप्तमः पञ्चमः स्मृतः ॥

इसके अनुसार सामवेद का प्रथम मन्त्र निम्न निर्दिष्ट स्वरो में गाया जा सकता है—

ओ म इ । आ या हि इ वो इ तो या आ यि । तो या आ इ ।

सा मा स । गा गा ग रि मा म मा मा गा ग । मा मा गा ग ।

प्रो० लेवी का मत है कि सामवेद से प्रकट है कि वैदिक युग तक संगीत कला की पूर्ण उन्नति हो चुकी थी।

शतपथ ब्राह्मण में एक ऐसा भाव-सूत्र अधिगत होता है जो काव्य-जगत् में नख-शिख-वर्णन के रूप में प्रतिष्ठित होकर संस्कृत के ही नहीं इधर हिन्दी के भी कवियों के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बना। नारी-सौन्दर्य के आदर्शों की प्रतिष्ठापना सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में ही हुई। अग-प्रत्यङ्गों के गठन और आकार-प्रकार के सुवचिपूर्ण मापदण्डों की व्यवस्था हमें इसमें मिलती है। ऋग्वेद में नारी के सामूहिक शरीर-सौन्दर्य और समग्र आकर्षण की ओर ही सकेत किये गये हैं किन्तु यहाँ उमका विश्लेषण किया गया है—

एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विभूष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्या ।^१
पञ्चाहरीयसी पृथुश्रोणिरिति च योषां प्रशंसन्ति ।^२ एतन्नु च योषायै समृद्धं रूपं यत्
सुकपर्वा सुकुलोरा स्वोपशा ।^३ तस्माद् रूपिणि युवतिः प्रिया भावुका ।^४

अर्थात् इस प्रकार की स्त्री की प्रशंसा करते हैं जो पुष्ट जघनों वाली हो जिसका (छाती से ऊपर का) स्कन्धों के बीच का भाग कुछ तंग हो और जिसका मध्य भाग (उदर) संग्राह्य (हाथ में पकड़ा जा सकने वाला) हो। जिसका श्रोणी भाग पीछे से विशाल हो उस स्त्री की प्रशंसा करते हैं। स्त्री का समृद्ध रूप यही है

1, *Le Theatre Indian*, page 350, Paris 1890, तथा काव्य *Sansk. Drama*, page 15.

2. शतपथ० १।२।५।१६ ।

3. वही, ३।५।१।१२ ।

4. वही, ६।५।१।१० ।

5. वही, १३।१।६।६ ।

कि वह सम्झे केशपाश वाली, सुन्दर मस्तक वाली तथा सुजघना हो। इन्द्रलिये रूपवती स्त्री ही पुरुषों को प्यारी होती है।

इस प्रकार अनुसन्धान करने पर वैदिक साहित्य में यत्र तत्र अनेक काव्यमय एवं काव्योपयोगी स्थल मिल जाते हैं। प्रकृति-सुन्दरी का भालम्बन रूप में मनोहर चित्रण ऋग्वेद में हुआ है जो निःसन्देह उसी कोटि का आनन्द प्रदान करने में समर्थ है जिस कोटि का आनन्द हमें काव्य-कला के निदर्शन ग्रन्थों का अध्ययन करने से प्राप्त होता है। उसमें भावुकता है, अलङ्कार है और भाषा की सरसता है जो किसी भी काव्य को आह्ला बनाने की क्षमता रखती है, फिर भी वह प्रकृति का काव्य है— उस प्रकृति का जो विभिन्न देवताओं के रूप में मानव-हृदय में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अतः उसमें उपासना और स्तुति है। वह धार्मिक है। सेव्यूलर अथवा धर्म-निरपेक्ष स्थल अपवाद स्वरूप ही हैं और समूचे साहित्य के कलेवर में आकार की दृष्टि से नगण्य से हैं। मानवीय भावनाओं को उद्बुद्ध करने वाले अनेक स्थलों के होते हुए भी, जिनमें कहीं-कहीं गीतिकाव्य की भाव-सान्द्रता परिलक्षित होती है, सामान्य रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक साहित्य का उद्देश्य भावोद्बोध ही है अथवा वह रसात्मक काव्य है।¹

साहित्य की सुरक्षा के साधनों के अभाव में—मुद्रण और लेखन-कला का प्रचार न होने के कारण—यह धार्मिक साहित्य मौखिक परम्परा की सजीवनी पाकर ही जीवित रह सका। संहिता-पाठ, पद-पाठ, जटा-पाठ आदि का विधान कर इसको अविच्छिन्न रखने के अमोघ प्रयत्न किये गये क्योंकि अपौरुषेय समझी जाने वाली वेद-वाणी में मानव द्वारा विहित प्रक्षेप अथवा स्खलन अमृत रस में विष-मिश्रण का ही कार्य करते। धार्मिक दृष्टिकोण से उसका बड़ा महत्त्व है। वैदिक साहित्य के आधुनिक अध्येता के हृदय में इस प्रश्न का उठना नितान्त स्वाभाविक है कि क्या उस युग में धर्म निरपेक्ष कविता की रचना अपवाद स्वरूप ही थोड़ी बहुत होती थी अथवा उसका अनुपात कुछ अधिक था। समाज में धार्मिक अथवा दार्शनिक विचारधारा का प्राधान्य होते हुए भी तदतिरिक्त मनोवृत्तियों की आत्यन्तिक कुण्ठा किसी भी युग में संभव नहीं है। ऋग्वेद के जिन भावमय स्थलों की ओर पिछले पृष्ठों में संकेत किया गया है वे इस बात के प्रमाण हैं कि इस प्रकार की रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में हुई होंगी। कोई पारलौकिक महत्त्व न होने के कारण उनके रक्षण की आवश्यकता नहीं समझी गयी और वे सामयिक साहित्य की स्वाभाविक मौत भर गयीं। ऋग्वेद में धर्म-निरपेक्ष विषयों पर आधृत कई सूक्त मिलते हैं।² इन्द्र के

1. This poetry has for its theme the beauty of nature and although its appeal to emotion is undoubted, it does not make emotion its subject matter.

(Prof. Hiriyanna, Sanskrit Studies, page 3)

2. विवाह १०।८५, अन्त्येष्ट १०।१५।१८, पौरुषिक संवाह ५।६२, १०।५१, ५२।८१।१०८, १०।१५, १०।११, उपदेरात्मक १।१२, १०।७१, १०।११७, पहिलियाँ १।१६५, १०।१२१, अर्धेतिहासिक १।१२६।

साहसपूर्ण कृत्यों को देव-स्तुति ही मानकर इस कोटि में न भी रखा जाय तो भी सुदास आदि राजाओं की वीरता का वर्णन तो इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता ही है कि वीर-गीतों की भी एक अपनी परम्परा उस युग में रही होगी।¹ वीर गीतों की ही क्यों ? उर्वशी पुरुरवा, मम-यमी, आदि के उपाख्यानों तथा अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत आहित अनेक उपमानों से शृङ्गारिक तथा अन्य भावनाओं से सम्बद्ध वर्णनाओं का भी सहज अनुमान लगाया जा सकता है। ऋग्वेद के विविध आख्यानों और नारायणियों में पौराणिक आख्यानों का पूर्व रूप सुरक्षित है। इन सभी प्रकार की रचनाओं में बाह्य मानवीय व्यापारों का ही वर्णन अधिक है। वही कवि का विवर्जित भी है। आन्तरिक भावों का चित्रण तो आनुषङ्गिक ही है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस युग के कवि का उद्देश्य या तो प्रकृति वर्णन था या मानवीय व्यापारों का वर्णन। अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति का विकास अभी नहीं हो पाया था। ऋग्वेद में गीतिकाव्य की श्रेणी में रखे जाने योग्य जिन कतिपय ऋचाओं का उल्लेख अथवा उद्धरण पीछे किया गया है उन्हें केवल अपवाद स्वरूप ही समझना चाहिये। अन्तर्दर्शन या भाव-प्रभिव्यञ्जन का आग्रह अपेक्षाकृत बाद की प्रवृत्ति है। वैदिक साहित्य के अध्येता को यद्यपि समस्त उत्तरवर्ती दर्शनों के मूलबीज ऋग्वेद में पा सकते हैं, इस दृष्टि से वेदों का दार्शनिक महत्त्व भी है किन्तु परिनिष्ठित दर्शन परम्परा में उनका स्थान उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। विद्वानों ने भाषावैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से ऋग्वेद को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति का उदय और विकास समय के साथ-साथ हुआ। भारतीय दर्शन और धर्म के विकास का इतिहास इस कथन की पुष्टि करता है। भारतीय दर्शन का मूल तत्त्व ब्रह्म है जिसका सम्बन्ध प्रारम्भ में बाह्य जगत् से ही रहा। उसका प्रसार सारे संसार में बताया गया और उसे अधिक बुद्धिप्राप्त बनाने के लिए जो उपमाएँ दीं वे भी उसके स्थूल जगत् से ही संबद्ध होने की पुष्टि करती हैं², परन्तु विचारों के विकास के साथ यह धारणा भी परिवर्तित हुई और ब्रह्म का सम्बन्ध आत्मा से—जिसे साधारण भाषा में अन्तरात्मा कहा जाता है—जोड़ा गया। सम्बन्ध ही नहीं उमके साथ उसकी एकता प्रमाणित कर अभेद भी सिद्ध किया गया। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी मनुष्य बाहर से भीतर की ओर उन्मुख हुआ। प्रारम्भ में उपास्य शक्ति अथवा तत्त्व को देव कहा जाता है जो दिव् घातु से बना है। सायण आदि आचार्यों ने अपने आर्थों में देव के पर्याय शोभमान द्योतमान आदि दिये हैं। यह

1. By the side of these sacred hymns there must very early have sprung up secular poetry in the shape of epic tales and battle songs. There is allusion in ancient Sanskrit literature to the practice of professional minstrelles entertaining ever-ready listeners in courts and hermitages by reciting such poetry to the accompaniment of music. It is poetry of this kind that should have furnished the chief material of the latter epic writers and the Mahabharat in particular should have been built up largely out of such songs.

(Prof. Hiriyanna, Sanskrit Studies, page 3)

2. देखिये, ऋग्वेद का पुरुष सूक्त।

संज्ञा इस बात की सूचक है कि प्रारम्भ में अतिमानवीय (divine) शक्ति का विचार प्रकृति के बाह्य रूपों से गृहीत हुआ। ऋग्वेद में इन्हीं प्राकृतिक तत्त्वों की देवरूप में उपासना की गयी है। बाद में देव-शब्द-वाच्य शक्ति के लिए ईश, ईश्वर और अन्तर्यामी शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा और विश्वास किया गया कि वह मानव के हृदय में स्थित रह कर उसे प्रेरित करता है।¹ बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर क्रमशः उन्मुख होने की इस प्रवृत्ति की पुष्टि उपनिषद् में आई हुई बालाकि और अजातशत्रु की कथा से भी होती है। बालाकि एक अत्यन्त विद्वान् किन्तु अभिमानी व्यक्ति था। एक बार वह बाराणसी के राजा अजातशत्रु के पास पहुँचा और उसे ब्रह्मविषयक शिक्षा देना उसने स्वीकार किया। अजातशत्रु ने प्रसन्न होकर उसका स्वागत किया और उसे अपनी सभा में रखना चाहा क्योंकि उस समय सभी पण्डित मिथिला के राजा जनक के यहाँ चले जाते थे तथा उसी को अपना सरक्षक स्वीकार करते थे। अजातशत्रु ने सौ गार्थ देकर बालाकि का सम्मान किया और बालाकि उसे शिक्षा देने लगे। उन्होंने ब्रह्म की परिभाषा कर उसे बार-बार समझाने का प्रयत्न किया। उसे कभी सूर्य का तो कभी चन्द्रमा, विद्युत्, मरुत् अग्नि आदि का सार बताया। वह बार-बार समझाने का प्रयत्न करता किन्तु राजा हर बार उसकी परिभाषा का प्रत्याख्यान यह कहकर कर देता कि “वास्तविक ब्रह्म को जानने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है। अन्तर्गतत्वा बालाकि को चुप हो जाना पड़ा और राजा स्वयं ही ब्रह्म की व्याख्या करने लगा। वह बालाकि का हाथ पकड़ कर उठा और एक ऐसे व्यक्ति के पास ले गया जो प्रगाढ़ निद्रा में मग्न था। राजा ने उस प्रसुप्त व्यक्ति को नाम लेकर पुकारा किन्तु वह नहीं उठा। इस पर उसने उसे हाथ से भकभोर कर उठा दिया और कहा—यत्रैव एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैव तदाभूत् कुत एतदागात् इति। “बालाकि कुछ उत्तर न दे सके। तब फिर अजातशत्रु ने कहा—“यत्रैव एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेवा प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिच्छेते तानि यदा गृह्णाति अथ हैतुपुरुषः स्वपिति नाम। तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुर्गृहीतं मनः।² क्वैव एतद्गालाके पुरुषोऽशयिष्ठ क्वैतवभूत् कुत एतदागादिति। अजातशत्रु के इस प्रश्न का उत्तर बालाकि न दे सके। तब अजातशत्रु ने कहा—यत्रैव बालाके पुरुषोऽशयिष्ठ यत्रैतभूद्यत एष आगादिति। हि ता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीतमभि-प्रतन्वन्ति तद्यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावद्वयः पिङ्गलस्याग्निमा तिष्ठन्ति।³

इस प्रकार सूर्य, विद्युत् आदि बाह्य जगत् में दृश्यमान पदार्थों से प्रारम्भ

1. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ गीता ।
2. बृहदारण्यकोपनिषद्, २।१।१७ ।
3. कौशीतकी ब्राह्मणोपनिषद्, ४।१.६ ।

होकर ब्रह्म की व्याख्या हृदय-जगत्परक होने लगी। यह स्पष्टतः अन्तर्दृष्टि का ही परिणाम था। उपनिषदों का गम्भीर ज्ञान जो पूर्णतया बौद्धिक-साम्राज्य के अन्तर्गत है और जिसका लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति था, इसी प्रवृत्ति का फल था। आधुनिकता का प्राधान्य स्वीकार कर मोक्ष-साधन पर बल देने वाले युग का विचारक-वर्ग इसका उत्कर्ष स्वीकार करता, यह स्वाभाविक ही था किन्तु मानव के अन्तर् में केवल बुद्धि ही नहीं, हृदय भी है। हृदय की शाश्वत वृत्तियों—प्रेम, द्वेष, घृणा, क्रोध आदि—का भी अपना महत्त्व है। बुद्धि एवं हृदय के द्वन्द्व में सभी अवसरों पर बुद्धि की ही विजय होती हो, यह हो ही नहीं सकता। (तथ्य यह है कि हृदय की विजय पर्याप्त मात्रा में होती है) प्रश्न यह है कि क्या उपनिषत्काल में मानव की समूची चेतना ज्ञान-क्षेत्र में ही केन्द्रित हो गई थी और अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति इसी दिशा में उन्मुख हुई अथवा भावपक्ष की ओर भी। परलोक के उच्च आदर्श को देखने वाली दृष्टि कभी-कभी तो इह लोका पर भी पड़ती हो होगी। ऋग्वेद के धर्मनिरपेक्ष काव्यस्थलों द्वारा प्रमाणित परम्परा के लुप्त हो जाने का कोई कारण नहीं। धार्मिक साहित्य-परम्परा के समानान्तर वह भी अवश्य चलती रही होगी। कम से कम तत्कालीन जनभाषा में तो अवश्य ही वीरगीत तथा अन्य प्रकार के गीतों का प्रचलन रहा होगा।¹

ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्तों में ही इस भाषा का प्रभाव मिलना प्रारम्भ हो जाता है जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया यहाँ तक कि साहित्यिक भाषा का स्वरूप बिलकुल ही परिवर्तित हो गया। बाल्मीकि ने इसी भाषा को अपनी रचना का माध्यम बनाया और पाणिनि ने इसका परिमार्जन कर संस्कृत रूप प्रदान किया। अभिप्राय यह है कि उपनिषत्काल में भी पूर्व वैदिक युग की ही भाँति धर्म तथा दर्शन के अतिरिक्त साहित्य की सृष्टि भी किसी न किसी रूप में अवश्य होती रही होगी और युग की अन्तर्दर्शन-प्रवृत्ति का प्रभाव इस पर भी पड़ा होगा। कौन जानता है कि ज्ञानवात्ताओं के दूर-दौरे के कारण तद्विषयक कृतियों की ही सुरक्षा-व्यवस्था की जा सकी हो और तदतिरिक्त साहित्य का लोप हो गया हो। काव्य शैली का स्वरूप उपनिषदों में अनेकत्र दृग्गोचर होता है। उदाहरणार्थ कठोपनिषद् को ही ले लीजिए जिसमें वेदान्त के उच्च सिद्धान्तों का काव्यात्मक सरस शैली में प्रतिपादन किया गया है। मैक्समूलर के अनुसार इंगलिश, फ्रेञ्च तथा जर्मन लेखकों की दृष्टि में यह प्राचीन हिन्दू-दर्शन तथा काव्य के नितान्त पूर्ण उदाहरणों में से है।² मैक्समूलर ने

1. Songs and ballads must indeed have been produced in the popular dialect of the day. (Prof. Hirianna, Sanskrit Studies p. 5)

The tradition of a non-religious literature was already there from remote antiquity surviving through long centuries as a strong under-current and occasionally coming to the surface in the more conventional literature—S. K. De & S. N. Das Gupta. (A Hist. of Sansk. Lit., p. 3)

2. It has been frequently quoted by the English, French and German writers as one of the most perfect specimens of the mystic philosophy and poetry of the ancient Hindus.

भी इसमें आत्मा के कवित्वपूर्ण वर्णन का उल्लेख किया है और कुछ पद्यों का अंग्रेजी अनुवाद भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।¹ अस्तु कहने का तात्पर्य यह है कि कालान्तर में काव्य जगत् में भी बाह्य जगत् के साथ-साथ अन्तर्जगत् के चित्रण को भी स्थान मिला और धीरे-धीरे वही उसका उद्देश्य बन गया।²

वाल्मीकि-रामायण

वाल्मीकि-रामायण के प्रारम्भ में आयी हुई कथा में, जो उसके जन्म की परिस्थितियों पर प्रकाश डालती है, उक्त परिवर्तन का अत्यन्त स्पष्ट संकेत मिलता है। वाल्मीकि दिव्य नायक राम के चरित को तदुचित ढंग से वर्णित करना चाहते थे। यह विचार बराबर उनके मस्तिष्क में घूम रहा था कि एक दिन वे प्रतिदिन की भाँति मध्याह्न संध्योपासन के लिए तमसा के तट पर गए जहाँ उन्होंने अपने समीप ही केलि-रत क्रीडकर्मिणी मे से क्रीडक का वध एक व्याध के हाथों देखा। क्रीडकी व्याध-विह्वल होकर विलाप करने लगी। वाल्मीकि के हृदय में इस दृश्य ने करुणा का प्रबल प्रवाह प्रवाहित कर दिया जो सहसा ही निष्ठुर व्याध के प्रति अभि-शाप बनकर इन शब्दों में व्यक्त हुआ :—

मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः प्रावर्ततेः समाः ।

यत्क्रीडकमियुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इस कथा के रोमाण्टिक तत्वों की उपेक्षा करते हुए हम केवल इस का सार ग्रहण करके भी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण के साथ संस्कृत में एक नये युग का प्रारम्भ होता है जिसमें काव्य का मूल आधार मानवीय मनोभावों को स्वी-कृत कर लिया गया और कालान्तर में उन्हीं के अभिव्यञ्जन के आधार पर कवि की सफलता असफलता कूती जाने लगी। इस युग के प्रवर्तक होने के कारण ही वाल्मीकि आदि कवि की पदवी ने विभूषित हुए और यह कहना असंगत न होगा कि आगे चलकर जो तत्त्व भारतीय काव्य-शास्त्र में रस' के नाम से प्रतिष्ठित हुआ उसकी ओर सर्वप्रथम वाल्मीकि ने ही संकेत किया। निःसन्देह वे ही क्लासिकल संस्कृत साहित्य के भोर-नक्षत्र थे। रामायण के प्रारम्भ में ही उक्त कथा का समा-वेश कर उन्होंने स्पष्ट रूप से पहले ही उस तत्त्व को सामने रख दिया जो उनके विचार से काव्य का सेन्ट्रल थीम कहा जा सकता था।³ उत्तरवर्ती कवियों ने उन्हीं को आदर्श मानकर अपनी कलाकृतियों की सृष्टि की और, जैसा कि अनेक पाश्चात्य

1. (Macdonell, *Hist. of Sans. Litert*, p. 220)

2. But in course of time a far-reaching change was introduced which gradually altered the very complexion of Indian poetry.

(Prof. Hiriyanna, *Sanskrit Studies*, p. 3)

3. For the first time, so far as our knowledge goes, emotion was deliberately adopted as the subject-matter of poetry.

(Prof. Hiriyanna, *Sanskrit Studies* p. 5)

विद्वान् भी मानते हैं, (जान ड्रिड्ज वाटर का मत पिछले अध्याय में दिया जा चुका है) इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि काव्य के वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से ही किये गए हैं, यह कहना अनुचित न होगा कि वाल्मीकि की रचना के पश्चात् संस्कृत की कविता में उत्तरोत्तर वर्णनात्मकता का ह्रास तथा गीति-तत्त्व का समावेश होता गया जिसका चरम विकास कालिदास-सदृश रस-सिद्ध कवियों की रचनाओं में मिलता है। कालिदास का कुमारसंभव प्रबन्ध काव्य होता हुआ भी गीति-काव्य के अधिक निकट है। उसमें इतिवृत्त की गौणता से प्रतीत होता है कि जैसे कवि का उद्देश्य वस्तु-वर्णन है ही नहीं अपितु वह अन्तःप्रेरित, स्वतः प्रस्फुटित भाव धारा को सामने लाने के लिये विवश हो उठा है, भवभूति के नाटको का तो गद्य भी गीतिसदृश भाव-प्रवण है और उन्हीं की अनुभूति की विभूति है।

नये युग के प्रवर्तक होते हुए भी वाल्मीकि पुराने युग की परम्पराओं से अपने आपको एक दम विच्छिन्न नहीं रख सकते थे। अतः बाह्य दृश्य का विशद वर्णन भी उनके काव्य में मिलता है। उनमें न तो ऋग्वेद के समान बाह्य जगत् का ही वर्णन है और न ही कालिदास की कृतियों के सदृश गीतितत्त्वप्रधान भाव-सान्द्रता। उनकी रचना में सधियुग की विशेषताओं का प्रतिफलन स्वाभाविक ही है। स्थूल रूप से वाल्मीकि से लेकर कालिदास तक का समय सश्रमण काल कहा जा सकता है। नई कविता के गुण, जिनकी स्थापना वाल्मीकि ने की थी, कालिदास की रचना में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हुए हैं।

इस पुरानी और नई कविता के चरम लक्ष्य में विभिन्नता नहीं है। दोनों का ही उद्देश्य काव्यानन्द की प्राप्ति कराना है, केवल ढंग अपने अपने हैं। एक बाह्य वर्णन द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँचती है और दूसरी मनोदशाओं के चित्रण द्वारा। इस परिवर्तन का अर्थ यह नहीं है कि नये कवि का ध्यान प्रकृति से उठकर मानव पर ही केन्द्रित हो गया था अपितु यह कि उसने मनुष्य के बाह्य स्वरूप एवं प्रकृति चित्रण को साध्य न मानकर मानव के अन्तस् की अभिव्यक्ति को मूर्त रूप देने का साधन स्वीकार किया। सामग्री दोनों की बहुत-कुछ एक ही थी, केवल उपयोग-पद्धति में अन्तर आया। आज के आलोचक को इस नवीन कवि से यह शिकायत है कि उसने वैदिक ऋषियों के समान प्रकृति का स्वतन्त्र रूप में चित्रण नहीं किया। कारण यह है कि क्योंकि नया कवि मनोभावों को ही कविता का भीम मानकर चला था अतः प्रकृति को उसने पृष्ठ भूमि के रूप में ही ग्रहण किया। यह कहना उचित न होगा कि नये कवि ने प्रकृति की उपेक्षा की अथवा प्रकृति के प्रति उसका राग कुण्ठित हो गया था; क्योंकि प्रकृति का चित्रण उसने किया है और उत्साह के साथ किया है। पर वह केवल प्रकृति चित्रण के लिये ही नहीं है अपितु वातावरण की सृष्टि के लिये है जो प्रमाता के हृदय को व्यञ्जनीय मनोभाव के ग्रहण करने के लिये तैयार ही नहीं उत्सुक भी कर देता है। कालिदास के मेघदूत में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त व्यापक तथा मोहक है परन्तु ऋग्वेद के उद्यच्चित्रण के समान वह

केवल अपने आप में ही नियमित नहीं है बल्कि यस की वियोग-व्यथा पर गम्भीरता का सघन आवरण डालता हुआ पाठक की तादात्म्य अनुभूति में सहायक होता है। बभ्रुजान शाकुन्तलम् में कण्व के आश्रम का चित्रण किसी भी प्रकृति चित्रण के समकक्ष रखा जा सकता है परन्तु यह प्रकृति के बाह्य रूप की ही भाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं है। इस का मुख्य उद्देश्य है उस सहज सौम्य वातावरण की सृष्टि जो एक और नो नागर दुष्यन्त को शकुन्तला की वन्य सुकुमारता का अनन्यपरायण बना देता है और दूसरी ओर कण्व एवं उनके तपोधन शिष्यों के हृदय की पवित्रता, सौम्यता, शमप्रधानता तथा तेजस्विता का परिचय देता है। प्रकृति यदि आश्रमवासियों के हृदय पर छापी हुई है तो उनकी पावन मनोवृत्तियाँ प्रकृति पर छापी हुई हैं जिससे उसके जगली रूप का तिरोधान हो गया है और वह सधी हुई सी आश्रमवासियों के साथ कदम मिला कर चलती हुई जात होती है। भानव-भावों से अलग रखकर अब प्रकृति का वर्णन किया जाता है तब वह नये दृष्टिकोण के अनुसार मनोभावों को तीव्र नहीं कर पाती, ह्रीं हृदय में प्रसुप्त उल्लास को एक हल्की सी थपकी अवश्य दे देती है। इसलिये उस स्थिति में उसे स्वभावोक्ति अलंकार ही माना जायेगा। प्रकृति विषयक दृष्टिकोण के सद्ग ही मानवीय विचारों और व्यापारों में भी परिवर्तन हुआ। अर्थात् प्रकृति के समान काव्य के बाह्य ढाँचे से ही इनका भी सम्बन्ध रहा, काव्य की आत्मा मनोभाव या रस को स्वीकार किया गया और ये उसकी प्रतीति कराने वाले साधन ही बने। इस सिद्धान्त के अनुसार भाव-व्यतिरिक्त सामग्री का विभाव एवं अनुभाव के रूप में वर्गीकरण किया गया। प्रकृति पहले वर्ग में तथा मानव व्यापार आलम्बनगत होने पर तो प्रथम वर्ग में और आश्रयगत होने पर द्वितीय वर्ग में रखे गए। इस प्रकार काव्य की महत्ता का ऋग्वेदकालीन प्रमुख मापदण्ड क्लासिकल युग में गौण हो गया। मनोभावों को प्रधानता मिली और इसका विवेकपूर्ण संकेत सर्वप्रथम वाल्मीकि ने किया।¹ डा० एस० एन० दास गुप्त के अनुसार वाल्मीकि ने प्रकृति को प्रायः उसके वास्तविक स्वरूप में देखा है। मानव के प्रति प्रकृति की उपयोगिता का आभास उनके काव्य में कम मिलता है।² प्रश्न यह है कि कम ही सही, प्रकृति की उपयोगिता का

1. The poet has also utilised some moods of nature to depict the psychological states of the characters. In Kalidas, this aspect of the art has reached its culmination; but, as far as I know, Valmiki appears to be its progenitor.....He laid the foundation of the great art of depicting nature in her various moods and drawing from echoes of all human emotions from the simplest to the most complex. On reading the Ramayan, one feels that Valmiki is among those pioneers who have civilized nature and made her the perennial source of aesthetic delight.

(P. T. Narsinhachar, *Siddha Bharati* VI. 1, pp. 249).

2. But when Valmiki looks at nature, his general emphasis is on the realistic aspect of nature. The aspect of its utility to man is thin and shadowy. Dr. S. N. Dasgupta, *Introduction to the History of Sanskrit Literature* 137.

आभास मिलता तो है ? और यही आभास आगे के कवियों में खुल कर प्रकट हुआ है जिसे डा० दास गुप्त ने भी स्वीकार किया है ।¹ साहित्य के क्षेत्र में इस अन्त-रन्मुखता का, जो संस्कृत साहित्य में सामान्य रूप से कविता-मात्र तथा पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार विशेष रूप से गीति काव्य का प्रमुख तत्त्व है, सूत्रपात करने के कारण वाल्मीकि का गीतिकाव्य के विकास में अप्रत्यक्ष योगदान स्पष्टतया भासित होता है । निपाद के प्रति उनकी शाप-वाणी स्वयं गीति काव्य का अच्छा उदाहरण है जिसमें उनके अगाध मानस का बिक्षोभ व्यक्त हुआ है ।

वाल्मीकि द्वारा सकेतित इस प्रवृत्ति का विकास धीरे-धीरे हुआ । भाव और रस का शास्त्रीय विवेचन तो बाद की वस्तु है किन्तु व्यावहारिक रूप में कालिदास के समय तक यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो गया प्रतीत होता है क्योंकि कालिदास की कृतियों में मनोवृत्तियों का प्रभविष्णु चित्रण ही नहीं हुआ अपितु उन्हें पूर्णतया आधार बनाया गया है । उनसे पहले कवियों की कृतियाँ, जो संक्रमण काल की उपज थीं, कालिदास की सर्वप्रिय रचनाओं से जीवन-सघर्ष के क्षेत्र में समग्रतया अभिभूत हो गयी । इन्हे प्रतिलिपि करके जीवित रखने के लिये उपयुक्त आकर्षण इनमें नहीं दीम्ब पड़ा जिससे उनका लोप हो गया किन्तु इन रचनाओं के जो सूत्र कालिदास-पूर्व साहित्य में उपलब्ध होते हैं वे उक्त सिद्धान्त के समर्थन के लिये पर्याप्त गशक्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । इस विषय पर अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा ।

इस प्रकार व्यावहारिक रूप में सत्कवियों द्वारा काव्य में रस अथवा भाव के आधारशिला रूप में प्रतिष्ठित हो जाने तथा उसके निर्वाह की अक्षुण्ण परम्परा को लक्ष्यकर लक्ष्यप्रत्येरेव लक्षणव्यवस्था के अनुसार उसे काव्यशास्त्र में स्थान मिला । भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रस को नाटक का तत्त्व मानकर रस-निष्पत्ति का उल्लेख किया² तथा आठ रसों को मान्यता दी :—

भृङ्गारहास्यकण्ठरौद्रवीरभयानकाः ।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ वैद्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

भरत की इस कारिका में आया हुआ स्मृताः शब्द इस बात का संकेत करता है कि रस-सिद्धान्त उनसे भी पुराना है और उनके पूर्व इसके आचार्य हो चुके होंगे

1. In the Ramayan, for example, Valmuki in describing the situation of Rama in his separation from Sita and in contrasting it with the state of Sugriva describes sorrow of Rama.....but as we proceed onwards we find that gradually nature begins to rise to the human level and after its practical utility to man is emphasised...that is in the Ritusamhar of Kalidas.

2. सुदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं, जनपद-सुखोध्यं युक्तिमन्तुल्ययोज्यम् ।

बहुकृतसमार्गं सन्निधेयानयुक्तं, स भवति शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकायाम् ॥

नाट्यशास्त्र (१६-११८)

जिनके मत का भरत ने अनुवाद मात्र किया है।¹ परन्तु बहुत दिनों तक रस का सम्बन्ध नाटक से ही माना जाता रहा और व्यवस्थित रूप में काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ध्वन्यालोक के समय तक वह सामान्य रूप से काव्य का विषय नहीं बन सका।² अग्निपुराणगत काव्य-लक्षण में रस की पूर्णरूपी उपेक्षा की गयी है।³ उसमें अलङ्कार और गुण के समावेश तथा दोष राहित्य पर ही बल दिया गया है। भामह ने रस को काव्य में स्थान तो दिया परन्तु बहुत ही गौण। उन्होंने अलङ्कार को काव्य की आत्मा मानकर रस को रसवत्, प्रियम् तथा ऊर्जस्वित् अलंकारों में अन्तर्भूत कर दिया। दण्डी ने कुछ अधिक महत्त्व अवश्य दिया और अलङ्कार शब्द के अन्तर्गत गुण तथा रीति के साथ-साथ रस को भी स्थान दिया। वामन कुछ और आगे बढ़े। उन्होंने दीप्तिरसत्वं कान्तिः कहकर उसे कान्ति गुण का मूल तत्त्व स्वीकार किया। मद्रट ने इस को रूपक (नाटक) तक ही सीमित न मान कर काव्य मात्र के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतिपादित किया और उसे अलङ्कारों में न रख कर काव्य के निम्ने आवश्यक बताया।⁴ अन्त में आनन्दवर्धन ने काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति कथितः गान्ते हुए भी काव्य का प्रेरक रस अथवा भाव (Emotion) को ही स्वीकार किया :—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चाविकवेः पुरा ।

क्रौञ्चहृद्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥⁵

इस प्रकार आदि कवि द्वारा सकेतित तत्त्व क्रमशः अपना पथ प्रशस्त करता हुआ स्पष्ट रूप से काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। वाल्मीकि के रस भाव तत्त्व की ओर सकेत करते हुए महाकवि कालिदास ने भी उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट की है।⁶

यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि स्वयं वाल्मीकि के काव्य में इसका कहाँ तक समावेश हुआ है ? वाल्मीकि का काव्य महाकाव्य माना जाता है। वह संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध काव्य में इतिवृत्त अथवा घटनाओं का पर्याप्त महत्त्व स्वीकार किया गया है। कथा-वस्तु का निर्वाह ठीक न होने पर उसका महत्त्व निश्चय ही कम हो जाता है, फिर भी भावात्मकता उसका

1. देखिये, सर आशुतोष मुखर्जी सिलवर जबली बाल्यूम ३ में संकलित The theory of Rusa in Sansk. Poetics.

2. History of Sanskrit Poetics, (P. V. Kane) pp.341.

3. संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थं, व्यवच्छिन्ना पदावली ।

काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवदोषविवर्जितम् ॥ (अग्नि पुराण ३३६,७)

4. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैयुक्तम् । (काव्यालंकार)

5. ध्वन्यालोक, १।५ ।

6. तामभ्यगच्छदुदितानुसारी, कविः कुशोष्मावरणाय यातः ।

निषादविद्यायजदशरथोत्थः, श्लोकत्वमापन्नत यस्य शोकः । रघुवंश १४।७ ।

भी अपरिहार्य गुण है। वाल्मीकि ने अनेकत्र बाह्य प्रकृति एवं मानव व्यापारों को मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया है। राम को अयोध्या लौटा लाने के अपने सद्बोधों में असफल होकर भरत अयोध्या लौटते हैं। उनके हृदय में निराशा भरी है, सूनूपन का अनुभव उनके हृदय को कचोटता है। उनके मन की यह दशा अयोध्या के ऊपर वातावरण बन कर छा जाती है, और इधर अयोध्या भी दशरथ की सम्राज्ञी की ही भाँति उनके शोक और राम के वियोग में गहरी व्यथा से विधुर होती हुई निश्चोक बन गई है। वाल्मीकि के ही शब्दों में:—

अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविशेत् महायशाः ।

विद्यालोलूकचरितामालीननरवारणाम् ॥

तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ।

राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम् ॥

ग्रहेणाभ्युदितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ।

अल्पोष्णक्षुब्धसलिलां धर्मतप्तविहङ्गमाम् ॥

लीनमीनभ्रष्टग्राहां कृशां गिरिनीमिव ।

विधूमांश्च हेमाभां शिखामग्नेः समुत्थिताम् ॥

हविरभ्युक्षितां पद्मचिच्छिन्नां विप्रलयं गताम् ।

प्रशान्तमास्तोद्भूतां जलोमिमिव निःस्वनाम् ॥

सहसा चरितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयोद्गताम् ।

संहतछूतिविस्तारां तारांश्च दिवश्च्युताम् ॥

पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरशालिनीम् ।

द्रुतबावाग्निविप्लुष्टां क्षतान्तां वनलतामिव ॥

अयोध्या संप्रविश्यैव निवेश वसति पितुः ।

तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥¹

शीघ्र ही महायशस्वी भरत ने अयोध्या में प्रवेश किया जिसमें बिलाव और उल्लू सक्रिय थे, मनुष्य और हाथी दृष्टि नहीं पड़ते थे। वह अन्धकार में आहत उस प्रकाशहीन निशा में प्रतीत होती थी जिसमें किसी अकस्मात् उदित ग्रह ने चन्द्रमा की श्रीसम्पन्न देदीप्यमान प्रिया रोहिणी को ग्रस लिया हो, उस कृश पर्वतीय नदी के समान थी जिसमें स्वल्प सा उष्ण जल रह गया हो और मत्स्य तथा ग्राह विलीन हो गये हो एवं विहग-गण धूप से तपकर कष्ट पा रहे हों ; उस धूम-विहीन स्वर्णाभ अग्नि की शिखा के समान प्रतीत होती थी जो बाद में हवन नामग्री से दबकर विलीन हो गयी हो। वह शान्त वायु द्वारा उठाई हुई जल-लहरी के समान मीन थी। पुण्य-क्षय होने पर अपने स्थान से भ्रष्ट पृथ्वी और आकाश से गिरी हुई प्रभा-विहीन तारा जैसी प्रतीत होती थी। उसकी दशा वसन्त ऋतु के अन्तिम चरण में फूलों से लदी और मदमाते भीरों से सुशोभित उस वन लता के समान थी जो सहसा दावाग्नि से

भुलसकर मलीन हो गई हो। राजा दशरथ से हीन अयोध्या सिंह-रहित गुहा के सदृश लग रही थी।

भरत के हृदय का शोक और निराशा अयोध्या के चित्रण में साकार हो उठे हैं। अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत विशिष्ट स्वरूप वाले उपमानों द्वारा कवि ने विषादमय वातावरण की सृष्टि की है जिसमें प्रकृति मानवीय मनोभावों की पृष्ठ-भूमि का कार्य करती हुई दिखाई पड़ती है। वह एक अनिवर्चनीय गहन संवेदना से ओत-प्रोत है। अयोध्या की यह दशा भरत के घर्षाविरुद्ध बाण को प्रवाहित करने के लिए काफी है :—

तदा तबन्तःप्रभमुज्झितप्रभं सुरैरिबोत्सृष्टमभास्वरं दिनम् ।

निरीक्ष्य सर्वत्र विभक्तमात्मवान् मुमोच बाष्पं भरतः मुदुःखितः¹ ॥

मानव के बाह्य स्वरूप मात्र का चित्रण कर उसके हृदयस्थ भावों की ओर संकेत करने वाला उदाहरण कँकेयी के इस वर्णन में लीजिये —

उदीर्णसरम्भतमोवृत्तानना तदावमुक्तोत्तममात्यभूषणा ।

नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा तमोवृत्ता शौरिव मग्नसारका² ॥

राजमहिषी कँकेयी के मुख की छाया कोप के कारण तमोमय हो उठी थी और उत्तम मालाएँ तथा अलङ्कार उनपर फँकने से वह कोपना अन्धकार में आच्छादित उस काल के प्राकाश के सदृश लगती थी जब तारे गहन तमिस्रा में डूब गये हो।

यहाँ कँकेयी का तमोवृत्त आनन उसके मन की कालिमा (कपट) क्रोध, दुःख ईर्ष्या आदि का प्रतीक है और तम के आवरण से व्याप्त आकाश अयोध्या पर आने वाले शोक की तूफानी घटाओं का संकेतक है।

एक अन्य उदाहरण लीजिये :—

सा रामसंकीर्तनवीतशोका रामस्य शोकेन समानशोका ।

शरन्मुखे साम्बुदशेषचन्द्रा निशेव धेवेहसुता बभूव³ ॥

रावण द्वारा अशोक वाटिका में बन्दीकृता विरहिणी सीता हनुमान् के मुख से राम का नाम सुनकर अपना तो सब दुःख भूल गई किन्तु राम के दुःख का ध्यान आने से राम के समान ही दुःखी हुई। वे प्रसन्न थी क्योंकि राम नाम की पीयूषवर्षी ध्वनि उनके कानों में पड़ी, वे दुःखी थीं क्योंकि राम उनके वियोग में अन्यन्त संतप्त थे। दुःख-मुख के मिश्रित भाव से युक्त सीता का हृदय 'शरन्मुखे साम्बुदशेषचन्द्रा निशा' के (उपमान) द्वारा, जिसमें ज्योत्स्ना के साथ मेघखण्ड भी छाया हुआ है, अधिक स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है। स्वतन्त्र रूप से भी प्रकृति का

3. वही	२।११४।३१।
1. „	२।१०।६६।
2. „	५।३६।३६।

वर्णन वाल्मीकि ने किया है किन्तु मानवीय भाव को प्रधान रखने की उनकी चेष्टा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। कहीं-कहीं तो प्रकृति का विशुद्ध संश्लिष्ट वर्णन करके भी वे उसकी पृष्ठ-भूमि में मानव-हृदय को देखने के लिये स्पष्ट संकेत कर जाते हैं। उदाहरण के लिये भरष्य काण्ड के सोलहवें सर्ग में लक्ष्मण के मुख से किये गए हेमन्त वर्णन को ही ले लीजिए। हेमन्त का पूर्णतया चित्रण कर देने के पश्चात् ही वे कहते हैं :—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र ! काले दुःखसमन्वितः ।

तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे ॥

त्यक्त्या राज्यं च मानं च भोगाश्च विविधान् बहून् ।

तपस्वी नियताहारः शीते शीते महीतले^१ ॥

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस संकेतमात्र से समूचा हेमन्त वर्णन भरत के त्याग का उद्दीपन बन जाता है। शरद् ऋतु के वर्णन के अन्तर्गत एक श्लोक लीजिए :—

चञ्चलचन्द्र-कर-स्पर्श-हर्षोन्मीलिततारका ।

अहो रागवती संध्या जहातु स्वयमम्बरम्^२ ॥

चन्द्रमा के चञ्चल करों (किरणों तथा हाथों) के स्पर्श से जनित हर्ष के कारण ताराओं (नक्षत्रों और पुतलियों) का उन्मीलन करती हुई रागवती (लासिमा से युक्त तथा प्रेम-भाव से भरी हुई) संध्या ने स्वयं अम्बर (आकाश और वस्त्र) का परित्याग कर दिया ।

शरद्-वर्णन के बहाने मानवीय रति-व्यापार का यह स्वाभाविक और कवित्व-पूर्ण चित्रण है। रस, अलङ्कार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति किसी भी संप्रदाय की दृष्टि से यह श्लोक उत्तम काव्य का उदाहरण कहा जा सकता है। अलङ्कार की दृष्टि से इसमें उच्च कोटि का समासोक्ति अलङ्कार है, किन्तु कवि का तात्पर्य समासोक्ति में ही निहित नहीं है। समासोक्ति के बल से आक्षिप्त नायक और नायिका यहाँ आश्रम भालम्बन हैं, नायक द्वारा कर-स्पर्श उद्दीपन है, नायिका द्वारा हर्ष से नयन कनीनिकाओं का उन्मीलन अनुभाव है तथा 'जहातु स्वयमम्बरम्' द्वारा व्यञ्जित उत्कट अभिलाष सञ्चारीभाव है। इस प्रकार संयोग शृङ्गार की पूर्ण सामग्री इसमें मौजूद है। 'रागवती' शब्द के कारण स्वशब्दवाच्यत्व दोष की आशंका हो सकती है, किन्तु यह शब्द रसास्वादन में बाधक नहीं है। कारण यह है कि रति भाव की प्रतीति केवल इसके द्वारा ही नहीं करायी गयी है। वह तो इससे पृथक् तत्त्वों द्वारा स्वतन्त्र रूप से व्यञ्जित है। उक्त शब्द द्वारा अभिहित है ही नहीं। अतः रस की दृष्टि से भी यह उच्च कोटि का काव्य है।

'हर्षवश तारिकाओं का उन्मीलन' चेतन व्यापार है जिस का अचेतन संध्या पर आरोप किया गया है। अतः अत्यन्त तिरस्कृत होने के कारण हर्ष श्रम विकास

१. वही, भरष्य० १६।२७।२८ ।

२. ,, किष्किन्वा० ३०।४५ ।

तथा तारकोन्मीलन नक्षत्रों की जगमगाहट में परिणत होता हुआ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इन उदाहरणों से बाल्मीकि के बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर उन्मुख हो जाने का अन्तःसाक्ष्य पूर्णतया प्राप्त हो जाता है। इनमें प्रकृति को गौण मानकर भाव-पोषण का साधन बनाया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे भावमय स्थल भी अनेक हैं जिनमें प्रकृति का रञ्जमात्र भी उपयोग नहीं किया गया है, फिर भी उनकी अनवद्य हृदयता अक्षुण्ण है जिसका मूल कारण भावना की गम्भीर अनुभूति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परिनिष्ठित व्यञ्जना-प्रधान शैली का आद्योपान्त विलास रामायण में खोजना अनुपयुक्त ही होगा किन्तु वर्णनात्मक होते हुए भी बहुत से स्थल अनुभूति की सान्द्रता और गेयता के कारण गीतिकाव्य के निकट पहुँच जाते हैं। उदाहरण के लिये बानिवध के पश्चात् तारा के विलाप का चित्रण करने वाली इन पंक्तियों को ही ले लीजिए—

रणे दारुणविक्रान्त ! प्रवीर ! प्लवतां वर !
किमिदानीं पुरोभागामद्य त्वं नाभिभाषसे ॥
अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप !
गतासुरपि तां गात्रं मां विहाय निषेवसे ॥
यान्यस्माभिस्त्वया सार्धं वनेषु मधुगन्धिषु ।
विहृतानि त्वया काले तेषामपुरमः कृतः ॥
हृदय सुस्थितं मे त्वां दृष्ट्वा निपतितं भुवि ॥
यत्र शोकाभिसंतप्तं स्फुटतेऽद्य सहस्रधा ॥
किमङ्गद सांगद वीरबाहो ! विहाय यातोऽसि चिरं प्रवासम् ।
न युषतमेवं गुणसंनिवृष्टं विहाय पुत्रं प्रियचारुवेषम् ॥
येनैव बाणेन हतः प्रियो मे तेनैव बाणेन हि मां जहीहि ।
हता गमिष्यामि समीपमस्य न मां बिना वीर ! रमेत बाली ॥^१

दारुण ! पराक्रमी ! वानरश्रेष्ठ ! मुझसे बोलते क्यों नहीं ? तुम्हारे साथ मैंने मकरन्द से सुगन्धित वनो में जो विचरण किये थे, आज उनका अन्त हो गया। मेरा हृदय बड़ा पक्का है जो तुम्हें पृथ्वी पर पड़ा देखकर शोकाभिभूत हो सहस्रधा विदीर्ण नहीं हो जाता। ओह वीर ! तुम अंगद को छोड़कर चिरप्रवास के लिये क्यों चल दिये ? ऐसे गुणी पुत्र को छोड़ कर तुम्हारा इस प्रकार जाना उचित नहीं। हे राम ! जिस बाण से तुमने मेरे प्रिय का वध किया है उसी से मुझे भी मार डालो। मैं उससे पास चली जाऊँगी। मेरे बिना वह सुखी नहीं रह सकेगा।

रस की पूरी सामग्री इन पंक्तियों में उपस्थित है। बाली का निष्प्राण शरीर आलम्बन है और तारा आश्रय। बालक अङ्गद की निरीहता, और शत्रु पक्ष की प्रबलता उदीपन है। उरस्ताडन, अश्रुविमोचन आदि अनुभाव हैं और स्मृति, दैन्य,

प्रावेग, उन्माद प्रावि सञ्चारी भाव हैं जिनसे पुष्ट बाली-निधन-जन्म शोक करण रस में पर्यवसित होता है। कवि की मनोवृत्तियों का तन्निबद्ध पात्र की भावनाओं के साथ तादात्म्य—अथवा यूँ कहिये कि मनोविकारों का साधारणीकरण—हो जाने से स्वानुभूति-प्रायः वर्णन है। ये श्लोक कथा-प्रवाह को गति देने में असमर्थ है। भावना की सघनता के कारण यहाँ कथा प्रवाह में उल्टा प्रवरोध ही उत्पन्न होता होता है। जिन चेष्टाओं और व्यापारों का वर्णन इन में किया गया है वे साधन मात्र हैं अथवा साध्यभूत भाव के अस्तित्व के द्योतक चिन्ह विशेष। इस प्रकार वस्तु-वर्णन नितान्त गौण रह गया है।

सीता-हरण के पश्चात् वियोगी राम का विलाप और भी अधिक करुणा-पूण है :—

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।
तत्रायमष्टापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥
सा नूनमार्या मम राक्षसेन ह्यभ्याहृता खं समुपेत्य भीरुः ।
अप्यस्वरं सुस्वर-विप्रलापा भयेन विक्रदितवत्यभीक्ष्णम् ।
मया विहीना विजने वने सा रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा ॥
नूनं विनावं कुररीव दीना सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥
अस्मिन् मया सार्धमुदारशीला शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण ! जातहासा त्वामाह सीता बह्वाक्ष्यजातम् ॥
गोदावरीय सरितां वरिष्ठा प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥
कामं त्विदं पुष्टितवृक्षषण्डं नानाविधैः पक्षिगणेरुपेतम् ।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्तमेकाकिनी सातिबिभेति भीरुः ।
आदित्य ! भो लोककृताकृतज्ञ ! लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् !
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा शसस्व मे शोकहृतस्य सर्वम् ।
लोकेषु सर्वेषु च नास्ति किञ्चिद् यत्ते न नित्यं विदितं भवेद् वै ।
शंसस्व वायो ! कुलपालिनीं तां मृता हृता वा पथि वसंते वा ॥^१

‘अवश्य ही मैंने पूर्व जन्मों में अनेक बार पापकर्मों में रुचि रखी है। यह उसी का परिणाम है कि मैं दुःख से दुःख में डूबता जा रहा हूँ। करुण क्रन्दन करती हुई मेरी प्रियतमा को राक्षस आकाश-मार्ग से हर कर ले गया। मुझ से वियुक्त एकान्त वन में राक्षसी द्वारा हर कर घसीटे जाते हुए उस आयातक्षी ने कुररी के समान विलाप किया होगा।’

‘लक्ष्मण ! मेरे साथ इस शिलातल पर बैठकर उस सुन्दर मुस्कान और उदारशील बानी सीता ने अनेक बार हँसते हुए तुम से (विनोद की) बातें कही थीं। यह गोदावरी उसे सदा ही बड़ी प्रिय थी। कहीं बहीं तो न चली गयी है ? किन्तु

नहीं, वह अकेली कभी नहीं जाती। तो कहीं पुष्पों से लदे वृक्षों के भुरमुटों वाले इस वन में ही न चली गई हो। परन्तु वह तो भीर है। अकेली वहाँ भी नहीं जा सकती।

‘संसार के कृत अकृत और सत्य-अनृत कर्म के साक्षी आदित्य ! मेरी प्रिया कहाँ गयी ? क्या मार डाली गयी ? मुझसे बताओ, मैं अत्यन्त शोक-सतप्त हूँ। हे पवन ! संसार में ऐसा कुछ नहीं है जो तुम नहीं जानते। बताओ मेरी गृहिणी मर गयी है ? या हरी गयी है ? या कही मार्ग में है ?’

‘करुणा के आँचल को छूता हुआ विप्रलम्भ शृङ्गार का यह वर्णन भाव भाषा और छन्द की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। रागात्मक वृत्तियों का उद्बोधन कर तथा हृदय को उन्मुक्त दशा में पहुँचा कर यह अनिविचनीय काव्यानन्द की अनुभूति कराता है, ‘सरसता’ एव सरलता के सहज स्वरूप द्वारा प्रसाद की मनोरम सृष्टि करता है और छन्द के एकतान मयूष प्रवाह द्वारा आस्वादन-ध्यापार में व्यवच्छिन्नता नहीं आने देता। विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत स्मरण, गुण-कथन, आवेग, प्रलाप, उन्माद आदि अनेक मनोदशाओं की स्वाभाविक सन्निहिति का सामूहिक प्रभाव भी लक्षितव्य है। इस प्रकार के वर्णन रामायण में पर्याप्त मात्रा में अधिगत होते हैं। राम-वन-गमन के अवसर पर कौशल्या द्वारा अपनी मनोदशा की अभिव्यक्ति, युद्ध काण्ड में राम लक्ष्मण के कृत्रिम सिरों को देखकर सीता का विलाप, लक्ष्मण-मूर्छा के समय राम का करुण परिदेवन, रावण-वध के अनन्तर उस की रानियों के रुदन का मार्मिक चित्रण तथा उत्तर काण्ड में लक्ष्मण द्वारा सीता के त्यागे जाने का हृदयद्रावक दृश्य उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। संयोग-शृङ्गार की दृष्टि से तारा-विलास का वर्णन तथा हनुमान् के लंका-दर्शन के अवसर पर रावण के अन्त पुर का चित्रण अत्यन्त रमणीय वन पड़े हैं।¹ सीता की खोज के लिए कृतविलम्ब विलास-रत सुग्रीव पर कुपित हुए लक्ष्मण को शान्त करने के हेतु जानी हुई तारा का एक चित्र लीजिए—

सा प्रसन्नलन्ती मदबिह्वलाक्षी प्रलम्बकाञ्चीगुणहेमसूत्रा।

सलक्षणा लक्ष्मणसन्निधानं जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः।²

‘मद के प्रभाव से बिह्वल नयनों वाली सुन्दरी तारा, जिसकी स्वर्ण-निर्मित किङ्किणी की लड़ियाँ नीचे लटक आयी थीं, लडखडाते पगों से लक्ष्मण के पास आयी।’

इस पद्य में कवि का लक्ष्य किसी घटना की सूचनामात्र देना अथवा कथानक की कड़ी को जोड़े रहना ही नहीं है अन्यथा सोमित्रप्राञ्चं हि जगाम तारा कहना ही पर्याप्त होता किन्तु इतना कह देने से कथानक का सूत्र तो जुड़ जाता पर तारा की मनःस्थिति का परिचय कैसे मिलता ? स्पष्ट है कि कवि ने तीन चौथाई पद्य

1. Such passages as the description of the vision by Hanumant of the sleeping wives of Ravana mark the beginning of a tradition which Ashvaghosh handed on to successors. *Keith, Hist. of Sans. Lit. pp. 45.*

2. किङ्किण्या काण्ड, ३४-३८।

इस मनःस्थिति को ही व्यक्त करने के उद्देश्य से खर्च किया है।

यों तो साहित्यशास्त्र में परिगणित सभी भावों से सम्बद्ध उक्तियाँ वाल्मीकि रामायण में मिल जाती हैं। सभी रसों के उदाहरण उसमें मिल सकते हैं किन्तु, जैसा कि उल्लिखित उदाहरणों से भी स्पष्ट है, कथन भाव विषयक स्थल ही अधिक हैं। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं। यही भाव तो प्रारम्भ में वाल्मीकि के हृदय से श्लोक बन कर फूट निकला था। असत्य होता हुआ भी पन्त जी का यह कथन कितना सत्य है— वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान। वाल्मीकि वियोगी नहीं थे पर उनका गान वियोगी की आह से ही उपजा था।

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया है, अनुभूति की गहनता के साथ गेयता गीति काव्य का एक विशिष्ट गुण है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा तो उन्हीं रचनाओं को गीति संज्ञा देना चाहते हैं जो असंदिग्ध काव्य रस एव काव्य प्रतिबिम्बना में युक्त होने के साथ साथ सर्वसाधारण में गेयरूप से प्रचलित भी हों। तुलसीदास जी की चौपाइयों को वे इसी कोटि में मानते हैं।¹ इस दृष्टि से वाल्मीकि रामायण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जिसकी गेयता का उल्लेख उसके प्रारम्भ में ही हुआ है। लव और कुश ने उसे सस्वर गाया था—

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।

जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥

रसैः शृंगारकण्ठहास्यरौद्रभयानकैः ।

बीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥²

तो तु गान्धर्वतत्त्वज्ञो स्थानमूर्छनकोविदो ।

ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे

यथोपवेशतत्त्वज्ञो जगत्पुस्तो समाहितौ ।

मुनियों ने उनके गाने की बार बार प्रशंसा की। उनके मुख से अनायास ही निकल पड़ा कि—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ॥ १-४-१७॥

रामायण को गीत और लवकुश को सर्वगीतिकोविद का विशेषण भी उन्होंने दिया³ इसके पश्चात् लवकुश ने वीणा पर लय सहित इसका गान किया।⁴

रामायण प्रायः श्लोक छन्द में लिखी हुई है जो सामान्यतः गेय प्रतीत नहीं होता। बात यह है कि मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, द्रुतविलम्बित आदि छन्दों के समान वह सहज गेय नहीं है। ये छन्द तो ऐसे हैं कि अपनी नैसर्गिक गेयता तथा मधुर लय के कारण सरलता से ही श्रुतान पर चढ़ जाते हैं। उनकी लय सहज ही पकड़

1. देखिए, हिन्दी गीतगोविन्द (बिनय मोहन शर्मा) की भूमिका।

2. वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड सर्ग ४।८।९)।

3. आभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतिषु कोविदौ (वही १।४।१७) हे सर्वगीतिषु कोविदौ जगत्पुस्तौ । इदं गीतं गायनयोग्यं वस्तु आभिगीतं सुष्ठु गीतम् इति टीकाकारः)।

4. तन्त्रीलयवद्वत्पर्यं विश्वतार्यमगायताम् (वही, १।४।१४)।

में ध्रा जाती है, किन्तु अनुष्टुप् का गाना सहज नहीं है। पक्के गाने अर्थात् शास्त्रीय संगीत के समान उसकी लय में दुरुहता अवश्य है किन्तु वह भी गेय है। इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं इसे विविध लयों में गाये जाते हुए सुना है। कुश और लव ने भी शास्त्रीय संगीत के नियमों के अनुसार इसका राम की सभा में गान किया था—

ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदितावगायतां मार्गविधानसंपवा ।

स चापि राम. परिषद्गतः शनैर्बभूषयासक्तमना बभूष ॥^१

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए रामामण छी तिलक टीका के लेखक ने लिखा है—

गानं द्विविधं मार्गो देशी चेति । तत्र प्राकृतावलम्बि गानं देशी संस्कृतावलम्बि तु गानं मार्गः । तयोर्मध्ये मार्गाख्यगानमार्गावलम्बनसामग्र्या अगायताम् ।”

अर्थात् गान दो प्रकार का होता है—मार्ग और देशी। प्राकृतावलम्बी गान देशी और संस्कृतावलम्बी गान मार्ग कहलाता है। लव-कुश ने मार्गगान का अवलम्बन लेकर गान किया।

यहाँ प्राकृत शब्द से टीकाकार का अभिप्राय जनसाधारण से है और संस्कृत शब्द से शिष्टजन अथ आर्य है तभी संगति ठीक बैठती है। अन्यथा प्राकृत भाषा-वलम्बी गान कैसा ? संगीत रत्नाकर में द्विविध गान का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है—

मार्गो देशीति तद्द्वेषा तत्र मार्गः स उच्यते ।

यो मार्गितो िरिञ्ज्याछः प्रयुक्तो भरतादिभिः ।

देवस्य पुरतः शम्भोर्निघताभ्युदयप्रदः ॥

देशे देशे जनानां यद्रुच्या हवयरञ्जनम् ।

गानं च वादन नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते ॥^२

‘ब्रह्मा आदि ने जिसे व्यवस्थित किया और भरत आदि ने जिस को शंभु के समक्ष प्रयुक्त किया वह मार्ग कहलाता है। विभिन्न स्थानों पर जनता की रुचि के अनुसार मनोरंजन करने वाला संगीत देशी कहा गया है।

इससे स्पष्ट है कि मार्ग गान अथवा शास्त्रीय संगीत का प्रयोजन आमुष्मिक था तथा देशी का ऐहिक। एक का लक्ष्य मोक्ष अथवा स्वर्ग की प्राप्ति था और दूसरे का मनोरंजन। इस प्रकार रामायण के उक्त श्लोक में मार्गविधानसम्पवा से स्पष्ट है कि लवकुश ने शास्त्रीय गान का आश्रय लेकर इसका गान किया था।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

१. वाल्मीकि ने काव्य में भावना तत्त्व को प्रमुखता देने की ओर सकेत किया जो उत्तरोत्तर काव्य साहित्य में समाहित एवं विकसित होता हुआ रस सिद्धान्त

१. वही, १।४।३६

२. संगीत रत्नाकर, पृष्ठ ६।

के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इसीलिये उन्हें मधुमयभण्णतीनां मार्गदर्शी महर्षि (मधुर उक्तियों का मार्ग दिखाने वाला महर्षि) कहा गया है।

२. प्रकृति-वर्णन को काव्य का साध्य न मानकर साधन के रूप में भी अपनाया और उसका उपयोग मानवीय भावों की अभिव्यक्ति में अधिक तीव्रता, रमणीयता एवं प्रत्यक्षीकरण के लिए किया। अर्थात् उन्होंने परवर्ती कवियों को अन्तर्दर्शन का सदेश दिया।

३. इस युग तक संगीतशास्त्र की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उसके दो स्वरूप थे शास्त्रीय संगीत और देशी अथवा लोक संगीत। संगीत की ही भाँति काव्य भी सामाजिक मनोरंजन का एक साधन था और कविता के साथ संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

४. वाग्मीकि की रचना में अनेकत्र गीति के पूरे तत्त्व व्याप्त हैं। स्वयं उनका शाप-श्लोक गीतिकाव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। उत्तरवर्ती गीतिकारों के लिये उन्होंने भाव-सामग्री ही नहीं वस्तु-सामग्री भी दी है। संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ गीति काव्य मेघदूत तथा वेदान्तदेशिक का हृस-सन्देश अपने धीम के लिये रामायण के ऋणी हैं।

महाभारत

महाभारत के विषय में यज्ञेहास्ति न तत्स्वचित् का दावा किया गया है। नि सन्देह वह अपने समय का अद्वितीय विश्वकोष है। यद्यपि समयानुक्रम से अपने वर्तमान रूप में वह रामायण से पीछे अस्तित्व में आया किन्तु काव्य कला की दृष्टि से उसमें कोई महत्त्वपूर्ण विकास-बिन्दु लक्षित नहीं होते। यही कारण है कि उसे रामायण के समान 'काव्य' सत्ता प्राप्त न हो सकी। रामायण का कथा-वस्तु-संगुम्फन प्रौढ़ एवं एकनिष्ठ है किन्तु महाभारत में वस्तु-निर्वाह ठीक नहीं हो सका। विभिन्न आख्यानको की अवतारणा मूलकथा के अनुसन्धान को तो दुरुह बना ही देती है भावात्मक स्थलों पर भी दृष्टि नहीं जमने देती, फिर भी महाभारत में कतिपय स्थल ऐसे देखे जा सकते हैं जो काव्य कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। स्वयंवर के समय अर्जुन का वरण करती हुई कृष्णा का चित्र लीजिये—

स्वभ्यस्तरूपापि नवेव नित्यं विनापि हासं हसतीव कन्या ।

महावृतेऽपि स्ललतीव भार्बर्वाद्या विना व्याहरतीव बुष्ट्या ॥¹

नित्य देखते रहने पर भी जो नहीं न दिखाई पड़ती थी। सस्मित न होती हुई भी मुस्काती सी लगती थी। नशा न होने पर भी भाववश लड़खड़ाती सी और कुछ न बोल कर भी बोलती हुई सी प्रतीत होती थी।

विरोधाभासजन्य वैचित्र्य को तो जाने दीजिये नायिका-भेद की दृष्टि से विलास और भाव तथा रस की दृष्टि से संभोग शृङ्गार के पोषक हर्ष, अभिलाष आदि सञ्चारियों का भी यह अच्छा उदाहरण कहा जायेगा। यहाँ दुपवसुता और

अर्जुन परस्पर आश्रय आलम्बन है। 'हंसना' एवं 'स्खलितगति होना' द्रौपदी पक्ष में अनुभाव हैं किन्तु नायक अर्जुन के प्रति उद्दीपन है। स्वभ्यस्तरूपायि नखेव नित्यम् नायिका के प्रतिक्षण यौवन विकास की ओर सकेत करता हुआ सौन्दर्य की क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः परिभाषा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। बिनापि हासं हसतीव मे हर्षं के अतिरेक की प्रतीति होती है, मवावृतेऽपि स्खलतीव भावः के मूल में सौन्दर्य-भाव-जनित अथवा सौभाग्य-प्राप्ति-प्रवृत्त मद निहित है और वाचा बिनापि व्याहरतीव से अभिलाष की भीन किन्तु मामिक अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार सभोग शृङ्गार के प्रायः सभी तत्त्व इसमें प्रस्तुत हैं।

विप्रलम्भ शृङ्गार का हृदयम्भर्शी स्वरूप नलोपाख्यान के अन्तर्गत दमयन्ती-विलाप में मिलता है जब नल उसे वन में एकाकिनी छोड़ कर चले जाते हैं :—

पर्याप्तः परिहासोऽयमेतावान् पुरुषवर्धन !
भीताहमतिबुध्वर्ध ! दश्यात्मानमीश्वर !
दृश्यसे दृश्यसे राजग्नेष दृष्टोऽसि नैषध !
आचार्यं गुल्मैरात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ।
नृशस बल राजेन्द्र ! यन्मामेवं गतामिह ।
विलपन्ती समागम्य नाशवासयसि पार्श्व !
न शोचाम्यहमात्मानं न चान्यदपि किञ्चन ।
कथं नु भवितास्येक इति त्वां नृप ! शोचिमि ॥
कथं नु राजस्तुवितः क्षुधितः भ्रमकषितः ।
सायाह्ले वृक्षमूलेषु मामपश्यन् भविष्यमि ।
ततः सा तीव्रशोकात्ता प्रदीप्तेषु च मय्युना ।
इतश्चेतश्च रुदती पर्यधावत बुःखिता ॥'

'हे पुरुषश्रेष्ठ ! पर्याप्त परिहास हो चुका। मुझे डर लग रहा है, स्वामिन ! दर्शन दो। तुम्हें मैं देख पा रही हूँ। मैंने तुम्हें देख लिया है। भुरमुटों में छिपे बैठे हो। मुझ से बोलते क्यों नहीं ? तुम बड़े निष्ठुर हो। ऐसी दशा में भी मुझे आकर सान्त्वना नहीं देते। मुझे अपनी या किसी और की कोई चिन्ता नहीं, बस यही सोचती हूँ कि तुम अकेले कैसे करोगे ? सायंकाल में भूखे प्यासे और थके हुए तुम वृक्षों के नीचे (बसेरा करने के लिये) रुकोगे तो मुझे न देखकर तुम्हारी क्या दशा होगी ?'

विरह की आवेग, चिन्ता, वितर्क, उन्माद आदि दशाओं की व्यञ्जना इन वलीकों में हुई है। मैक्डानल ने इस स्थल की अत्यन्त प्रशंसा की है और इसे

नितान्त कष्टना बताया है।¹ अज्ञातवेष अर्जुन द्वारा परिणीता द्रौपदी के सौभाग्य की चिन्ता में मग्न द्रुपद की मनोदशा का चित्रण भाव-विह्वलता का उत्कृष्ट उदाहरण है। अपने पुत्र धृष्टद्युम्न से वे पूछते हैं :—

कच्चिन्न शूत्रेण न हीनज्ञेन वंशेन वा करबेनोपपन्ना ।
 कच्चित्पदं मूर्ध्नि न पङ्कविग्ध कच्चिन्न मासा पतिता इमशाने ॥
 कच्चित्सवर्णप्रवरो मनुष्य उद्विषतवर्णोऽप्युत एव कच्चित् ।
 कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः कृष्णाभिमर्शेन कृतोऽथ पुत्र ॥
 कच्चिन्न तपस्ये परम प्रतीतः संपुण्य पार्थेन नरर्षभेण ।
 वदस्व तत्त्वेन महानुभाव ! कोऽसौ विजिता दुहितुर्ममाद्य ॥
 विचित्रवीर्यस्य सुतस्य कच्चित् कुरुप्रवीरस्य ध्रियन्ति पुत्रः ।
 कच्चित् पार्थेन यथोपसद्य धनुर्गहीतं भिन्नं च लक्ष्यम् ॥

वह कही किसी शूद्र अथवा हीनजाति वंश्य को तो प्राप्त नहीं हो गयी ? कही कीवट से लथपथ पैर तो (हमारे) सिर पर नहीं रखा गया ? कहीं मासा इमशान भूमि में तो नहीं जा पड़ी ? बेटा ! बताओ तो, क्या वह किसी श्रेष्ठ सवर्ण पुरुष को प्राप्त हुई है ? कही कृष्णा के निरस्कार में किसी ने मेरे सिर पर बाया पैर तो नहीं रख दिया ? क्या अर्जुन से सम्बन्ध हुआ है और मेरे लिए परित्राप का कोई कारण नहीं है ? बेटा ! बताओ तो जिसने द्रौपदी का स्वयवर जीता है, वह वास्तव में कौन है ? क्या कुम्भीर विचित्रवीर्य के पोत्र जीवित है ? क्या कुन्ती के सबसे छोटे पुत्र ने ही धनुष उठाकर लक्ष्य-वेध किया है ?

इन पक्तियों में व्यक्त मनोदशा द्रुपद के हृदय से सम्बद्ध रही हो अथवा न रही हो किन्तु इनके कवयिता के हृदय में उसका अनुभव अवश्य हुआ था। रस-सामग्री के अन्यान्य उपकरणों के प्रतिरिक्त लेखक का तन्निबद्ध पात्र की भावनाओं के साथ भी तादात्म्य होता ही है। वस्तुतः ये पक्तियाँ कवि के हृदयजगत् में अनुभूत स्व-भावनाओं को ही अभिव्यक्त करती हैं। अतः विषय प्रधान होते हुए भी महा-भारत में गीति तत्त्वों का सर्वथा अभाव नहीं है। पाण्डवों के वनगमन के समय प्रजाजन का क्रन्दन भी भाव प्रवणता की दृष्टि से द्रष्टव्य है—

वरः कुरुणामधिपः प्रजानां पितेव पुत्रानपहाय चास्मान् ।

पौरानिमाञ्जानपवांश्च सर्वान् हिंसा प्रयातः क्व नु राजपुत्रः ॥

1. Very pathetic is the scene describing how he repeatedly returns to the spot where his wife lies asleep on the ground before he finally deserts her. Equally touching are the accounts of the terror on awaking to find herself alone in the forest and of her lamentation as she roams in search of her husband and calls out to him . . . Many and striking are the similes with which the poet dwells on the grief and wasted form of the princess in her separation from her husband. *Hist. of Sans. Lit.*, p. 297.

2. आदिपर्व, अध्याय १८४-१५।१८।

धिग् वार्तराष्ट्रं मुद्रशंसद्विधिं धिक् सौबलं पापमतिं च कर्णम् ।
अनर्वाभिच्छन्ति नरेन्द्र ! पापा ये धर्मं नित्यस्य सतस्तत्त्वैवम् ॥
स्वयं निवेश्याप्रतिमं महात्मा पुरं महादेवपुरप्रकाशम् ।
शतक्रुप्रस्थममेवकर्मा हित्वा प्रयातः यव नु धर्मराजः ॥

प्रजा के स्वामी कुरुश्रेष्ठ ! हम पुर तथा ग्राम निवासियों को त्याग कर कहाँ चले गये ? क्रूरमति दुर्योधन, पापमति कर्ण तथा शकुनि को धिक्कार है जो नित्य धर्म का आचरण करने वाले युधिष्ठिर का अनर्थ चाहते हैं। महादेव की कलाशपुरी के सदृश हम अप्रतिम इन्द्रप्रस्थ नगर को स्वयं बसाकर और फिर त्याग कर धर्मराज कहाँ चले गये ?

शतपथ ब्राह्मण में नारी-सौन्दर्य के प्रतिमानों की ओर संकेत किये जाने का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। महाभारत में नायिका के विलास भाव के साथ साथ नख-शिव-वर्णन की ओर भी प्रवृत्ति पायी जाती है जिसका मध्ययुगीन संस्कृत साहित्य पर सामान्य रूप से और गीति काव्य पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में ही सही, नायिका-भेद के विकास में महाभारत का योग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राजा लोमपाद द्वारा ऋष्यशृङ्ग को लुभाने के लिये प्रेषित क्वाजीवा के विलास भाव एक चित्र बीजिए—

सा कन्वुकनारमतास्य मूले विभज्यमाना कलिता सतेव ।
गात्रेण्येव सात्राणि निवेद्यमाणा समालिखन्वासाकृद्व्यशृङ्गम् ॥
सर्जनिशोर्कास्तिलकाश्च वृक्षान् सुषुप्तिरतानवनाभ्यावभज्य ।
विलज्जमानेव मदाभिभूता प्रलोभयामास सुत महर्षेः ॥^१

उसने कनों के भार से टूटती-सी लता के समान अपने अंगों से ऋष्यशृङ्ग का अनेक बार आलिङ्गन किया और उसके पास गेद से खेलती रही। फूलों से लदे अशोक, तिलक तथा सर्ज वृक्षों को झुकती और नोचती, वह मदमत्त नारी लजाती हुई सी उस ऋषिकुमार को लुभाने लगी।

कवि ने ऋष्यशृङ्ग के मुख से इस अद्भुत ब्रह्मचारी का जो वर्णन कराया है वह नख-शिव-वर्णन के साथ साथ नारी-सौन्दर्य द्वारा स्पष्ट हृदय की सात्त्विक दशा में सञ्चरित मनोविकार का भी सुस्पष्ट चित्र उपस्थित करता है—

ब्रह्मणो जटिलो ब्रह्मचारी न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी ।
सुवर्ण-वर्णः कमलायताक्षः स्वतः सुराणामिव शोभमानः ॥
समृद्धरूपः सखितेव दीप्तः सुलल्यकृष्णाक्षिरतीव गौरः ।
नीलाः प्रसन्नादिव जटाः सुगन्धा हिरण्यरञ्जुप्रथिताः सुदीर्घाः ॥
आश्चर्यरूपा पुनरस्य कण्ठे विभ्राजते विद्युदिवान्तरिक्षे ।
द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठावजातरोमौ सुमनोहरी च ॥

१. सप्तमं, अध्याय २३ श्लोक ८।१६।

२. वनपर्वे अध्याय १११, श्लोक १६।१७।

बिलग्नमध्यश्च स नाभिदेशे कटिश्च तस्यातिकृशप्रमाणा ।
 तथास्य चौरान्तरतः प्रभाति हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ।
 अयश्च तस्याद्भुतदर्शनीयं विकृजितं पादयोः सम्प्रभाति ।
 पाण्योश्च तद्वत् स्वनवन्निबद्धौ कलापकावक्षमाला यथेयम् ॥
 विच्छेष्टमानस्य च तस्य तानि कूजन्ति हंसा सरसीव मत्ताः ।
 चौराणि तस्याद्भुतदर्शनानि नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ॥
 वक्त्रं च तस्याद्भुतदर्शनीयं प्रध्माहृतं ह्लादयतीव चेतः ।
 पुंस्कोकिलस्येव च तस्य बाणिमभृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा ॥
 यथावनं माघवभासि मध्ये समीरितं श्वसनेनेव भाति ॥
 तथा स भात्पुत्तमपुष्पगन्धी निषेव्यमाणः पद्मेन तात ! ॥
 सुसंयताश्चापि जटा विषक्ता द्वैधीकृता नातिसमा ललाटे ।
 कर्णौ च वित्रंरिव चक्रवार्कः समावृत्तौ तस्य मुरुपवद्भिः ।
 तं प्रेक्षतः पुत्रमिवामराणां प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता ॥
 स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं जटासु गृह्णाभ्यवनाम्य वक्त्रम् ।
 वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दं चकार तन्मेऽजनयत् प्रहर्षम् ॥
 गतेन तेनास्मि कृतौ विचेता गात्र च मे सम्प्रति बह्यतीव ।
 इच्छामि तस्यान्तिकमाशु गन्तुं न चेह नित्यं परिवर्तमानम् ॥
 इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्धं यथा तपः स चरत्यायंघर्मा ।
 चतुं तयेच्छा हृदये ममास्ति दुनोति चित्तं यदि तं न पश्ये ॥'

एक जटाधारी मनस्वी ब्रह्मचारी, जो कद मे न अधिक छोटा था न लम्बा, यही आया था। उसका वर्ण सोने जैसा था और आँखें कमल जैसी आयाताकार। अपनी रूपाशिशे से सूर्य के समान दीप्त, कजरारी आँखों और गौर वर्ण वाले उस ऋषिकुमार की काली जटाएँ लम्बी, सुन्दर, मुगन्धित और स्वर्ण-सूत्रों से ग्रथित थीं। एक विस्मयजनक वस्तु उसके कण्ठ में आकाश में विद्युत् के समान, जगमगा रही थी। गले से नीचे दो रोम-रहित सुन्दर पिण्ड थे। उसकी नाभि गहरी और कटि अत्यन्त कृश थी। उसके वस्त्र मे से मेरी जैसी मेखला, जो सोने की बनी थी, झलक रही थी। उसके पैरों की अजीब-सी रुनभून सुन्दर प्रतीत होती थी। बजने वाले दो कंगन मेरी इस अक्षमाला के समान, उसके हाथों में बँधे थे जो उसके चलने फिरने मे मत्त हसों के समान कूजते थे। उसके चौर अद्भुत रूप से दर्शनीय थे। मेरे वस्त्र वैसे नहीं हैं। उसका मुख भी अद्भुत रूप से दर्शनीय था और आलाप चित को मोह लेता था। उसकी नर कोयल जैसी बाणी नहीं सुनता हूँ तो मेरी अन्तरात्मा व्यथित होती है। पिता जी ! उसके उत्तम सौरभ और शरीर से लगकर आती हुई वायु ऐसी मनोरम प्रतीत होती थी जैसे बसन्त का समीर। उसकी जटाएँ सुन्दर ढंग से दो भागों में बँधी थीं। उसे देखते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हुआ।

मेरे शरीर का आतिङ्गन करते हुए उसने मेरी जटाओं को पकड़ कर मेरा मुख झुकाया और अपने मुख में उसे दबाकर जो शब्द किया उससे मुझे अत्यन्त आनन्द मिला। उसके जाने में मैं सुध-बुध भूल गया हूँ। मेरा शरीर जला जा रहा है। मैं शीघ्र उसके पास जाना चाहता हूँ। मेरे मन में आता है कि उसके साथ उसी के जैसा तप करूँ। उसे नहीं देखता हूँ तो मेरा मन दुखी होता है।

नायिका की शरीर-कान्ति, सामूहिक सौन्दर्य तथा भङ्ग-प्रत्यङ्गों के सौन्दर्य का चित्रण तो, जो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से नायिका-भेद में नवशिख वर्णन के अन्तर्गत आता है, इन पक्तियों में है ही, पिछले दो श्लोकों में सौन्दर्य-दर्शन के प्रथम प्रभाव से जनित मनोदशा का चित्रण भी है जिसमें अभिलाष और विषाद सञ्चारियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

महाभारत के उपर्युक्त तथा तत्सदृश अनेकानेक उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीतिकाव्य के विकास की परम्परा में इस विश्वकोष का भी अप्रत्यक्ष योगदान अवश्य रहा है, वाल्मीकि ने मानवीय मनोभावों को काव्य का प्रवृत्तिनिमित्त बनाने का श्रीगणेश किया था। महाभारत में यत्र-तत्र उपयुक्त प्रसंगों में इस प्रवृत्ति का उदयाभिमुख स्वरूप दृग्गोचर होता है। इतना ही नहीं, काव्य-शास्त्रीय नायिका-भेद-गन नवशिख-वर्णन का जो प्रारम्भ अनायास ही शतपथ ब्राह्मण में हुआ था—नारी सौन्दर्य के जो मानदण्ड स्थिर किये गए थे—उनका पुरा-पुरा प्रानकलन ही नहीं, विकसित चित्र भी महाभारत में मिलता है जो केवल बाष्प रेखाओं की सुपमा के कारण अभिनन्द्य ही नहीं है अपितु हृदयनिगूढ़ अनुभूतियों के स्रग्म उद्घाटन के कारण हृद्य भी है। यह उस विशिष्ट धारा का पूर्व रूप है जो कालिदास और अमरक जैसे कलाकारों की प्रतिभा का योग पाकन अनावद्य हो उठी थी। कथानक निबद्ध होने पर भी इसका महत्व स्वतः स्वतन्त्र है। इनकी सरसता कथा-वस्तु-मुखापेक्ष नहीं है। हाँ, कथानक की रोचकता इन पर निर्भर अवश्य है।

पुराण साहित्य

पुराण काल में भक्ति-भावना को बल मिला। यद्यपि भक्ति का उद्गम ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं के आधार पर वैदिक युग में ही सिद्ध होता है। भक्ति के अनेक तत्त्वों एवं कतिपय स्वरूपों का अनुसन्धान भी ऋग्वेद में किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में पीछे दिव्य, आत्मसमर्पण आदि भावों की दृष्टि से वशिष्ठ-रचित वरुणसूक्त का नाम लिया जा सकता है, फिर भी वैदिक युग यज्ञों का युग था। ब्राह्मण काल में तो कर्मकाण्ड का विधान अत्यन्त जटिल हो ही गया था। ऋग्वेद काल में भी उपासना के लिये वेदी, हविः, दध्नि, सोम आदि की व्यवस्था भी करनी ही पड़ती थी। पुराण काल में कर्मकाण्ड का भ्रमेला गौण माना जाने लगा और शनैः शनैः उपेक्षित हो चला था। आराध्यदेव के चरणों में प्रेम और श्रद्धा के मधुर मकरन्द से सम्पन्न वाणी के कुसुमों का अर्पण किया जाने लगा जिसके ध्वनि सौरभ का वैभव हृदय को उल्लास से भर देता है। पुराणों में प्रकीर्ण अनेक स्तोत्र,

जिनकी संख्या बहुत बड़ी है, इस बात के प्रमाण है कि उपासना पद्धति का बाह्य स्वरूप जो कभी साध्य था अब साधन के रूप में भी अनिवार्यतः ग्राह्य न रह गया था। प्रसार की अपेक्षा घनत्व को महत्व दिया जाने लगा था। यदि एक शब्द में ही इस परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए कहा जाये तो हम कह सकते हैं कि इस क्षेत्र में भी मानव 'अन्तर्मुख' हो उठा था और पूजा के लिये भावना को ही मुख्य साधन स्वीकार करने लगा था। यही कारण है कि इन पौगणिक स्तोत्रों में विभिन्न देवताओं के स्वरूप, व्यापार, गुण, महत्त्व और प्रभाव का भावुकतापूर्ण वर्णन मिलता है इसमें वस्तु-वर्णन उस कोटि का नहीं है जिस कोटि का कथा-प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये अपेक्षित होता है क्योंकि इनके कथानक एक प्रकार से होता ही नहीं। उपास्य के गुण और व्यापारों का वर्णन देव विधायक रति के चोतन का उपकरणमात्र होता है। भाव पक्ष की दृष्टि से इन स्तोत्रों में उम तत्त्व का समावेश हुआ है जो प्रागे चल कर भक्ति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और विविध प्रणालियों से विभिन्न भाषाओं के कवियों की रचनाओं में उमटना हुआ भारतीय इतिहास में भक्ति काल का प्रतिष्ठापन कर सका। आलवार और प्राडवार भक्तों के गीत, मराठी एवं हिन्दी कवियों के अनेक पद तथा कृष्ण भक्तों के मुमधूर गीत इसी परम्परा का विकसित रूप प्रस्तुत करते हैं। अतः भक्ति रस परक गीति काव्य के विकास में इनका बड़ा भारी महत्त्व है। गेयता के साथ साथ इन में भावों की एकनिष्ठता एवं शैलीगत महज सरसता भी द्रष्टव्य है। उदाहरण लीजिए—

मायाततं येन जगत्त्रयं कृतं यथाग्निरनेकेन ततं चराचरम् ।
चराचरस्य स्वयमेव सवंतः स मेऽस्तु विष्णुः शरणं प्रजापति ॥
भवे भवे यश्च ससर्ज कं ततो जगत्प्रसूतं सचराचरं त्विवम् ।
ततश्च शत्रात्मवति प्रलीयते ततो हरिविष्णुं हरस्तयोष्यते ॥
एवीगुपुष्वी पचनादिभास्करा जलं च यस्य प्रभवन्ति पुंस्यः ।
स सर्वदा मे भगवान् सनातनो ददातु शं विष्णुरचिन्त्यरूपधृक् ॥¹

केवल स्तोत्र आदि ही नहीं, धर्मनिरपेक्ष कविता भी पुराणों में प्राप्त है। प्रकृति के सुन्दर चित्र भी यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। शारदी निशा वर्णन के दो पद्य लीजिए—

ततस्तु रात्रिः समपद्यताधुना शरच्छशाङ्कोऽवसलधमण्डिता ।
करोति रागं स च रोहिणीधवः सुसंगतं सोऽगुणैर्युतोऽपि च ॥
भृगूदहः कृष्णतरांशु भानुना सहोद्यतो दैत्यगुरुः सुराधिपः ।
अशान्यथापसगतो न राजते स्वभावयोगेन मतिस्तु देहिनाम् ॥²

वस्तुतः स्तुत्यात्मक स्थलों के अतिरिक्त पुराण प्रायः विवरणात्मक ही है। गीतिकाव्य की दृष्टि से भागवत के विभिन्न गीतों वाले स्थल बड़े महत्वपूर्ण हैं।

1. नारदकृत विष्णुस्तुति, द्वादश पुराण, अ० = श्लोक ४७-४९ ।

2. वही, ११।४९-४४ ।

इन स्थलों पर प्रेम, प्रेम करने की इच्छा, विरह-सम्भावना अथवा सांसारिक कटुता की अनुभूति में हृदय के उद्गार गीत रूप में फूट पड़े हैं। इनका गीत नाम युक्तियुक्त ही है। ये गीत हैं—वेणुगीत, गोपी गीत, युगल गीत, भ्रमर गीत, द्वारका की श्रीकृष्ण की पत्नियों का गीत, पिंगला गीत, भिक्षु-गीत, ऐल-गीत और भूमि गीत, इन गीतों के प्रसंग भाषा और शैली सभी गीति काव्य के सर्वथा अनुकूल पड़ते हैं, वेणुगीत में कृष्ण की वशी-ध्वनि से उन्मत्त गोपिकाएँ भावावेश में कृष्ण को अपनी कल्पना के रामध्व पाकर एक दम गा उठती हैं कि कृष्ण-बलराम का अनुगम भरे कटाक्ष करने वाला तथा बाबुरी से मुशोभित मुख जिन्होंने सत्पुण देखा है उनके नयन सफल हैं। इसमें बढ़कर नयनों का फल हो नहीं सकता—

अक्षयवतां फलमिव न परं विवामः सख्यः पशूननुविशेषयतोर्वयस्यः ।

वक्त्रं अजेशमुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥¹

गोपी गीत गोपियों की विरह-कातर वाणी का वह समुच्छ्वसित रूप है जो रामलीला के मध्य में कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर अनायास ही निकल पड़ा था। सब गोपियाँ एक साथ रुदन करती हुई गा उठी थी कि तुम्हारे जन्म से ब्रज भूमि धन्य हो उठी है। लक्ष्मी सर्वव यहाँ निवाम करने लगी है। हे प्रिय ! दर्शन दो। तुम्हारी प्रियमियों, जिनके प्राण तुम में हैं, तुम्हें दिशाओं में खोज रही हैं।

जयति तेऽधिक जन्मना ब्रज श्रयत इन्दिरा शशवदत्र हि ।

दयित दूषयतां विक्षु तावकास्त्वपि घृतामबरत्वां विचिन्वते ॥²

कृष्ण के गोचारण हेतु बन चले जाने पर गोपियाँ उन्हीं का चिन्तन करती हुई कृष्ण लीला-गान में ही जैसे जैसे दिन बिताया करती थी। इन्हीं गीतों को भागवत में युगल गीत कहा गया है।

भ्रमरगीत में गीत का वह स्वरूप है जिसमें अन्तर्वेदना की चरमावस्था अभिव्यक्त होती है, मनुष्य चेतन-अचेतन के जान से शून्य हो जाता है और सब कुछ भूल जाता है। उद्वेग में ज्ञान करने करते गोपियाँ भी सब कुछ भूल गई और रो पड़ी। अपने चरणों की ओर गिरने हुए भोरे को कृष्ण का दूत ममभकर एक गोपी उसे ही उपासना देने लगी—

मधुप कितवबन्धो मा स्पर्शाग्रं सयत्नो—

कुचविललितमालाकुंकुममश्रुभिर्न ॥

बहुत मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं ।

यदुसवसि विह्वल्यं यस्य दूतसवमीदृक् ॥³

अरे (उस) धूर्त के मित्र भोरे ! सपत्नियों के कुचों से आलौडित माला के कुंकुम से सनी हुई मँछों में हमारे चरण का स्पर्श मत कर। अपनी मानिनियों के

1. श्रीमद्भागवत, १०।२१।७ ।

2. वही, १०।३४।१ ।

3. श्रीमद्भागवत, १०।४७।१० ।

यादवों की सभा में उपहसनीय, इस प्रसाद को मधुराधीश कृष्ण ही धारण करें जिन का दूत तुम जैसा व्यक्ति है।

द्वारिका की श्रीकृष्ण-वर्तियों का गीत-प्रेमोन्माद वियोग में ही नहीं संयोग में भी दीख पड़ता है। वे संयोग सुख में भी इतनी विह्वल हो जाती हैं कि उन्हें यह ध्यान ही नहीं रहता कि वे श्रीकृष्ण के समीप ही हैं। प्रेमोन्माद की दशा में वे विरह का अनुभव करने लगती हैं और प्रलाप करती हुई कल्पना-स्थित, कुररी, चकवी, सागर, चन्द्र, मलयानिल, मेघ, कोयल, हंस और सरिताओं को संबोधित करती हुई उन्हें श्रीकृष्ण के दूत समझ कर उपासम्भ देने लगती हैं।¹ 'पिगला गीत', 'भिक्षु गीत', 'ऐलगीत' और 'भूमिगीत' निर्वेदगीत है। समार की कटुता के अनुभव से उद्भूत मानसी व्यथा की अभिव्यक्ति इन गीतों में हुई है। पिगला और पुरुखा में अनृत्य विलास की प्रतिक्रिया स्वरूप निर्वेद की उत्पत्ति हुई जो उनके गीतों में प्रकट हुआ है। भिक्षुगीत में लोगों से अपमानित दीन ब्राह्मण आत्मोद्धार करता है। भूमिगीत में पृथ्वी राजाओं की विजयाकांक्षा पर व्यंग्य करती हुई गाती है कि राजा लोग, जो मृत्यु के खिलौने हैं, मुझे जीतना चाहते हैं। पानी के बुलबुले जैसे अपने जीवन का विश्वास करते और धोखा खाते हैं।

भागवत के ये गीत गीति-काव्य के सभी तत्त्वों में समन्वित हैं। इस दृष्टि से भी पुराण साहित्य में भागवत का अधिक महत्त्व है। डा० मनमोहन गीतम का यह कथन उल्लेखनीय है कि अन्तरात्मा की दृष्टि से भागवत की उपर्युक्त पदावली का गीत नाम संबंध उपयुक्त है। शिल्प की दृष्टि में इनमें स्वर और लय का विधान गीतों जैसा नहीं है। सभी गीत संस्कृत के वर्णवृत्तों—शिखरिणी, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा आदि—में रचे गये हैं।¹¹⁶

यहाँ हमें केवल इतना ही कहना है कि शिल्प-विधान की दृष्टि से संस्कृत और हिन्दी के गीतों की तुलना करना ही सर्वथा असमीचीन है। संस्कृत और हिन्दी गीतों की अपनी अपनी परम्पराएँ हैं जो युग विशेष में परस्पर एक दूसरे में प्रभावित होती हुई भी अपनी स्वतन्त्र विशेषता को बनाए रही हैं। आधुनिक युग में तो संस्कृत काव्य पर हिन्दी-गीतों के शिल्प-विधान का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अतः उनके शिल्प-विधान की तुलना की जा सकती है किन्तु भागवत के आविर्भाव के समय तो शायद हिन्दी का जन्म भी नहीं हुआ था। अतः हिन्दी गीतों की शिल्पकला को भागवत में देखने की इच्छा करना जेलखिली के मन्सूबे जैसी ही वस्तु होगी। संस्कृत के छन्दों की अपनी लय और अपने स्वर हैं

1. आनन्दभागवत, ११।१।२१।३३।
2. " २६।७।२४।
3. " ११।२३।४३-४४।
4. " ११।२६।७-२४।
5. " १२।३।२-११।
6. गुरु की काव्यकला, पृष्ठ ३६६।

जिनमें संस्कृत के गीत बँध कर चले हैं। स्वयं डा० गीतम ने इस तथ्य को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। भागवत के गीतों के विषय में वे आगे लिखते हैं—
“इतना अवश्य है कि जहाँ-जहाँ वे गीत भागवत में हैं वहाँ वे वर्णनात्मक श्लोकों से अलग ही दिखाई पड़ते हैं। शिखरिणी आदि वृत्तों में गेयत्व पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है, उनकी लय मार्मिक गीतों की भावधारा के सर्वथा अनुरूप है। सारांश यह है कि यद्यपि भागवत के गीतों में हिन्दी गीतों का शिल्प-विधान नहीं मिलता तथापि गीत के सभी तत्त्वों से समन्वित होने के कारण ये ही साहित्यिक गीत-परम्परा के स्वतन्त्र स्वरूप हैं।”

इस प्रकार पुराण-साहित्य के अवलोकन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(१) पुराणों के विवरणात्मक वृहत् कलेवर में यत्र तत्र स्तोत्रों के रूप में भावुक हृदय का स्पन्दन सुन पड़ता है। ये स्तोत्र वैदिक स्तुति मन्त्रों तथा उत्तरवर्ती साहित्यिक स्तोत्रों के, जिन्हें धार्मिक गीति कहा गया है, मध्य की कड़ी हैं।

(२) विवेक रूप से भागवत की लीलागान परम्परा का उत्तरवर्ती गीति-कारों पर अधिक प्रभाव पड़ा। अनेक वैष्णव आचार्यों और कवियों ने अपनी रचनाओं के लिये भागवत में ही धीम लिया और बाद में यह परम्परा संस्कृत के माध्यम में हिन्दी साहित्य में भी प्रविष्ट हुई जिसमें कृष्ण-भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत उच्च कोटि के गीतों का प्रणयन हुआ।

महाकाव्य

‘मन में जब एक वेगवान् अनुभव का उदय होता है तब कवि उसे गीति काव्य में प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकता।’^१ ‘गीतिकाव्य’ में माधुर्य मृदुता और आन्तरिक आवेग का गुण होता है, इसके विपरीत महाकाव्य में गाम्भीर्य, प्रशस्तता और उदात्तता का गुण होता है। गीतिकाव्य की तुलना पहाड़ी भरने से नाटक की प्रवहमान मँदानी मरिना से और महाकाव्य की तुलना गम्भीर सागर से की जा सकती है।^२ किन्तु जिस प्रकार गम्भीर सागर में भी यदा कदा उतुङ्ग तरङ्गों का उन्मुक्त नृत्य पहाड़ी भरने की अदम्य प्रवहणशीलता को भी मात कर दिया करता है उसी प्रकार कहीं-कहीं महाकाव्य के कलेवर में भी ऐसे स्थल आ ही जाते हैं जो सशक्त अन्तः प्रेरणा के उच्चतम प्रतीक होते हैं और प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा गीति काव्य के अधिक निकट रहते हैं। आधुनिक युग में तो मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना को महाकाव्य का भी माध्यम मान लिया गया है। आज का कवि वस्तु अथवा इतिवृत्त को इतिहास की कोटि में रखता है और महाकाव्य में उसका आश्रय उतना ही आवश्यक समझता है जितना भावों की अभिव्यक्ति के आधार स्वरूप अपेक्षित है। कार्य व्यापारों का चित्रण भी प्रधानतया नाटक का विषय है, श्रव्यकाव्य का नहीं।

१. सुर की काव्यकला, पृष्ठ ३६७।

२. रवीन्द्रनाथ टैगोर, मेघनाथ बघ का भूमिका, पृष्ठ १५३।

३. डा० शम्भूनाथ मिश्र, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृष्ठ ११५।

पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है कि महाकाव्य की रोचकता उसमें निहित मनोभावों तथा आध्यात्मिकता के नियोजन पर निर्भर है, मानवीय व्यापारों का स्थान तो गौण है।¹ विद्वत् साहित्य की ये प्रवृत्तियाँ, जिनकी मान्यता इस युग की देन समझी जाती जाती है, संस्कृत महाकाव्यों में स्वतः ही स्थल-स्थल पर प्रतिबिम्बित हुई है। उक्त मान्यता अप्रत्यक्ष रूप से इस बात की ओर भी संकेत करती है कि अध्यात्मिक एवं वस्तु-परक (Subjective & Objective) काव्य-भेद औपचारिक ही है, वास्तविक नहीं, क्योंकि यह गीतिकाव्य और प्रबन्ध काव्य की प्रमुख सीमाओं को अलग करने की अपेक्षा मिलानती अधिक है। वस्तु अथवा चरित्र की प्रधानता की अपेक्षा आधुनिक प्रबन्ध-काव्यों में भाव-प्राधान्य को ही अधिक प्रश्रय देने की चेष्टा की गयी है। यही कारण है कि हिन्दी का प्रसिद्ध महाकाव्य 'कामायनी' गीतिकाव्य के अत्यन्त निकट है। साकेत का नवम तथा दशम सर्ग कथानक से एक दम मुक्त है और विशुद्ध गीतिकाव्य से श्रोतप्रोत है। मस्कृत महाकाव्यों में भी कहीं कहीं कथा-वस्तु निर्वाह की अवहेलना करके भाव-प्रधान स्थलों की सृष्टि हुई है। उदाहरण के लिये कालिदास के कुमारगणधन का नाम सर्वप्रथम लिया जायेगा। यों तो यह मार्ग काव्य ही कवि की समुच्चयमित्र भावनाओं से श्रोत-प्रोत है किन्तु पार्वती का मोदय-चित्रण तथा रति-दिलाप विषय रूप में उल्लेखनीय है। नव-यौवन की प्रथम किरण का स्पर्श पाकर विकसोन्मुख पार्वती के कलेवर-कमल का दर्शन कीजिए जो नव-यौवन के अवतार से ऐसा मुहौल लगता है जैसे उसे ब्रह्मा ने तूलिका में उड़गा हो।

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्र सूर्याशुभिभिन्नमिवारविन्धम् ।

बभूव तस्याश्चतुरश्रशोभि वपुर्बिभक्त नवयौवनेन ॥²

प्रथम चरण में पूरे शरीर की कान्ति, दूसरे में कोमलता और तीसरे में विविध अवयवों की सुबिभक्तता की अभिव्यक्ति हुई है। मोन्दय-दर्शन की श्रमिक दशाओं का यह सनातनशासनिक चित्रण है। सर्वप्रथम समूचा पदार्थ व्यापक रूप में चक्षुरिन्द्रिय का विषय बनता है तत्पश्चात् उसकी कोमलता या कठोरता का आभास होता है और यह सब हो चुकने पर दृष्टि प्रत्येक अंग के मोन्दय को विदिलिप्त करके देखती है। इस मोन्दय की अनुभूति से अभिभूत-हृदय कवि संसार में उसका कोई एक उपमान ही नहीं पाता। उसके हृदय पर रूप का जो प्रभाव पड़ा वही उसे यह कल्पना करने के लिये बाध्य कर देता है कि—

सर्वोपमात्रयसमुच्चयेन यथाप्रदेशं चित्रिवेशितेन ।

सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकत्र मोन्दयं विदुष्येव ॥³

1. The epic interest tends to centre less round the deeds of men and more round their inner feeling and their spiritual hearing. A. R. Entwistle, *The study of Poetry*.

2. कुमार संभव, ५।३२।

3. वहां, ५।४८।

इसी प्रकार तीसरे सर्ग में एक अत्यन्त प्रभावशाली भावात्मक वातावरण की सृष्टि की गयी है जिसमें कवि की भावना समस्त प्रकृति पर छा गयी है। प्रकृति को पृष्ठ भूमि बना कर वह निर्यमोनियों के ऊपर अपना सम्मोहन डालती हुई किमी महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है—

मधु हिरफः कुसुमंकपात्रे पपी प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।

शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगोमकण्ठयुत कृष्णसारः ॥

दबौ रसात् पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।

अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥^१

प्रिया का अनुवर्तन करने हुए भीर ने एक ही पुष्प-पात्र में मधु-पान किया। कृष्णसार हरिण अपने सींग में हरिणी का खुजलाने लगा जिसकी आँखें स्पर्शजन्य आनन्द में कारण मुकुलित हो चली थी। हथिनी ने कमलों के पराग से सुरभित जल मुख में लेकर हाथी को प्रणय सहित समर्पित किया और चकवे ने अपना अर्धोप-भुक्त मृगाल प्रिया को भेंट किया।

भावात्मकता की दृष्टि में कवि का यह प्रकृति-वर्णन अपने आप में पूर्ण है फिर भी वह साध्य नहीं साधन ही है। कवि की प्रविभा ने साध्य के सोपान रूप वातावरण को परम उत्कर्ष तक पहुँचाने के हेतु लगभग दो तिहाई सर्ग लगा दिया है जिसमें कथानक की स्थिति सघन सुमन-माला में अदृश्य सूत्र के समान ही है। यदि कवि घटनाओं की मूचना ही देना चाहता अथवा कथानक के प्रवाह को ही प्रमुख नमझता तो वह चलता वर्णन कर देता, स्वयं ही यह अवरोध उत्पन्न नहीं करता। अतः जान होता है कि उसका लक्ष्य कुछ और ही है और जब हम देखते हैं कि :—

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधर्मश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥^२

तो हमें उसके लक्ष्य और सफलता की प्रतीति एक साथ हो जाती है। समूचे सर्ग में अत्यन्त मवेदनपूर्ण वातावरण छाया हुआ है जो विश्वासपूर्वक गीत्यात्मक वातावरण कहा जा सकता है।

चतुर्थ सर्ग में रति का करुण विलाप है। रति-प्राणम्बन के सर्वथा लुप्त होने में उत्पन्न शोक सयोग-कालीन क्रीडाओं की स्मृति, चिन्ता, ग्लानि, आवेग आदि संचारियों में तीव्र होकर वसुधा-विसर्पण, उरस्ताडन आदि अनुभावों द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ रस रूप में परिणत होता है। पति-वियुक्ता रति की आत्म-विरति, दैन्य, आत्म-गर्हणा आदि से पूर्ण उक्तियाँ उसकी अदम्य मनोव्यथा की सूचक हैं। पाठक यहाँ आकर आत्म-विस्मृत हो जाता है। उसे यह ज्ञान ही नहीं रहता कि

१. कुमार संभव, ३।२६-३७।

२. वही, १।६७।

वह कोई प्रबन्ध काव्य पढ़ रहा है क्योंकि प्रबन्ध काव्य का मुख्य आधार—
कथानक—भावनाओं से दबकर दृष्टि से ओझल हो जाता है और जब वह पढ़ता है—

बिबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।

तमिमं कुरु दक्षिणैतरं चरणं निमित्तरागमेहि मे ॥^१

तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सचमुच रति का आर्तनाद सुन रहा है। निष्ठुर देवताओं ने रति के चरणों में जावक देते हुए काम को अपने काम के लिये बुला भेजा। वह अपनी प्रेयसी के दायें पैर में ही 'महावर लगा पाया था कि इन्द्र का आदेश पाकर उसे शिव का ध्यान भग करने के लिये जाना पड़ा, परन्तु शिव उसके लिए अशिव बनकर आये। वह उनकी क्रोधान्त्रि में जल गया और रति लाक्षा रक्त एव लाक्षा-रहित चरण को देख देख कर रोती हुई कहती है—“प्रिय ! इसे पूरा तो कर दो ।” कितनी करुण कल्पना है ? कौसा शाश्वत सत्य है ? वाल्मीकि की श्रीञ्ची के समान कालिदास की रति भी भावोद्बोध की प्रेरणा बन कर आयी। वसन्त के प्रति रति की इस उक्ति में कितनी निराशा, विषाद, दीनता और विवशता है।

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिस्ताहतः ।

ग्रहमस्य वशेष पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम् ॥^२

आह ! तुम्हारा वह सखा वायु में आहत दीपक के समान चला ही गया। अब नहीं लौटेगा। और मैं असह्य दुःख में पड़ी उसकी धुआँ देती हुई बसी के समान रह गयी हूँ।

ऐसे ही स्थल प्रबन्ध काव्य को काव्य सजा प्रदान करने है। यदि इन्हें निकाल दिया जाये तो वह इतिहास अथवा कहानी से अधिक कुछ नहीं, और जैसा कि हम पिछले अध्याय में कह आये हैं जान डिकवाटर ऐसे स्थलों को कवि की विशुद्ध कवित्वशक्ति (Poetic energy) प्रेरित रचना मानता है और उसके मन से गीति इससे भिन्न कुछ नहीं होती।

इसी प्रकार रघुवश के आठवें सर्ग में अज-बिलाप भाव-सान्द्रता की दृष्टि से बेजोड़ है। संसार का बलवत्तम पुरुष भी देवी शक्ति के समक्ष किनता तुच्छ है ! इस तथ्य की करुण अनुभूति कवि के इन शब्दों में व्यक्त हुई है—

खगियं यवि जीवितापहा हृदये निहिता कि न हन्ति माम् ।

विषमप्यमृतं श्वचिवभवेदमृतं वा विषमोद्वरेच्छया ॥

अथवा मम भाग्यविप्लवावशानिः कल्पित एव वेधसा ।

यदनेन तर्ह्यं पातितः क्षप्तिता तद्विदधाश्रिता लता ॥^३

प्रणय-जगत् में आश्रय के देखते-देखते आलम्बन का करुण अवसान भाग्य का दारुण आघात है। अपने सुरभिरस से जीवन में जीवन भर देने वाले कोमल कुसुम

१. कुमार सभवा, मंग ३ ।

२. वही, ४।३० ।

३. रघुवंश, ८।४६-४७ ।

ही जब कुलिश का कार्य करने लगे तो मनुष्य का हृदय कैसे न टूट जाये—

वृत्तिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमनुनिवसवः ।

गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ।¹

शयन ही नहीं सब कुछ सूना हो गया क्योंकि प्रेयसी ही नहीं तो सब कुछ खो गया—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ ।

करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वत किं न मे हृतम् ॥²

यह महारानी इन्दुमती की मृत्यु पर महाराजा अज का विलाप है ? महा-कवि कालिदास की उक्ति है ? या सर्वलक्षणसम्पन्ना पत्नी के चिरनिद्रामग्न हो जाने पर किसी पति की आत्मा का करुण क्रन्दन है ? सब कुछ है, सब की अनुभूति है, इसीलिये व्यापक और गम्भीर है, लय कर लेने वाली है । और क्योंकि लयात्मक तथा अतिशय कोमल है इस लिए गीति है । कालिदास की कविता इसीलिये रमणीय है कि उसमें एक अन्तःमंगीत (जो गीतिकाव्य की एक विशेषता है और जिस का उत्तेजक पिछले अध्याय में किया जा चुका है) भी बाह्य संगीत के साथ-साथ व्याप्त है ।³

बौद्ध महाकवि अश्वघोष के काव्यों में भी स्वतः उच्छ्वसित भावनाओं का कूलक प्रवाह बहता रहता है । उनकी कथानक-बाह्यता रुचिकर है किन्तु उनके काव्य की मर्मस्पर्शिता मनोभावों से ही है । मानवीय पदार्थों की नश्वरता के वर्णन में तो मानो वे अपनी सभी विद्वत्ता, पाण्डित्य, दर्शन, धर्म-प्रचार आदि बातों को भूल जाते हैं और हृदय के अन्तस्तर में निगूढ़ निबेद की धारा बहा देते हैं ।⁴ एक उदाहरण लीजिए—

ऋतुव्यंतीतः परिवर्तते पुनः शयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः ।

गतं गतं नैव तु संनिवर्तते जलं नदीनां च नृणां च योषनम् ॥⁵

ऋतु बीत जाती है तो फिर लौट आती है । क्षीण होकर लुप्त हुआ चन्द्रमा

1. रघुवंश, ८।१५ ।

2. " ८।१६ ।

3. There are occasional bursts of rare and elsewhere unheard music.
(S. K. Dey Hist. of Sans. Lit., p. 180)

4. His skill in narration keeps us interested, but the real appeal derives from the spontaneous emotion which overflows in his poetry. Equally insistent throughout in his sense of the impermanence of all man-done phenomenon however delightful that be,..... When he comes to deal with that which lies at the core of his being, he sheds his learning and drops all play with rhetorical and padantic tricks, to speak straight from the heart.

(Dr. E. H. Johnston, Introduction to Budhacharita, pp. 46-47.)

भी लौट आता है, किन्तु नदियों का जल और मनुष्यों का यौवन जाकर लौटता नहीं ।

यह श्लोक महाकाव्य से विच्छिन्न होकर भी उतना ही आस्वाद्य है जितना प्रबन्ध काव्य के कथानक में गुम्फित रह कर । इसी प्रकार सुन्दरी और नन्द के पार-स्परिक प्रणय-बन्ध का कवि ने हृदयग्राही वर्णन किया है जिसका प्रत्येक पद्य सम्पूर्ण घटना का उपकारक है किन्तु स्वतःपूर्ण एवं आस्वाद्य है ।¹

सिद्धार्थ के यहाभिनिष्क्रमण के पश्चात् जब छन्दक और कन्धक वापिस लौट आते हैं तो समस्त नगर पर शोक की गहरी छाया पड़ी पाते हैं । राजमहल की स्त्रियों की यह दशा थी कि—

हृत्स्त्रियोऽन्याः शिथिलांसबाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।

न शुक्रशु नाभु जहर्न शश्वसुनं चेलुरासुलिखिता इव स्थिताः ॥²

स्त्रियों की मुख कान्ति फीकी पड़ गयी । दुःख के कारण उनकी चेतना ही जाती रही थी । वे न क्रन्दन करती थीं, न आँसू बहाती थीं, न सास ले रही थीं, और न हिलती थीं । बस चित्र लिखित भी रह गई थी ।

स्त्रियों की इस जड़ता को छोड़कर यशोधरा के डम प्रश्न को देखिए । प्रिय-विरह-जन्य आवेग के कारण स्नेहपात्र की अवधीरणा भी कितनी स्वाभाविक है :—

निशि प्रसुप्तामवशां बिहाय मां गतः क्व स च्छन्दक ! मन्मनोरथः ।

उपागते च त्वयि कन्धके च मे समं गतेषु त्रिषु कम्पते मनः ॥³

प्रियेण वश्येन हितेन साधुना त्वया सहायेन यथार्थकारिणा ।

गतोऽयं पुत्रो ह्यपुनर्निवृत्त्ये रमस्व दृष्ट्या सफलः श्रमस्तव ॥⁴

छन्दक ! मेरा वह मनोरथ रात्रि में मुझे असहाय अवस्था में सोती छोड़ कर कहाँ चला गया ? तुम तीनों साथ गये थे । तुम और कन्धक तो लौट आये । अतः मेरा मन काँप रहा है । तुम जैसे प्रिय हितू और सेवक के साथ आर्य-पुत्र कभी न लौटने के लिये चले गये । तुम्हारा श्रम सफल हुआ । अब मोज करो ।

सुत-वत्सला गौतमी के हृदय की भाँकी कवि के इन शब्दों में मिलेगी—

विमानपृष्ठे शयनासनोचितं महार्हवस्त्रागुरुचन्दनाचितम् ।

कथं न शीतोष्णजलागमेषु तच्छरीरमोजसिव बने भविष्यति ॥

1. Each verse presents a perfect little picture but is subordinated to its place in the whole, and the tempo is exactly right, neither too harty nor too long drawn out. (वही pp. LXXXVII), see also, सौन्दरनन्द, संग ४ श्लोक ११।२३ ।

2. बुद्धचरित, ८।२५ ।

3. वही, ८।३२ ।

4. , ८।३४ ।

शुची शायित्वा शयने हिरण्यमे प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिःस्वनः ।

कथं बलं स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटङ्कदेशान्तरिते महीतले ॥^१

मत्तमंजले महल पर सोने और बैठने योग्य तथा बहुमूल्य वस्त्र, अगर और चन्दन से चर्चित उसका ओजस्वी शरीर गर्मी, जाड़े और बरसात में कैसे रहेगा ? रात में सोने के सुन्दर पलंग पर सोकर प्रातः मङ्गलवाद्याँ की ध्वनि से निद्रा त्याग करने वाला वह मेरा तपस्वी एक वस्त्र मात्र से आच्छादित पृथ्वी पर कैसे सोयेगा ?

काव्य-रस की दृष्टि से उत्कृष्ट होने हुए भी अश्वघोष ने अपने काव्यों को धर्म-प्रचार का साधन कहा है । उनके अनुसार उनका काव्य शर्करावेष्टित तिलोपध-वटिका जैसा है और उनका उद्देश्य धर्मोपदेश है, मानवीय भावोद्बोध नहीं ।^२ बात यह है कि काव्य द्वारा मनोभावों के आस्वाद्य हो जाने से भिक्षुओं की चित्तवृत्ति पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था जिसमें वे धर्म-प्रवचनों की उपेक्षा कर ललित काव्य में लीन हो सकने थे । इस लिये भगवान् बुद्ध ने भावात्मक काव्य-श्रवण का भिक्षुओं के लिए निषेध किया था ।^३ अश्वघोष बुद्ध के थडाल अनुयायी थे । अतः अपने काव्य-धर्म में प्रवृत्त होने का औचित्य उन्हें सिद्ध करना ही था ।^४ वस्तुतः उनके रम-मिद्ध कवि होने में कोई सन्देह नहीं है । बुद्ध के चरित-चित्रण में कोई भी कवि उनमें बाजी नहीं ले सका ।^५ अश्वघोष की रचना में आत्माभिव्यंजन की जो प्रवृत्ति पायी जाती है उसमें काव्य में आत्म-विषयक विचारावलि की प्रतिष्ठा की ।^६ महा-महोपाध्याय हरप्रसाद शारत्री के अनुसार अश्वघोष ने सुन्दर गीतों की भी रचना की थी ।^७ सौन्दरनन्द के विषय में उनका कथन है कि इस काव्य में सुन्दरी और नन्द के महान् प्रेम का चित्रण है ।^८ वास्तव में दाम्पत्य प्रेम की गहन अनुभूति, विरह की मार्मिक वेदना, और सयोग की मधुर केलियों के तीव्र भावात्मक चित्रण ने सौन्दरनन्द में गीति-तत्त्वों को समाविष्ट कर दिया है । इसीलिए कोई-कोई विद्वान् तो इसमें अश्वघोष के जीवन वृत्त की सम्भावना भी मानते हैं ।^९

१. बुद्धचरित, म. १६. १८ ।

२. यन्माद्यतत्तमन्वदत्र हि मया तत्काव्यमोक्तम् ।

पानु तिलक निर्वाणं मधुयुतं ह्यथ कथं स्यादिति ॥ (सौन्दरनन्द, १-१५६।१७)

३. देखिये अङ्ग उत्तर निकाय, भाग ३, पृष्ठ १०७ ।

४. देखिये बा० भी० ला का 'अश्वघोष', पृष्ठ १२।२६ ।

५. Keith, *Hist. of Sanskrit Lit.*, pp. 51.

६. देखिये, *Journal of R. A. S. of Bengal*, New series, Vol. 23 (1927) pp 347-367.

७. "J. A. S. B. New Series. Vol. 5, 1909.

८. वही ।

९. The reverry of thought may even go so far as to present that the poet has revealed his own personal history through the career of Nand which he masterfully delineated. (B. C. Law, *Ashvaghoṣh*, p. 32).

कालिदास और अश्वघोष के बाद के कवि भावाभिव्यञ्जन की अपेक्षा परिधान के परिष्कार की ओर अधिक आकृष्ट हुए। महाकाव्यों की सर्जना निश्चित नियमों के भीतर होने लगी और कवि का उद्देश्य शास्त्रीय ज्ञान, लौकिक सूक्ष्म एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन ही अधिक हो गया। इसीलिये इस खेबे के काव्यों में भाव-प्रवणता, स्वाभाविकता और प्रासादिकता अपेक्षाकृत कम दीख पड़ती है। इस श्रम-साध्य शैली के दर्शन वत्सभट्टि की प्रणप्ति में ही हो जाते हैं किन्तु भारवि और माघ के युग तक पहुँचते-पहुँचते तो यह स्वयं प्रौढ़ हो चुकी थी।¹ विषय-वस्तु एवं भावों की परवाह न कर कवियों ने शैली पर ही ध्यान केन्द्रित कर लिया जिससे काव्य के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में सन्तुलन न रह सका। यही कारण है कि भारवि में कालिदास का माधुर्य और स्वाभाविकता कम ही लक्षित होती है। शब्दों की बाजीगरी ने उनकी रचना को कई स्थलों पर नीरस ही नहीं हेय भी बना दिया है। युद्ध के वर्णन में जहाँ वीर रस का समुचित परिपाक अपेक्षित था, भारवि चित्रबन्ध के विचित्र गोरख-घन्धे में फँसकर बौद्धिक कवायद की करामात ही दिखा पाये है फिर भी इन महाकाव्यों में सूर्योदय, सूर्यास्त, रात्रि, ऋतु, पर्वण, नदी आदि के वर्णन अनिवायेत होने के कारण प्राकृतिक सौन्दर्य एवं कोमल शृङ्गारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत खण्ड-चित्रों की प्रचुरता है। किरातार्जुनीय में अम्बराओं के कुसुमोच्चय-वर्णन, सुरत-वर्णन एवं अर्जुन को लुभाने की चेष्टाओं के वर्णन में इस प्रकार के पद्य देखे जा सकते हैं। वस्तुतः भारवि अपने अर्थ गौरव के लिये ही अधिक प्रसिद्ध है गीत्यात्मकता उनकी रचना में उतनी नहीं आ सकी।²

कुमारदास का जानकीहरण कोमल भावों, उदात्त कल्पनाओं, सुकुमार पद-विन्यास और प्रासादिकता से ओत-प्रोत होने के कारण कालिदास की रचनाओं की स्मृति दिलाता है।³ इसमें गीतिमय अनेक चित्र हैं जिनका सौन्दर्य देखे ही बन पड़ता है। तीसरे सर्ग में दशरथ का अपनी रानियों के साथ जल-विहार वर्णन है जिसमें शृङ्गारिक भावनाओं एवं चेष्टाओं के सुन्दर चित्र मिलते हैं जिनकी सुकुमारता और मधुरता प्रशंसनीय है। जल-विहार-रत सुन्दरी का मत्स्य-स्पर्श-जनित संत्रास देखिये—

मत्स्येन चीनांशुकपृष्ठलक्ष्यकाञ्चीमणिप्रासकुसुमेन ।

आग्राय मुषतोपनितम्बमेका संत्रासभुगधु चिर चक्ष्ये ॥⁴

1. The moulder of its form and spirit is not Kalidas but his stalwart successors among whom Bhatti and Magh appear to have wielded the greatest influence. (S. K. Dey, *Hist. of Sans. Lit.*, p. 305)

2. Bharvi's strength, however lies more in the descriptive and the argumentative than in the lyric touch. (S. K. *Hist. of Sans. Lit.*, p. 181).

3. Kumar dasa's style of writing resembles more that of Kalidas than that of Bharvi or Magh. (S. N. Das Gupta, *Hist. of Sans. Lit.*, p. 621).

4. जानकीहरण, ३।४६ ।

महाकवि माघ ने भी “अस्यन्ती चलशफरीविघटितोरु धामोरु” नायिका का ऐसा ही चित्र खींचा है।

अर्ध विकसित कमल कोष पर झुके हुए हंस श्रावक को पकड़ने की सीला-लुब्धा ललना का यह चित्र कितना मोहक है—

सामिप्रबुद्धस्य कुक्षेगयस्य कोशे मुलन्यासनिरुद्धदृष्टिम् ।

स्पष्टदृश्येते कलहसशावं निःशब्दमुल्लिखित-योचि काचित् ॥¹

यह चित्र कल्पित होते हुए भी सजीव है। कृत्रिम (उपवन-दीपिका-सम्बद्ध हग-विषयक) होते हुए भी स्वाभाविक है। बर्द्धस्वयं के (Daffodils) के चित्र में इगका प्रभात बया इसी लिये कम हो जायेगा कि यह अन्य पुरुष पद्धति से कहा गया है ?

कल्पना की उड़ान और कलागत आडम्बर के लिये भी हर्ष संस्कृत साहित्य में बहुत बचनाम है किन्तु उनके नैपथीयचरित में भी ऐसे पक्षों का प्रभाव नहीं है जो अफाँट रसभरता और गयता के कारण गीतिकाव्य की कोटि में गिने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए अनुर्थ सर्ग में चन्द्रोपानम्भ व कामोपानम्भ विषयक उक्तियों को लिया जा सकता है। इन स्थलों से प्रतीत होता है कि कवि कल्पनाक और पात्रों को भूल कर किसी वियोगी हृदय के साथ तदात्म्य कर उसके उद्गारों को व्यक्त करने के लिये बाध्य हो गया है।

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत महाकाव्यों में यत्र तत्र अनेक सौन्दर्य और पक्ष ऐसे हैं जो कथा वस्तु, पात्र आदि से मुक्त होकर स्वतः आस्वाद्य भी है। उनकी भाव-गान्धता, सुकुमारता, गेयता आदि विशेषताएँ गीति-काव्य के साथ उनकी अभिन्नता स्थापित करती हैं। यही वास्तविक वकित है। इस सम्बन्ध में डा० एम० एन० दाम गुप्ता का मत भी इस कथन की पुष्टि करता है—

The slok form in which the Sanskrit Kavyas are generally written renders the whole presentation into little fragmentary pictures—which stand independent by themselves and this often presents the development of a joint effect Unitary whole The story or the plot becomes of a secondary interest and the main attention of the reader is drawn to the poetical effusion of the writer as expressed in little pictures.²

इसीलिये बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि महाकाव्य में नाटक और गीतिकाव्य दोनों ही की शैलियों का मिश्रण रहता है।³

1. जलशोहरण, ३।४४।

2. Dr. S. N. Das Gupta, *Introduction to the History of Sanskrit Lit.*, p. XXI.

3. बंकिम निबन्धावली, अनु० रूपनारायण पाण्डेय, पृष्ठ ५०।

इस विवेचन से हमारा तात्पर्य यही है कि यद्यपि संस्कृत महाकाव्य, संस्कृत गीति काव्य के क्रमिक विकास में किसी विशिष्ट अवस्था अथवा युग के प्रारम्भ की सूचना नहीं देते तथापि उनमें यत्र तत्र गीत्यात्मक तत्त्वों का स्वतः ही समावेश हो गया है जो महाकाव्य के वस्तुनिष्ठ कलेवर में प्राणों का कार्य करते हैं।

नाटक साहित्य

पहले अध्याय में यह कहा जा चुका है कि नाट्यशास्त्र में गीति शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट प्रकार के गान के अर्थ में हुआ है। गान्धर्व के स्वरात्मक, तालात्मक और लयात्मक भेदों के अन्तर्गत तालात्मक गान्धर्व के इक्कीस भेदों में से एक गीति भी है जो मागधी, प्रवर्णमागधी, संभाविता और पृथुला भेद से चार प्रकार की होती है। इनके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं।

भिन्नवृत्ति प्रगीता या सा गीतिर्मागधी मता ।

अर्धकालनिवृत्ता च विज्ञेया त्वर्धमागधी ॥

संभाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमन्विता ।

लघ्वक्षरकृता नित्या पृथुला सप्रकीर्तिता ॥^१

गान-योजना में इन गीतियों का आश्रय लेना आवश्यक बताया गया है।^२ इसी प्रकार पूर्व रङ्ग विधि में गीतविधि का उल्लेख किया गया है।^३ बीसवें अध्याय में लास्याङ्गों के अन्तर्गत गेय पद का समावेश मिलता है जिसका लक्षण है—

आसने चोपविष्टायां तन्त्री भाण्डोपबृंहितम् ।

गायनं गीयते शृङ्गं तद्गेयपदमुच्यते ॥

इक्कीसवें अध्याय में नाटक में प्रयोक्तव्य गीतों के अंगों और लक्षणों का उल्लेख है।

इन गीतियों और गीतों का सीधा सम्बन्ध सगीत योजना से है। क्योंकि संस्कृत के नाटकों में आधुनिक गीतों जैसे गीत नहीं पाये जाते। इस से स्पष्ट है कि उनमें आये हुए पद्यों का ही सगीत के अनुसार गान किया जाता था। इन्हीं पद्यों में से अनेक ऐसे हैं जो गेयता के अतिरिक्त अध्यान्तरिकता तथा अनुभूति की सघनता के कारण आधुनिक गीतिकाव्य की कोटि में रहे जा सकते हैं।

संस्कृत नाटकों में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। पाश्चात्य विद्वानों को ये विशेषताएँ विशेष रूप से अद्भुत सी प्रतीत होती हैं। दुःस्मान्त नाटकों का अभाव, कुछ पात्रों द्वारा संस्कृत में तथा कुछ का प्राकृत भाषा में संभाषण करना तथा कथोपकथन में गद्य के साथ साथ गीत्यात्मक पद्यों का प्रचुर प्रयोग, ऐसी विशेषताएँ हैं जो यूरोपीय विद्वानों को आकृष्ट किये बिना नहीं रहती।^४

१. नाट्यशास्त्र, २६।१८, ७६।

२. गान्धर्व एवं योज्यास्तु कित्यं गानयोक्तुभिः ।

३. नाट्यशास्त्र, (बौल्लम्बा) पृष्ठ ५२।५३।

४. See, Macdonell, *Hist. of Sans. Lit.*, p. 348.

विश्लेषण करने पर हम सहज ही इनके मूल कारणों तक पहुँच जाते हैं। भारतीय दृष्टिकोण सर्वदा ही आदर्शवादी रहा है 'मा कचन दुःखभागभवेत्' का पुनीत आदर्श रखने वाली जाति के साहित्य में दुःखान्त नाटकों का अभाव होना स्वाभाविक ही है। विभिन्न वर्ग के पात्रों में भाषा-भेद स्वाभाविकता का आधायक होता है और गीत्यात्मक पद्यों का प्रयोग वातावरण की सृष्टि अथवा भावोत्कर्षाभिव्यक्ति के लिये आवश्यक है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि संस्कृत नाटक के प्रमुख तत्त्व 'रस' के आधान की चेष्टा ही इन का मूल है। रंगमंच पर युद्ध मृत्यु आदि दृश्यों का प्रदर्शन अभिनेयता की दृष्टि से कष्ट साध्य होने के साथ साथ दर्शकों के हृदय को उद्वेगभार से भी आक्रान्त कर सकता है। अतः उनका समावेश अनुचित माना गया। भाषा-भेद की पात्रानुकूल भाषा से जनित स्वाभाविकता रसाम्बान में सहायक बनती है और गीति-पद्य तो भावसान्द्रता के अभिव्यञ्जक होते ही हैं। इन पद्यों में कही तो मानवीय भावनाओं का अप्रतिम उच्छ्वास, कही सौन्दर्य का विचित्र चित्रण, कही प्रसङ्गानुकूल पृष्ठभूमि का विधान और कही विविध व्यापारों की व्यापक रमणीयता का स्फुरण हुआ है। इनमें से कितने ही कथा-सूत्र से विच्छिन्न होकर भी स्वतः आस्वाद्य हैं। वास्तव में संस्कृत नाटकों की सार्वजनीन प्रशस्ति एव अभिरामता में इनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।¹ डा० कीथ ने यही बात इन शब्दों में कही है—“निःसंदेह अश्वघोष से भी बहुत पहले संस्कृत नाटक पद्यों को प्राचीन ग्रीक नाटकों के समान कथोपकथन के अनिवार्य नस्वरूप में नहीं अपितु प्रनकरिष्णु एव मनोरञ्जक विषयान्तर (Ornamental excursion) के रूप में स्वीकार कर चुका था।”² डा० कीथ के इस कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि संस्कृत नाटकों के प्रन्तर्गत पद्यों का उद्देश्य घटना-वर्णन अथवा वस्तु-निर्वाह ही नहीं है बल्कि उससे बाहर मनोरञ्जनार्थ पदक्रमण है। दूसरे शब्दों में, इन पद्यों का प्रस्तुत-प्रसङ्गातिरिक्त स्वतन्त्र महत्त्व भी है तथा इनका उद्देश्य है मनोरञ्जन और नाटक के सौन्दर्य की वृद्धि। इसका कारण यह है कि इनमें प्रायः शाश्वत मनोभावों की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है। यही कारण है कि एक ही प्रकार की अनुभूति की तीव्रता के चरम बिन्दु पर विभिन्न नाटककारों की अभिव्यक्ति प्रायः एक सी ही है :—

दृष्टिर्न तृप्यति परिवर्जतीव साङ्गम् ।

रागोऽभिज्ञोवयति सादयतीव चाङ्गम् ॥

1. The miniature word-pictures in which it (Sans. Lyrical poetry) abounds have evoked universal admiration and even the Indian Dramas owe part of their beauty to their lyrical elegance

(Prof. Hiriyanna, Sans. Studies, p. 52)

2.we see that the drama as early as Asvaghosa, and doubtless long before him, had definitely accepted the verses not as a essential element of dialogue as are the verses in Greek drama, in more or less ornamental excursion. (Sanskrit Drama, p. 90).

बुद्धिस्त्वरं व्रजति बोधयतीव सुप्तम् ।

हर्षात् प्रसीदति विमुह्यति चान्तरात्मा ॥^१

दृष्टि मानो शरीर का आलिङ्गन करती हुई तृप्त नहीं हो पाती । राग मानो विवश ग्रंथ को प्रेरित कर रहा है । बुद्धि उत्थानी सी हो रही है और मानो मुषुप्ति को प्रवृद्ध कर रही है । अन्तरात्मा हर्ष के कारण मानो मोह को प्राप्त होती जा रही है ।

विनिश्चेतुं शक्यो न शुक्लमिति वा दुःखमिति वा ।

प्रमोहो निद्रा वा किमु विषयसर्वः किमु मयः ॥

तव स्पर्शं स्पर्शं मम हि परिमूढेन्द्रियगणो ।

विकारश्चेतन्यं भ्रमयति यः संमोलयति स ॥^२

मैं नहीं समझ पा रहा कि यह सुख है या दुःख ! भारी माह है या निद्रा प्रयवा विष की गहर या मना । तुम्हारे अत्यन्त स्पर्श से मेरी इन्द्रियाँ जैसे विमूढ़ हो जाती हैं और कोई विचार माना चेतन्य को भ्रममाता रूप विलीन हो रहा है ।

इसका यह आशय नहीं है कि संस्कृत नाटको में प्रयुक्त सभी पद्य इसी प्रकार भावना की सम्पूरिता में नवरें हुए हैं । मय तो यह है कि इन पद्यों का एक बहुत बड़ा भाग गद्यमय मन्त्रादा से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है । अत्यन्त नाटककार के सभी पद्यों का कोई विशिष्ट उद्देश्य रहना हो यह मायारणनया दीव नहीं पड़ना । कही-कही तो इन पद्यों की अपेक्षा गद्य का ही प्रयोग अधिक समर्पक और स्पृहणीय प्रतीत होता है । इनमें से अधिकतर वर्णनात्मक हैं, बहुत सी पात्राओं का चरित्र मात्र देने हैं । यथान्तक के विकास में, चरित्र-चित्रण अथवा भावों की पूर्ण शक्ति के प्रसार में भी इनसे कोई सहायता नहीं मिलती, उनमें अवरोध या उत्थान ही जाता है । अभिनय की दृष्टि से भी इन का कोई विशेष महत्त्व लक्षित नहीं होता । बात-चीत के दौरान में कोई पात्र गद्य में बात करता करना एक दम पक्ष में बोलने लगता है तो बड़ा अस्वाभाविक सा लगता है जिसके कारण आधुनिक रूचि का पाठक और दर्शक एक प्रकार की उकताहट का अनुभव करने लगता है । संस्कृत साहित्य का निष्ठावान् अध्येता इस दिशा में टूट्ट अवश्य हो जाना है । हो सकता है कि वह इन वर्णनात्मक श्लोकों के तावडतोड अनुभव में ऊब वा अनुभव न करे किन्तु किसी भी संस्कृत नाटक का हिन्दी अनुवाद यदि आज के शिष्ट समुदाय के समक्ष प्रस्तुत और अभिनीत किया जाये तो वह इनमें उतना रस न ले सकेगा । अन्य बातों में किसी भी प्रकार की तुलना सम्भव न होते हुए भी संस्कृत नाटकों की केवल पद्य बाहुल्य की यह विशेषता पाश्चात्य जैसी के नाटकों की स्मृति दिलाती है जिनमें मौके-बेमौके शीर और गूजन कहने का उतावनापन सर्वत्र पाता जाता है, किन्तु संस्कृत नाटकों के कवित्वमय पद्यों और इन भरी तुक-बन्दियों में कोई साम्य नहीं ।

१. भास, अवतारक, ३।१७ ।

२. भवभूति, उधर रामचरित, ३।१७ ।

संस्कृत नाटककारों की इस प्रवृत्ति का कारण तत्कालीन लोकचर्चा ही कही जा सकती है। वह ऐसा समय था जिसमें नाटककार, कवि, आख्यायिकालेखक अथवा कहानीकार आज की भाँति पृथक् वर्ग के व्यक्ति नहीं समझे जाते थे। आज का आलोचक किसी नाटककार, उपन्यासकार या कहानीकार को किसी भी प्रकार कवि कहने के लिये प्रस्तुत नहीं है। गायद कोरे गद्यगीत लिखने वाला भी उसकी दृष्टि में कवि के अभिधान का अधिकारी नहीं है, परन्तु संस्कृत के युग में—और संस्कृत के विद्वानों के समाज में आज भी—दशकुमार चरित का लेखक दण्डी भी “कविदण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न सदायः” जैसी उक्तियों द्वारा बंधक प्रशसित हुआ है। सो, संस्कृत का कवि चाहे नाटककार न रहा हो पर नाटककार कवि सदा से ही रहा है और अपने नाटक में लगे हाथ कवि-कर्म का निर्वोह करना अपना जन्म मित्र अधिकार मानता रहा है। इस भावबन्ध में एस० के० डे का कथन है कि संस्कृत-नाटक और कविता का यह साम्य उनमें उद्गम की एवता की और संकेत करता है।¹ ग्रेमी स्थिति में संस्कृत के नाटकों में पद्यों का अधिक होना स्वाभाविक ही है। एक अन्य कारण यह भी है कि गद्य नाटकों का विकास प्राचीन आख्यानों से हुआ है जो विवरणात्मक पद्यों में सिंगे गये हैं। अतः नाटकों में विवरणात्मक पद्यों का समावेश परम्परागत है। कालिदास जैसे नाटककार की रचनाओं में भी ऐसे श्लोक मिलते हैं जिन्हें आसानी से निबाला जा सकता था अथवा अधिक प्रभावशालिता के साथ गद्य के रूप में परिणत किया जा सकता था। उदाहरण के लिये एक पद्य लीजिए—

यदुत्तिष्ठति वर्णैर्भ्यो नृपाणां क्षयितद्धनम् ।

तपःपट्टभागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥

‘ब्राह्मणार्णव गृहस्थ प्रजा से जो धन कर रूप में एकत्र होता है। वह तो नश्वर है, क्षयशील है किन्तु ये वनवासी, तपस्वी अपने तप का छटा भाग देते हैं जो अक्षय्य है।’

दृष्टान्त की इस उक्ति में यही बताया गया है कि गृहस्थ जनो में राजा को कर के रूप में जो प्राप्त होता है उसकी अपेक्षा आश्रमवासी तपस्वियों ने प्राप्त तप का अक्षय्य अधिक स्थायी होता है। यह सींगी सी बात गद्य के रूप में अधिक प्रवाह के साथ कही जा सकती थी। यहाँ भावना का कोई ऐसा उच्चार भी नहीं है जिसके लिये पद्य ही आवश्यक होना। जिस प्रसङ्ग में यह श्लोक आया है वह सवाद की दृष्टि से अत्यन्त प्रवाह-सापेक्ष कहा जा सकता है। प्रथम दर्शन में ही प्रसक्त राजा शकुन्तला के पुनर्दर्शन के लिये बहाना निकालने के विषय में विदूषक से यातचीत कर रहा है। उसके पूछने पर विदूषक कहता है “आप राजा हैं इसमें अधिक बहाना क्या होता ! इस पर राजा क्या कहता है—‘इससे क्या’ ? तो विदूषक उत्तर देता है “यही कि जाकर ऋषियों से कहो कि नीवार का छटा घंश कर के रूप में दें”। इस पर राजा ने उपर्युक्त श्लोक कहा है। स्पष्ट है कि सवाद छोटे छोटे कथनों के रूप

1. The close approximation also of drama to poetry made by Sanskrit theory perhaps points to the striking parallel, but inherently diverse, development from a common epic. (*Hist. of Sanskrit Lit.*, p. 51).

में तीव्र गति के साथ चल रहा था। राजा और विदूषक पर्याय से वृत्तबोधव्यता के घाश्रित होते हुए एक दूसरे के विचार जानने के प्रति अधिक उत्सुक हैं। ऐसी स्थिति में अनायास ही प्रवाह में बहते हुए छोटे छोटे वाक्यों को छोड़ कर श्लोक में कोई बात कहने लगना तारतम्य में बाधक ही बन जाता है। यह बात बेसुतके कही जा सकती है कि संस्कृत नाटकों में से बहुत से ग्रामानी से हटाये जा सकते हैं और ऐसा करने में किसी प्रकार से भाव या कथा का अवरोध भी उत्पन्न न होगा।

यह सब कुछ होते हुए भी, जैसा कि कहा जा चुका है, संस्कृत नाटकों में अनेकत्र ऐसे पद्य भी पाये जाते हैं जो न केवल नाटकीयता की दृष्टि से प्रभावोत्पादक सिद्ध होते हैं अपितु भावगाम्भीर्य की दृष्टि से भी बेजोड़ है। उनका सहज संबन्ध नया स्वतः आस्वाद्य स्वरूप उन्हें वही स्थान प्राप्त कराता है जो आधुनिक साहित्यिक नाटकों में भावमय गीतों को प्राप्त है। नाटककार कभी तो किसी पात्र विशेष के माथ तादात्म्य स्थापित कर उमड़ते हुए मनोरोग को किसी पद्य में समेटने का प्रयत्न करता है। कभी केवल नादात्मकता द्वारा अथवा अन्य प्रकार के अभिव्यक्ति-वैविध्य द्वारा या विशेष ढंग के प्रकृति वर्णन एवं वस्तु वर्णन द्वारा अभीष्ट वातावरण की सृष्टि करता है तो कभी घटनाओं का आभास देने के लिये भावमय उक्तियों की अवतारणा करता है। नाटक में स्वाधिष्ठित स्थान की दृष्टि से नाटककार के अभीष्ट मन्तव्य को अभिव्यक्त करने के साथ इन रचनाओं की एक सब से बड़ी विशेषता यह है कि ये स्वयं अन्यमुखापेक्षी नहीं होतीं। अर्थात् ये स्वयं तो किसी न किसी रूप में नाटक की सगुणता को प्रभावित करती हैं और उसे पूर्णता की ओर करने में सहायता देती हैं किन्तु स्वयं सत्त्वशाली की भाँति कनौडा बनाना पसन्द न कर स्वतन्त्र रूप से अपने पैरों पर ही खड़ी नहीं हो सकतीं अपितु अपनी रमणीयता द्वारा सहृदय के हृदय में भी पैठ जाती हैं। एक उदाहरण लीजिये—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।

शृङ्गारंकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ॥

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यामृतकोतूहलो ।

निर्मातुं प्रभवेमनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥^१

क्या इसकी उत्पत्ति के समय कान्ति प्रदान करने वाला चन्द्रमा अथवा शृङ्गार में ही रस लेने वाला कामदेव या स्वयं पुष्पों का आकर रूप बभूव प्रजापति बन गया था ! विषयों में अनासक्त और वेदाभ्यास से जड़ पुराण मुनि विधाता क्या इस मनोहर रूप को बना सकता है ?

पुरुषवा के हृदय में उर्वशी के सौन्दर्य की प्रतिक्रिया ने जिस अनुभूति का उद्गमन किया वह वितर्क के रूप में इन पंक्तियों में फूटी है। इस श्लोक को नाटक से निकाल कर यदि स्वतन्त्र रूप से देखा जाये तब भी इसकी आस्वाद्यता में कोई अन्तर नहीं आता। मुक्तक के रूप में यह किसी नायक की, नायिका के सौन्दर्याव-

लोकन के पश्चात्, कहीं हुई उक्ति है। यह प्रसंग भी सहज ग्रह्याहार्य है। सत्य तो यह है कि मुक्तक रूप में किसी भी व्यक्ति विशेष से इसका औपचारिक सम्बन्ध तक नहीं है अतः साधारणीकरण अपेक्षाकृत शीघ्र हो जाता है। इसी प्रकार मालती माधव में मालती के प्रति अनुराग की अनुभूतिस्वरूप मनोदशा का परिचय माधव इन शब्दों में देता है :—

परिच्छोवातीतः सकलवचनानामविषयः,
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगह्नो,
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ।^१

जानातीत तथा वाणी का अगोचर कोई विकार, जो इसके पूर्व इस जन्म में अनुभव में नहीं आया, विवेक के प्रध्वंस के कारण बहते हुए मोह से गहन होता हुआ अन्तर को जड़ बना रहा है और सताप उत्पन्न कर रहा है।

यह अनुभूति प्रणय-पथ पर प्रवृत्त किसी भी नव पथिक की अनुभूति है। नाटक के बाहर आकर इस पथ का मूल्य और भी बढ़ जाता है क्योंकि उपर्युक्त श्लोक की ही भाँति साधारणीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में इसकी व्यवच्छिन्नता अविलम्ब रसानुभूति का कारण बन जाती है। एक उदाहरण और—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता ।
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता बेपते ॥
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्ममेवेहेते ।
जाता वामतरयैव संप्रति मम प्रीत्यै नयोढा प्रिया ॥ ३।२६

कहने की आवश्यकता नहीं कि विविध प्रकार के पात्रों द्वारा कही गयी ऐसी उक्तियों का बहुलता^२ की दृष्टि से नहीं अपितु भावातिरेक की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थान है। प्रगाढ़ अनुभूति, मसृण पद विन्यास और हृदयहारिणी गेयता के कारण ये गीति से भिन्न नहीं है। कितने ही चरित्र-चित्रण-प्रधान पद्य भी, जो स्वयं किसी चित्रण-विषयीभूत पात्र की अथवा उसके सम्बन्ध में नाटक के किसी अन्य पात्र की उक्तियों में रूप में समाविष्ट हैं, इसी प्रकार के हैं क्योंकि उनमें हर्ष-शोक की सुन्दर व्यञ्जना हुई है।

नागानन्द का यह श्लोक लीजिये :—

निराधारं धैर्यकमिव शरणं यातु विनयः ।
क्षमः क्षान्तिं बोद्धुं क इह विरता दानपरता ॥

१. मालतीमाधव, १।३० ।

२. देखिये अविमारक—३-१, २-२, ३-१८, ३-२०; मृच्छकटिक १-१५, ५-१०; मालविकाग्निमित्र ४-१५; मालती माधव १-३६, १-४१, १-४८, १-४०; उत्तरचरित १-३८, २-३६, ३-३८; रत्नावली ३-४, ३-६; नागानन्द ३-४, ३-२६, ३-३०; पार्श्वतीपरिणय ४-७ आदि ।

हंतं सत्यं सत्यं व्रजतु च कृपा क्वाथ कृपणा ।

जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते ॥ ३-३०

धर्म निराधार हो गया है । विनय जिसकी क्षरण जाय ? अब कौन है जो शान्ति को बहन कर सके । दान प्रथा समाप्त हो गई । हाय ! आज सत्य भर गया । कृपा दीन हो गई । वह कहाँ जाय ? बेटा ! तुम्हारे परलोक जाने से मारा जगत् सूना हो गया है ।

अनेक नाटकों में बैतालियों द्वारा प्रधान नायक की प्रशस्ति के रूप में भी दो-एक श्लोक दुप्राकरते हैं जिनमें उसके गुणों का बखाना रहा करना है । ऐसे पद्यों का उद्देश्य जहाँ नायक का चरित्र-चरित्र होता है वहाँ भाग्य आने वाली घटना अथवा घटनाओं का आभास देना भी ।

वातावरण की मृष्टि के लिये भी भावमय गीतियों की अवतारणा संस्कृत क कुशल नाटककारों का प्रभुत्व प्रवृत्ति रही है । कवि की शैली और रुचि के अनुसार कही तो परिस्थिति की भावमयता वर्ण-विषय के विशेष-चित्रण द्वारा अभिव्यक्त की गयी है और कहीं नाट्यात्मकता अथवा ध्वनिबैशिष्ट्य के द्वारा । कालिदास का दुष्यन्त वियोगावस्था में मनोविनोद के लिये शकुन्तला के चित्र को आश्रम के जिन प्राकृतिक तत्त्वों के बीच में चित्रित करना चाहता है, वे कवि की कला का याग पाकर सजीव हो उठे हैं —

कार्या संकतलीन हंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी ।

पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गीरीगुरोर्मह्वराः ॥

शाखा नन्वितवत्कलस्य च तरोर्निर्मलतुमिरुच्छाम्यधः ।

शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्ठ्यमानां मृगीम् ॥

हंस-युगलों से मनाथिन पारित वाली मालिनी, उनके इधर-उधर हरिणों से अधिष्ठित हिमालय का गह्वर लट-प्रदेश, शाखाओं से लटकते हुए बत्कल वस्त्रों वाला वृक्ष और उनके नीचे काले मृग के सींग पर अपने बाएँ नभन को खुलाने वाली मृगी तपोवन के शान्त निश्चल और निष्ठल वातावरण को अभिव्यक्त करते हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वातावरण-मृष्टि भी सौंदर्य होती है । स्पष्ट कहने का आयास उठाए बिना ही अपने उद्देश्य को व्यवहृत कर देना किसी भी कवि की सबसे बड़ी विशेषता है । उपर्युक्त पद्य के अन्तिम चरण में कवि का यह उद्देश्य प्रकट हो जाता है और आश्रम के शान्त वातावरण में कृष्ण मृग के कठोर सींग से अपने मसृण वामनेत्र को खूजलाती हुई मृगी पुरुषत्व की कठोरता में ओत-प्रोत दुष्यन्त के प्रति आत्मसमर्पण करती हुई शकुन्तला को बरबस सामने लाकर खड़ा कर देती है । मृगी-सदृश मुग्धा प्रेयसी के आत्म-समर्पण की मधुर बेला और अपने द्वारा उसके नृशंस प्रत्याख्यान की याद कर दुष्यन्त के भावुक हृदय की क्या दशा हुई होगी ?

इसी प्रकार मालती माधव नाटक में कपालकुण्डला और अघोरघण्ट द्वारा नाट्येश्वरी चामुण्डा की स्तुति में भी दण्डक कहलाया गया है^१ वह अपनी नादात्मक ध्वनि से ही माधना के उग्र स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है। उसके श्रवणमात्र से ही प्रतीत होता है कि भक्ति भावना का मृदुल स्वरूप चित्रित करना कवि का दृष्ट नहीं है। उपासक, उपास्य तथा उपासना-विधि के अनुसार ही श्रोद्धत्यपूर्ण शैली का प्रयोग स्वाभाविकता की वृद्धि करता है। दमशान का भयप्रद वातावरण, जा कापालिकों द्वारा योजित नृशंस कर्म वाला घटना का पूर्वाभास देता है, उसके द्वारा सजीव हो उठा है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत नाटकों में भी अनेक स्थलों पर नाट्यशास्त्र के अनुसार गीत-योजना के अन्तर्गत ऐसे पद्यों का समावेश हुआ है जो गीति काव्य का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं इसके अतिरिक्त प्रयोज्य वातावरण की सृष्टि के लिये और किसी पात्र के हृदय में किसी घटना विशेष की प्रतिक्रिया स्वरूप उद्बुद्ध भावना की अवाध अभिव्यक्ति के रूप में भी गीति तत्त्वों से श्रोत-प्रोत बननाएँ स्वतः समाविष्ट हो गयी हैं।

संस्कृत में काव्य शैली का विकास और गीति-काव्य के प्रकार

गीति-शैली काव्य शैली की ही एक विधा है। संस्कृत के प्राचार्यों ने इस काव्य की सामान्य आख्या के अतिरिक्त कोई विशेष नाम और लक्षण दिया भी नहीं, यह हम पहले कह आये हैं। अतः गीति काव्य के विविध प्रकारों का वर्गीकरण करने से पहले हमें काव्य की विभिन्न शैलियों को दृष्टि में रखते हुए काव्य शैली के विकास पर विचार करना उपयुक्त जान पड़ता है।

विश्व पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है जो केवल धार्मिक गीतों और स्तुतियों का ही संग्रह नहीं है अपितु धर्म-निरपेक्ष काव्य के उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। वास्तव में जैसा कि पिछले अध्याय के विवेचन से स्पष्ट है, अनेक परवर्ती साहित्यिक परम्पराओं के मूलबीज भी ऋग्वेद में खोजे जा सकते हैं। यम-यमी और पुरुषवा-उवंशी के सवाद-सूक्त जहाँ एक ओर नाटक के मूल नृत्त सवाद के प्रादुर्भाव की सूचना देते हैं वहाँ दूसरी ओर शृङ्गारिक भावना की ओर भी संकेत करते हैं। उपा को प्रियतम के समक्ष वक्ष लोल देने वाली कुमारी का रूप भी ऐसा ही संकेत करता है तथा अक्षसूक्त में धूनकार की कृष्ण दशा का चित्रण कृष्ण-काव्य शृङ्खला की प्रथम कड़ी माना जा सकता है। इस प्रकार की कनिष्ठ रचनाएँ, जो प्रमगता, ऋग्वेद में यज्ञ-तप समाविष्ट हो गई हैं और जिनके उद्धरण पिछले अध्याय में दिये जा चुके हैं इस तथ्य के साक्ष्य के लिये पर्याप्त हैं कि धर्म-निरपेक्ष रागात्मक लौकिक साहित्य की सृष्टि भी उस समय की जाती रही थी। धन, धान्य, पुत्र, आदि ऐहिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये जो देव स्तुतियाँ की गई हैं तथा मनोरञ्जन के जिन साधनों का उल्लेख हुआ है वे इस बात के प्रमाण हैं कि तत्कालीन समाज अपनी लौकिक आवश्यकताओं के प्रति कुछ कम सजग नहीं था। अतः काव्यानन्द मात्र प्रयोजन से भी उस युग में साहित्य सृष्टि होती रही होगी। तत्कालीन जीवन सामूहिक था। उपासना का स्वरूप इसकी पुष्टि करता है। नर्तकी का उल्लेख तथा धूनशाला में अक्षों द्वारा धूत क्रीडा आदि के वर्णन से प्रतीत होता है कि मनोरञ्जन के साधन भी प्रायः वैयक्तिक न होकर सामूहिक थे। लोग इकट्ठे होकर नृत्य देखते और गीत सुनने लगे। राज भी अशिक्षित लोक-

कवि झूलने, रसिया आदि की रचना कर उन्हें कण्ठाग्र रखते हैं और स्थान-स्थान पर गा-गाकर सामूहिक रूप से जनता का मनोरञ्जन करते हैं। यह परिपाटी २-४ शताब्दियों पुरानी ही नहीं हो सकती। हो सकता है इस परम्परा का एक छोटा वैदिक काल के जन साहित्य से ही बंधा हो।¹ उस समय लेखन-कला का प्राविष्कार सम्भवतः नहीं हुआ था और सारा साहित्य कण्ठाग्र रखा जाता था। केवल मौखिक परम्परा के बल पर विशाल साहित्य को जीवित रक्षना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। अतः केवल वही साहित्य बचाया जा सका जिसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। परलोक की सुधारने के पक्षपाती धर्मप्रधान समाज में धार्मिक साहित्य की रक्षा का प्रश्न ही प्रमुख होता है। इसलिये धार्मिक साहित्य के सामने ऐहिक मनोरञ्जनात्मक साहित्य की रक्षा न की जा सकी। इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि स्वयं ऋग्वेद जैसी महत्त्वपूर्ण रचना की भी पूरी-पूरी रक्षा न हो सकी। महर्षि पताञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख किया है।² शौनकीय प्रातिशाख्य में पाँच शाखाओं का उल्लेख है—शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शाखायन और मण्डूक। शाकल आदि ऋग्वेद के रचयिता नहीं अपितु संग्रहकर्ता थे। इसीलिये आश्वलायन गृह्यसूत्र में इन्हें ऋषि न कह कर आचार्य कहा गया है। कूर्मपुराण में भी ऋग्वेद के इक्कीस भेद बताए गये हैं—

एक विंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा।³

ऋग्वेद की उपर्युक्त संहिताओं में से आजकल केवल शाकल संहिता उपलब्ध है जिस में यज्ञ तत्र अन्य संहिताओं के कतिपय सूक्त और मन्त्र परिशिष्ट रूप में जोड़ दिये गए हैं। उदाहरणार्थ अष्टम मण्डल में बालखिल्य शाखा के ११ सूक्त तथा ८० मन्त्र संगृहीत हैं और बाष्कल संहिता के भी लगभग ३६ सूक्त स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े हैं। इनके समावेश का कारण स्पष्ट है। परवर्ती वैदिक साहित्य पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न वर्गों में यज्ञ की विविध विधियाँ प्रचलित थीं। बाद में जब एक सामान्य व्यवस्था प्रवृत्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो शाकल-सम्प्रदाय में परिलक्षित कमी की पूर्ति के उद्देश्य से बालखिल्य तथा बाष्कल संहिता के वे ही मन्त्र ले लिये गये जो यज्ञादि के लिये उपयुक्त थे। अन्य विलुप्त हो गए। शाकल संहिता केवल इसलिए जीवित रह सकी कि वह एक विशिष्ट वर्ग में सम्मानित थी। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के नाम से जितना साहित्य आज प्राप्त है उतना ही ऋग्वेद नहीं था। कालक्रम से अनेक संहिताएँ विलुप्त हो गई हैं। जब धार्मिक और पौरोहित्यिक साहित्य की भी, जिसका इतना

1. The tradition of a non-religious literature was already there from remote antiquity, surviving through long centuries as a strong under-current and occasionally coming to the surface in the more conventional literature. S. K. Dey & S. N. Das Gupta, (Hist. of Sans. Lit., p. 3).

2. महाभाष्य परंपरागतिक।

3. कूर्म० (४६।५.१)।

अधिक सम्मान था, यह वशा हुई तो ऐहिक साहित्य का लुप्त हो जाना स्वाभाविक ही था। धर्म-निरपेक्ष साहित्य की रचना के वह माध्य के रूप में यास्क के इस कथन का उल्लेख किया जा सकता है कि देव में ऋक् इतिहास और गाथाएँ मिली हुई हैं :—

तत्र ग्रहोतिहासमिथ्रमृद्धमिथ्रं गाथामिथ्रं च भवति ।¹

प्रो० हरियन्ता का यह कथन भी कि 'तत्कालीन लोकभाषा में गीत एवं वीरगीत अवश्य ही मिले जान रहे होंगे' हमारे मत की पुष्टि करता है।

यही लोक-भाषा धीरे-धीरे कर्तामिकल संस्कृत के रूप में विकसित हुई जिसे पाणिनि ने भी भाषा अथवा लोक-भाषा कहा है। लौकिक संस्कृत के विकास की दृष्टि में भी ऋग्वेद का अध्ययन बड़ा महत्त्व रखता है। दशम मण्डल के अग्नि-सूक्त भाषा की दृष्टि से त्राम मण्डल के सूक्तों में पर्याप्त भिन्न है। इनकी भाषा कही-कही तो लौकिक संस्कृत के ही प्राथमिक निकट सम्बन्ध पड़ती है। उदाहरणार्थ अक्षसूक्त की यही श्रुति ले लीजिए —

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्तोऽहस्तामो न हस्तवन्तं सहन्ते ।

दिग्धा अगारा हरिणे म्युक्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्वहन्ति ॥²

ब्राह्मण ग्रन्थों में तो अनेक प्रकार के श्लोक और गाथाएँ इस भाषा में मिलती हैं³ जो प्रायः ऐतिहासिक एवं पौराणिक महापुरुषों के वर्णन प्रस्तुत करने हैं :—

तद्वं स प्राणोऽभवन्महा भूत्वा प्रजापतिः ।

भुजो भुजिष्ठा विस्वतव् यत् स प्राणान् प्राणयत् ॥⁴

तेदष श्लोको भवति

अन्तर मस्थोरमृतं मृत्पावमृतमाहितम् ।

मृत्पुर्विवस्वतं वस्ते मृत्पोरात्मा विवस्वति ॥⁵

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि रामायण और महाभारत में प्रयुक्त शैली का सूत्रपात उपनिषदों से बहुत पहले ही हो गया था। अतएव डा० एस० एन० दासगुप्त का यह मत सर्वथा चिन्त्य है कि 'वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में संस्कृत काव्य के उद्गम की खोज व्यर्थ है और वास्तव में महाभारत और गीता में प्रयुक्त शैली का श्रीगणेश

1. निरुक्त, ४।६ ।

2. संस्कृत नटदीप, पृष्ठ ५ ।

3. ऋग्वेद, १० ।

4. शतपथ, १०।५।२।१८, १०।५।४।१६, ११।३।१।५-६, ११।४।३।१०, २१।५।५।१२, १२।३।२।७-८, तथा ऐतरेय २।२३ ।

5. शतपथ, ७।५।१।२५ ।

6. वही, १०।५।२।४ ।

और आगे चलकर क्लासिकल संस्कृत शैली के रूप में प्रतिष्ठित हुई, उपनिषदों के समय में हुआ।¹

ब्राह्मण ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि श्लोक, गाथा और यज्ञ गाथा में कोई विशेष अन्तर नहीं था क्योंकि शतपथ जिसे गाथा कहता है ऐतरेय उसी का श्लोक कहता है² और ऐतरेय ने जिसे यज्ञ गाथा कहा है उसे जैमिनि ने श्लोक कहा है³ याज्ञवल्क्य स्मृति के प्राचीन टीकाकार विश्वरूप ने नाराशंसी और गाथा का अन्तर बताने हुए लिखा है कि पौरुषेयी यज्ञगाथा को नाराशंसी और आत्मवाद विषयक श्लोकों को गाथा कहते हैं। मानवीय वर्णन होने के कारण इन गाथाओं को वेद मन्त्रों के समान सम्मान नहीं मिला था। इमीलिये यज्ञ में 'हृचाप्रो' का उच्चारण 'छ' कहकर और गाथाओं का 'तथा' कह कर करने का विधान था⁴ क्योंकि ऋचा देवी हैं और गाथा मानुषी।⁵ मानव-वर्णनोपेत होने के ही कारण गाथा और नाराशंसी को अन्त⁶ कहा गया है क्योंकि मनुष्य स्वयम् अन्त है।⁷ कदाचित् इमीलिये नैनिरीय ब्राह्मण में गाथा और नाराशंसी को वेद का मूल कहा गया है।⁸ यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म-निरपेक्ष ऐहिक साहित्य को वैदिक काल में उतना प्रथम नहीं दिया जाता था जितना धार्मिक साहित्य को। फिर भी धर्म-निरपेक्ष साहित्य का सृष्टि होती थी और क्लासिकल संस्कृत के विकास में गाथा-साध यह प्रभुत्व भी उत्तरोत्तर पनपती जा रही थी⁹। मनुस्मृति के प्राचीन टीकाकार मेघातिथि ने गाथा शब्द का अर्थ वृत्त विशेष तथा परम्परागत श्लोक किया है।¹⁰ आगे चलकर इन गाथाओं या परम्परागत श्लोकों का समावेश रामायण और महाभारत में भी प्रचुर मात्रा में हुआ।¹¹

1. Though it is needless to trace the origin of Sanskrit Kavyas to the Vedas or to the Brahmanas, it cannot be decided that some of the early Upanisads like the Katha, Manduk and Svetasvatara contain verses in the classical style. Indeed, the style of Mahabharata and Gita may be regarded as the prolongation of the classical style which had begun already at the time of Upanisads. (Iete to the HSL, p. XVII).

2. ऐतरेय, ३।४३।

3. जैमिनीय ब्राह्मण, १।२७०।

4. नाराशंसी-पौरुषेयी यज्ञगाथा, गाथा आत्मवादश्लोकः (याज्ञवल्क्य स्मृति १।४४ टीका)।

5. ओमित्यन्तं प्रतिपत्त एव तथेति गाथायाः। ओमिति वै दैवम् तथेति मानुषम्। (ऐतरेय० ७।१८)।

6. बर्ही।

7. कनत दि गाथा अन्तं नारा शंसी (काठक संहिता, १।४।५)।

8. अन्तं मनुष्याः (शतपथ० १।१।१।४)।

9. शतब्रह्मणः शमलमान्तं सा गाथा नाराशंस्यमवत् (तै० ब्रा० १।३।२।७)।

10. अष्टाध्यायी, ३।२।२३।

11. गाथा शब्दी वृत्तविशेषवचनः, परम्परागत श्लोकः। (मनु० ८।४२ मेघातिथि की टीका)।

12. त्रैलोक्य रामायण (पश्चिमोत्तर शाखा, इन्द्रोद्या काण्ड, २५।१।१।२० तथा महाभारत आश्वमेधिका पर्व, ३।२।४।५)।

जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया है, उपनिषत्काल में भी इस परम्परा के लोप हो जाने का कोई कारण नहीं था। उपनिषदों में ऐसी अवान्तर कथाओं का समावेश मिलता है जिनमें राजा सभाओं में विरोधी पण्डितों में शास्त्रार्थ की योजना का उल्लेख है। ये राजा लोग विजेता पण्डित को पुरस्कृत किया करते थे। अज्ञात शत्रु और बालाकि के ब्रह्म विषयक वाद-विवाद की कथा¹ कौषीतकी तथा बृहदारण्यक² उपनिषदों में आई है। इसी प्रकार जनक की राज-सभा के बन्दी नामक विद्वान् तथा अष्टावक्र के शास्त्रार्थ का उल्लेख भी मिलता है। जैसा कि मैक्डानल ने लिखा है ये राजा लोग अपनी प्रशंसा और वंशानुचरित सुनने के भी बड़े शौकीन रहते होंगे। इस अनुमान की पुष्टि इससे भी होती है कि उपनिषदों में ही नहीं ऋग्वेद में भी इस प्रकार के प्रशस्तिगान मिलते हैं। ऋग्वेद के नाराशंसी कहे जाने वाले अश्वों में राजाओं की प्रतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा अनेक स्थलों पर मिलती है। दान स्तुति वाले सूक्त में उन अनेकानेक वस्तुओं का उल्लेख हुआ है जिन्हें उन पद्यों के रचयिता कवि अपने सरक्षक राजाओं से प्राप्त करने की कामना रखते थे। कल्पनापूर्ण प्रशंसा से ओत-प्रोत ये रचनाएँ ऊहात्मक शैली के प्रादुर्भाव की सूचना देती हैं। इस कला में जो कवि जितना निपुण होता होगा वह उतना ही अधिक सम्मान और पुरस्कार पाता होगा। इस होड़ाहोड़ी के फलस्वरूप स्वाभाविक सरल शैली के अतिरिक्त कल्पना-प्रधान शैली का भी विकास हो चला। आगे चलकर महाकाव्यों में जिन्हें पाश्चात्य विद्वान् कोर्ट एपिक कहते हैं यही शैली अपनायी गयी।

ऋग्वेद में अनेक-आख्यान उपाख्यानों में प्रबन्ध काव्य शैली के जिस मूल तत्त्व के दर्शन होते हैं वह क्रमशः विकसनशील रहा। शतपथ ब्राह्मण के अद्वैतमेध यज्ञ वर्णन में पारिप्लव नामक आख्यान का उल्लेख है। घोंड़े के अग्रणार्थ चले जाने के पश्चात् वर्ष भर तक दस दस दिन तक के अन्तर से कला ज्ञान आदि के प्रदर्शन का आयोजन होता था। जिसमें अद्वैतमेध यज्ञ करने वाले राजा की प्रशंसा का गान होता था। स्वयं महाभारत अनेकानेक प्राचीन आख्यानों का फल है। ये आख्यान ही नाटक और प्रबन्ध काव्य परम्परा के मूल पुरुष कहे जा सकते हैं।³ यह आख्यान तत्त्व जिसे बाद में काव्यशास्त्रीय रूप मिलने पर वस्तु-तत्त्व कहा जाने लगा उत्तरोत्तर विकसनशील रहता हुआ एक विशिष्ट काव्य शैली के रूप में प्रतिष्ठित हुआ जिसका सर्वप्रथम सुसम्बद्ध स्वरूप रामायण में प्राप्त होता है।

रामायण आदि काव्य के रूप में प्रसिद्ध है,⁴ परन्तु इसका अर्थ रह नहीं है

1. कौषीतकी उपनिषद्, १।४।

2. बृहदारण्यक, २।१।७।

3. देमिये, बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृत।

4. The inscription of narrative stanzas between the conversational stanzas was a further step in development. We find this final step in the development of ancient Indian Akhyān, which really formed the preliminary step to the epic. (Winternitz, *A Hist. of Indian Lit.*, Vol. 2, p. 96).

कि रामायण से पहले क्लासिकल संस्कृत में कोई काव्य लिखा ही नहीं गया था। जैसा कि पिछली पंक्तियों में बताया गया है, इस भाषा में काव्य-रचना बहुत पहले से होती आ रही थी। रामायण एक कथासूत्र में विविध घटनाओं को गूँथ कर प्रस्तुत किया हुआ सर्वप्रथम सुव्यवस्थित काव्य है। इसीलिये उसे आदि काव्य की सजा प्राप्त हुई। यद्यपि रामायण के कवित्वपूर्ण स्थलों में से कुछ प्रक्षिप्त हो सकते हैं तथापि इससे उसके आदि काव्य होने में कोई अड़चन नहीं आती क्योंकि मूल कथा-वस्तु के सौन्दर्य पर ही दृष्टि डालने से उसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। कौश ने लिखा है कि नि.सन्देह रामायण में शैली के उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया दीख पड़ती है, किन्तु मूल-ग्रन्थ में भी सावधानी के साथ सौन्दर्य-वृद्धि के उपायों का आश्रय लिया गया है। अन्य विशेषताओं को छोड़ कर यदि केवल कथासूत्र पर ही विचार किया जाये तो अयोध्या के राजकुल की अभिसन्धि एवं सीताहरण के कारण राम-रावण के युद्ध की कथाओं का एक सूत्र में संप्रधान ही उच्च कोटि की कला का उदाहरण है। यही बात भाषा के प्रवाह और समता तथा छन्दो-विधान की सुकुमारता से व्यक्त होती है। शैली की यह प्रौढ़ता काव्य कला के निरन्तर विकास का परिणाम ही कही जा सकती है।

प्रबन्ध तथा अन्य प्रकार के काव्यों की परम्परा उत्तरोत्तर चलती रही। पाणिनि ने शिशुकन्दीय, यमसमीय और इन्द्रजननीय काव्यों का उल्लेख किया है^१ जिनके नाम ही इस बात के द्योतक हैं कि ये प्रबन्ध काव्य रहे होंगे। शिशु-कन्दीय कदाचित् कृष्ण के जन्म से सम्बन्धित काव्य था, यमसमीय यम की सभा का चित्रण करने वाला नाटक प्रतीत होता है और इन्द्रजननीय में इन्द्र के जन्म और उसके द्वारा वृत्रासुर के वध का वर्णन रहा होगा।^२

भारतीय परम्परा के अनुसार पाणिनि महाकाव्यकार भी थे परन्तु उनका व्याकरण का रूप ही अधिक प्रसिद्ध रहा। जल्हण की सूक्ति मुक्तावली में राज-शेखर के एक श्लोक में कहा गया है कि पाणिनि ने पहले व्याकरण लिखा और बाद में जाम्बवती काव्य —

स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्रप्रसादतः ।

आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ॥

अमरकोश के टीकाकार रायमुकुट ने जाम्बवती विजय का श्लोकार्थ उद्धृत भी किया है —

पयः पृथग्निभिः स्पृष्टा वान्ति वाताः शनः शनः ।

ऑफ्रेट ने भी एक उद्धरण का जिक्र किया है और रुद्रटकृत काव्यालङ्कार-सूत्र की टीका में नमिसाधु ने कवियों की निरंकुशता के प्रसङ्ग में पातालविजय से

1. कौश, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४३ ।

2. अष्टाध्यायी, ४।३।८८ ।

3. देखिये इच्छिया एत्र नोन द्व पाणिनि, पृष्ठ ३४०-४१ ।

संख्यावर्धू गृह्य करेण का उद्धारण किया है। पातालविजय भी पाणिनि रचित महाकाव्य बताया गया है। नमिमाधु न ही पाणिनि के एक अन्य श्लोक का उल्लेख किया है जिसमें व्याकरण विरुद्ध 'अपश्याति' शब्द का प्रयोग हुआ है। वह श्लोक यह है :—

गतेऽर्धं तत्र परिमन्वमन्वं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः ।

अपश्याति वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छ्वरी गौरिव हुङ्करोति ॥

पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध उपर्युक्त काव्यों में से अब एक भी नहीं मिलता। इनके शीर्षक स्पष्टतः कर्मणि की खोज में श्रोकृष्ण के पाताल जाने और जाम्बवती को हन्त्रमुद्ध में जीन कर उसकी पुत्री जाम्बवती से विवाह करने की घटना पर आधुनिक जान पड़ते हैं। जाम्बवती विजय कम से कम १८ सर्गों का महाकाव्य रहा होगा क्योंकि दुर्घटवृत्ति में शरणदेव ने अठारहवें सर्ग का एक श्लोक उद्धृत किया है। सदुक्तिकर्णामृत के एक श्लोक में दाक्षीपुत्र पाणिनि का नाम सुवन्धु, भवभूत कालिदास आदि के साथ लिया गया है।^१ इसके अतिरिक्त विभिन्न सग्रहों में भी पाणिनि के नाम से लगभग १७ श्लोक प्रायः गेय छन्दों में मिलते हैं जिनमें से अधिकतर ऊहात्मक शैली में लिखे हुए हैं। सबसे अधिक श्लोक उज्जाति छन्द में हैं। इनकी संख्या ६ है। यह ध्यान रखने की बात है कि क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्तनिबन्ध में पाणिनि के उज्जाति छन्द की बड़ी प्रशंसा की है वे लिखते हैं :—

स्पृहणीयत्वं चरितं पाणिनेरुपजातिभिः ।

अस्मन्कारकमाराभिरुद्धानस्येव जातिभिः ॥^२

इनके अतिरिक्त एक पद्य शिखरिणी में, दो श्लोकों में, दा. म. शार्दूलविक्रीडितः, तीन स्रग्धरा और तीन वशस्य छन्द में हैं, यद्यपि विविध सग्रहों में पाणिनि के नाम से संगृहीत पदों के विषय में ऐकमन्य नहीं है, उदाहरणार्थ सुभाषितायनी में जो ६ पद्य पाणिनिकृत मान गए हैं शार्ङ्गधर पद्धति में उनमें से केवल दो ही मिलते हैं, 'क्षमाः क्षामीकृत्य' वाला पद्य इन दोनों कोषों में पाणिनिकृत बताया गया है किन्तु कबीन्द्र बचन समुच्चय में यह नाम रहित है जबकि मूर्तिभुक्तावली में ओ३मकण्ठ का बताया गया है; तथापि यह तो निश्चय ही जाता है कि पाणिनि नाम का कोई कवि हुआ अवश्य है वैयाकरण पाणिनि और कवि पाणिनि की अभिन्नता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पिशेल^३, पीटसन^४, काणे^५, एच० आर० दिवाकर^६ तथा

१. सदुक्तिकर्णामृत, ५।२६।५ ।

२. पीटसन, इण्डो-वैदिक छान्दोग्य, पृष्ठ ५४।५२ ।

तथा यामस, कबीन्द्र बचन समुच्चय, पृष्ठ ५१।५२ ।

३. मुद्रित सिलक, ३।३० ।

४. L. D. M. G. 39, 1885, p. 95.

५. जनेल ऑफ बंगाल राज्य एशियाटिक सोसाइटी १७, १८५५, पृष्ठ ६५ ।

६. इण्डियन एण्टोक्वरी ४५, १८१२, पृष्ठ १०५ ।

७. Fleurs de Rhetorique dans L. Inde, Paris, 1932, p. 32.

डा० एस० के० दे^१ इन्हें एक ही व्यक्ति मानने के पक्ष में हैं और कीलहॉर्न^२, प्रार० जी०^३ भण्डारकर, डा० प्रार०^४ भण्डारकर तथा ए० बी०^५ कीय इसके विरुद्ध हैं। भारतीय परम्परा ६वीं शताब्दी से व्याकरण पाणिनि एवं कवि पाणिनि में अभिन्नता मानती चली आई है, इस मत से असहमत विद्वानों का कहना है कि इससे पहले पाणिनि के कवि रूप का उल्लेख कहीं नहीं हुआ। इसलिए क्षितिशचन्द्र चटर्जी ने जाम्बवतीविजय तथा पातालविजय की किसी ६वीं शताब्दी के कवि की रचना कहा है जिसने इन्हे पाणिनि के नाम से प्रचलित कर दिया। उनका कथन है कि पाणिनि जैसे व्याकरण की रचना में गृह्य और अपश्याति जैसे अपाणिनीय शब्दों का प्रयोग कैसे हो सकता है? और फिर पतञ्जलि जैसे पाणिनि-भक्त व्यक्ति ने उसके कविरूप का कही सकेत नहीं किया।^६ श्री चटर्जी की इस युक्ति के विरुद्ध महा-भाष्य की उस कारिका को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें पाणिनि के लिये कवि शब्द का प्रयोग हुआ है।^७ किन्तु यह कहा जा सकता है कि कवि शब्द का प्रयोग वहाँ मेधावी के अर्थ में ही हुआ है। 'गृह्य' और 'अपश्याति' का प्रयोग अवश्य विचारणीय है। ६वीं शताब्दी का संस्कृत कवि कविता के कलापक्ष की ओर से बड़ा सजग था। अतः यह विश्वास नहीं होता कि वह इतनी बड़ी त्रुटि कर सकता था। कवियों की निरंकुशता एक निश्चित सीमा ही में चल सकती है। 'गृह्य' की व्याख्या तो उससे हो सकती है किन्तु अपश्याति की नहीं। अपश्याति वैदिक रूप के अधिक निकट है, हो सकता है कि कवि पाणिनि व्याकरण पाणिनि से भिन्न वैदिक और कलासिकल संस्कृत के संक्रान्ति-युग के कवि हों, कुछ भी सही, अष्टाध्यायीकार स्वयं चाहे कवि न रहे हों किन्तु उनके समय में संस्कृत के कवि और काव्य अवश्य थे। पीछे उदाहृत श्लोककार, शिशुकन्दीय आदि शब्दों से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है।

बौद्धों के प्राचीनतम धार्मिक साहित्य से भी ललित काव्यों की रचना का पता चलता है। बुद्ध वचनों के नाम से संगृहीत साहित्य में चार प्रकार के कवियों का (चिन्ता-कवि, सुत्त-कवि, अष्टप-कवि तथा पटिभाण-कवि) का उल्लेख है। बुद्ध ने रागात्मक काव्यों के विरुद्ध अपने शिष्यों को चेतावनी देते हुए उन काव्यों को जिनसे सत्य रागावृत्त हो जाये, त्याज्य बताया है —

“पुन च पर भिक्खवे भविस्सन्ति भिक्खू अनागतमद्धान अभावितकाया
अभाविततौला, अभावितचिता, अभावितपञ्जा..... ये ते सुत्तन्ता तथागतभासिता

1. ट्रीटमेंट ऑफ लव इन संस्कृत पोस्ट्री, Calcutta 1919, p. 125.

2. N. G. W. G. 1885; p. 185.

3. J. B. R. A. S. 16, 344.

4. इण्डियन एजिटक्वरी ४१, १९४२।

5. H. S. L., p. 203.

6. Calcutta Oriental Journal, pp. 22-23 & 135.

7. तदकीर्तितमाचरितं कविना (महाभाष्य १।४।५०; १।३।३४)।

गम्भीरा गम्भीरध्वा मोकुतरा सञ्जातपटिसंयुता। तेषु भञ्जमानेषु न सुसुप्तिस्त्वस्ति,
न सोतं श्रोवहिस्त्वस्ति, न अञ्जचित्तं उपट्ठापेस्त्वस्ति । न च ते धम्मे उगगहेतुध्वं
परियापुणितध्वं मञ्जिस्त्वस्ति, ये पन ते सुत्तन्ता कविकृता कावेय्या, चित्तवखरा,
चित्तव्यञ्जना बाहिरका सावकभासिता, तेषु भञ्जमानेषु सुसुप्तिहस्त्वस्ति, सोतं
श्रोवहिस्त्वस्ति, अञ्जचित्तं उपट्ठापेस्त्वस्ति इति लो भिक्खवे धम्मसन्धोमो
विनयसन्धोमो इवं भिक्खवे चतुष्पं अनागतभयं एतरहि समुपपन्नं आयाति
समुपज्जितस्त्वस्ति ।^१

अर्थात् भिक्षुओ ! भविष्य मे यह चतुर्थं भय है कि शरीर शील,
चित्त और बुद्धि पर संयम न कर सकने वाले भिक्षुक तथागत के गम्भीर,
गम्भीर अर्थयुक्त, लोकोत्तर वचनो को नहीं सुनेंगे, अनन्यचित्त नहीं होंगे और उन्हें
ग्राह्य न मानेंगे अपितु वे स्वच्छन्द रूप से चित्ताकर्षक, भाव-व्यञ्जक कविकृत
काव्य को सुनेंगे, उन्हीं की ओर ध्यान देंगे और उन्हीं में तल्लीन होंगे। हे भिक्षुको !
यह धर्म-दोष होगा विनय-दोष होगा ।

चित्तवखरा, चित्तव्यञ्जना कविकृता कावेय्या से स्पष्ट है कि उनका अभि-
प्राय मनोरागों से परिपूर्ण कला-कलित भावोद्बोधक ललित काव्यों से है जो उस
समय पर्याप्त मात्रा में रहे होंगे अन्यथा इस प्रकार की आशंका बुद्ध के हृदय में न
उठती। धेरवंगीस ने अपने प्रारम्भिक जीवन का वर्णन करते हुए उसे काव्येयमत्तो
(काव्यमत्त) का जीवन कहा है।^२

ई० पू० दूसरी शताब्दी के पतञ्जलि के महाभाष्य से काव्य साहित्य की
सृष्टि के अनेक स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उन्होंने शौभिक लोगों द्वारा कस-वध और
बालि वध नामक नाटकीय प्रदर्शनों के अतिरिक्त एक वाररुच काव्य का भी उल्लेख
किया है।^३ सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर के एक श्लोक में इस काव्य का नाम
'कण्ठाभरण' कहा गया है। वासवदत्ता सुमनोत्तरा और भंमरथी आख्यायिकाओं
का भी उल्लेख पतञ्जलि ने किया है। केवल नामोल्लेख ही नहीं पतञ्जलि ने अपने
समय में वर्तमान साहित्य से उदाहरण भी दिये हैं। एक उदाहरण लीजिए—

यस्मिन् वज्रसहस्राणि पुत्रे जाते गवां बद्धौ ।

बाह्याण्यभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुच्छेन जीवति ॥^४

यह पद्य स्वतः पूर्ण नहीं है और एक विशिष्ट प्रसङ्ग की ओर संकेत करता
है जो किसी कथानक से सम्बद्ध होना चाहिए। अतः सम्भव है कि यह किसी प्रबन्ध
काव्य से ही उद्धृत किया गया हो। बहुत सी नीति विषयक उक्तियाँ भी महाभाष्य

१. अष्टाशुत्तरनिकाय, ३, पृष्ठ १०७ ।

२. मन्दिया नु सेति उदाहु काव्येयमत्तो । अथवा नु ते समवचुरा न सन्ति । एको विविसे
सयनासनमिह निद्रामुखो किं इदं सोप्पसेवाति । (संयुत्तनिकाय १।११० ।

३. महाभाष्य, ४।३।१०१ ।

४. महाभाष्य, पाणिनि के ४।२।६० सूत्र की टीका ।

में पायी हैं—

सामृतः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरधो न विचोक्षितः ।

साहनाश्रयिणो बोधास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥

अहरहनंयमानो गामक्ष्व पुष्यं पशुम् ।

वैवस्वतो न तृप्यति सुरमा इव दुर्मर्दा ॥

‘बभूक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्’ जैसा मनोवैज्ञानिक तथ्य तथा ‘क्षेमे सुभिर्धे कृतसञ्जयानि पुराणि राजा विनयन्ति कोपम्’ जैसे राजनैतिक निष्कर्ष भी प्राप्त होते हैं। प्रसङ्गबश मन की मीज में पतञ्जलि अनेक शृङ्गारिक उक्तियाँ उद्धृत कर गये हैं जो किन्हीं गीत्यात्मक कविताओं के लच्छ प्रतीत होती हैं। ‘विरतनु ! सप्रवदन्ति कुक्कुटाः’ ‘प्रियं मयूरः प्रतिनर्तुतीति, सा हि तस्य धनकीता प्राजेभ्यऽपि गरीयसी’ आदि उक्तियाँ ऐसी ही हैं।¹

यह ध्यान रखने की बात है कि पतञ्जलि की शैली भ्रम-सिद्ध शैली नहीं है। उनकी आदत खोज खोज कर उदाहरण रखने की नहीं है। दैनिक जीवन से ही उन्होंने उदाहरण ले लिये हैं जो तत्कालीन समाज का अध्ययन करने के लिये उपयुक्त ही नहीं अनुपेक्षणीय भी है। इन अनायास समाविष्ट उदाहरणों में श्लोक और त्रिष्टुप् के अतिरिक्त मालती, प्रह्विणी, प्रमिताक्षरा और वसन्ततिलका जैसे छन्द भी मिलते हैं जो विकास-क्रम में वैदिक छन्दों से बहुत पीछे के हैं और अपनी गेयता के कारण रमणीय तथा स्मरणीय हैं। वक्त्रा, इन्द्रवज्रा, उपजाति, शालिनी, वनस्थ आदि वृत्त भी ऐसे ही हैं। विष्णुमाला, तोटक और दोषक जैसे छन्द भी, जो परवर्ती साहित्य में भी बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं, पतञ्जलि के भाष्य में मिलते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पतञ्जलि से पहले ही इस प्रकार की रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में होती रही थीं। पद्य में उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये स्वयं पतञ्जलि ने इनकी रचना नहीं की क्योंकि इस कार्य के लिये तो श्लोक जैसा सरल छन्द ही अधिक उपयुक्त होता है।

महाभाष्य के अन्तर्गत ये उल्लेख विविध काव्य-शैलियों के अस्तित्व की सूचना देते हैं। गेय पद्यों की परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी जिसकी पुष्टि पिङ्गल के छन्द सूत्र से भी होती है जिसका परिगणन वेदाङ्गों में हुआ है, किन्तु इस ग्रन्थ में लौकिक छन्दों का ही विवेचन है। वैदिक छन्दों का नहीं। भारतीय परम्परा पिङ्गल को पाणिनि का भाई बतलाती है। निःसन्देह छन्द सूत्र बहुत पुराना ग्रन्थ है जिन छन्दों का विवेचन इस में हुआ उनमें से कितने ही आज तक के उपलब्ध काव्यों में नहीं मिलते। स्पष्टतः ये संक्रमणकाल की उपज हैं जब शृङ्गारिक रचनाओं के कविता एक के बाद दूसरे छन्द का प्रयोग करने में उत्साह दिखा रहे थे। इन छन्दों के नाम भी सुन्दरियों के हाव-भाव, चेष्टा आदि के

1. (i) देखिये, F. Keilhorn, Indian Antiquary. 14, p. 32 .

(ii) P. C. Chakravarty, Indian Historical quarterly, 2, 1926, p. 464.

घोसक विशेषाधानहेतु 'कान्तोत्पीडा, कुटिलगति, चञ्चलाक्षिका, चारुहासिनी' आदि शब्द हैं जो कवियों की शृङ्गारिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं। इन प्रमाणों के आधार पर जाकोबी का यह कथन ठीक ही है कि 'पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित गेय पद्यों का मूल उद्गम ईसा से पूर्व युग के साहित्य से ही सम्बद्ध है जिससे महाराष्ट्री-गीति को भी प्रेरणा मिली।¹ कीच ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि गेय काव्य की एक सुसंबद्ध और प्रबल परम्परा ईस्वी सन् के लगभग, और कदाचित् उससे भी बहुत पहले, मौजूद थी।²

महाभारत में एक स्थल पर काव्य के विविध प्रकारों की ओर संकेत किया गया है। युधिष्ठिर के समक्ष ब्रह्मा की सभा का वर्णन करते हुए नारद कहते हैं :—

सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधास्तथा ।
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विज्ञां पते ! ॥
नाटका विविधा काव्याः कथाख्यायिकाकारका ।
तत्र तिष्ठन्ति ये पुण्या ये च मे गुरुपूजकाः ॥³

यदि ये श्लोक प्रसिद्ध न होकर व्यासकृत मूल जय ग्रन्थ के ही हैं तो निःसन्देह काव्य शैली और भी अधिक प्राचीन सिद्ध होती है क्योंकि, जैसा कि डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'अपने पाणिनि कालीन भारत' में लिखा है, पाणिनि जय-ग्रन्थ में परिचित थे। उन्होंने महाभारत के तीन पात्रों—वासुदेव, अर्जुन और युधिष्ठिर का उल्लेख भी किया है।

पतञ्जलि के समय के आस-पास का ही खारबेल का हाथी गुम्फा का शिलालेख प्राप्त हुआ है⁴ जिसमें पाली से मिलती-जुलती भाषा का व्यवहार किया गया है। यह लेख लयात्मक, मानुषास, तथा गोड़ी शैली में लिखित होने के कारण संस्कृत गद्यकारों की कमीटी के अनुसार उच्च कोटि के गद्य का उदाहरण कहा जा सकता है। गुणादय की बृहत्कथा भी, जो आज अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं है, काव्य शैली के अस्तित्व की सूचना देती है। तत्कालीन जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में भी इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। येरी गाथाओं में तो उत्कृष्ट कोटि की काव्य सामग्री मिलती ही है। के० ई० न्यूमन के मतानुसार इन गाथाओं का संकलन गौतम बुद्ध के जीवन-काल में ही हो गया था, इनकी सावधानी से रक्षा की गयी और बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही ये लिपिबद्ध की गयीं।⁵ हो सकता है कि

1. कीच का इतरास, पृष्ठ ४८ ।

2. वही, वही पृष्ठ ।

3. समापूर्व, अध्याय ११, श्लोक २५।३६ ।

4. B. M. Barua, India Historical Quarterly, 4, 1928, p. 535.

5. विष्टरनिट्ज द्वारा अपने भारतीय साहित्य के इतिहास, भाग २ के १११ वें पृष्ठ पर

इन में से कुछ रचनाएँ बाद की हो।¹ किन्तु इनमें से कुछ तो बुद्ध के सर्वप्रथम शिष्यों द्वारा रचित प्रतीत होती हैं।² प्रक्षिप्त श्लोका का समावेश सम्भवतः शताब्दियों पश्चात्—अशोक के भी बाद में हुआ है।³ इस प्रकार विक्रम सबत् से पहले ही भारतीय साहित्य में प्रबन्ध काव्य तथा गीतिकाव्य के तत्त्व क्रमिक विकास में प्रारम्भिक दशा से बहुत कुछ ऊपर उठकर प्रौढता की ओर अग्रसर हो रहे थे। कालिदास ने रामिल सौमिल और भास नामक नाटककारों का उल्लेख ही नहीं उनके प्रति सम्मान भी प्रकट किया है जिसका अर्थ यह है कि नाट्यकला की दृष्टि से इन कवियों की कृतियाँ अवश्य ही उच्चकोटि की रही होगी। इसलिये नाटक का विकास कदाचित् प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा पहले और द्रुतगति से सम्पन्न हुआ। प्रबन्धान्तर्गत एक अन्य प्रकार की शैली भी पनप रही थी जिसमें कवि प्रसङ्गवश आए हुए अवान्तर विषय का सघन चित्रण करता था ऐसे स्थलों पर कथानक का सर्वथा त्याग कर परस्पर सुश्रुतलिखित पद्यों में वर्ण्य वस्तु के चित्रण उपस्थित करने का प्रयास किया जाता था। कथानक का आश्रय न लेने के कारण इनमें स्वतन्त्र रूप में प्रबन्धात्मकता नहीं थी। हाँ समूचे प्रबन्ध में ये भली भाँति खपे हुए हैं। किन्तु यदि इन स्थलों को प्रबन्ध काव्य में से निकाल कर अलग रख दिया जाये तो उसकी प्रबन्धात्मकता पर अधिक आँच नहीं आ सकती क्योंकि कथावस्तु में कोई विच्छेद उपस्थित ही नहीं होता, किन्तु ऐसा करने से इन स्थलों का स्वतन्त्र महत्त्व बह जाता है। पूरे प्रबन्ध से विच्छिन्न होकर भी ये आस्वाद्य ही रहते हैं फिर भी इनमें प्रत्येक पद्य स्वतः पूर्ण एवं पृथक्ता सवेद्य नहीं है। अतः इन्हें मुक्तक भी नहीं कहा जा सकता। रामायण और महाभारत में अनकत्र प्रकृति विषयक वर्णन इसी कोटि का है। इस शैली को हम निबन्धात्मक शैली कह सकते हैं। आगे चल कर प्रबन्ध शैली और मुक्तक शैली का संस्कृत साहित्य में पर्याप्त प्राधान्य रहा किन्तु निबन्ध शैली अपेक्षाकृत कम अपनायी गयी। कालिदास का ऋतु-संहार इसी शैली में लिखा गया है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की अरुणोदय-वेला में तीन प्रकार की शैलियाँ प्रचलित थी जिनका संस्कृत गीतिकाव्य ने यथार्थचिन् प्रयोग किया है

प्रबन्ध शैली

प्रबन्ध काव्य का प्रमुख तत्त्व है कथा वस्तु जो इतनी व्यापक भी हो सकती है कि जीवन का एक विशद चित्र प्रस्तुत कर सके, तथा इतनी संक्षिप्त भी हो सकती है कि उसके किसी एक उज्ज्वल पक्ष की ही भाँकी दिखा सके अथवा किसी प्रभावशालिनी घटना को ही प्रत्यक्ष उपस्थित कर सके। इस आधार पर प्रबन्ध काव्य के दो भेद हो जाते हैं—महाकाव्य और खण्ड काव्य।

1 श्रीमती राक्स डेविड, Psalms of the Sistes, p XVIII.

तथा बिश्वरहितन, H I. L. pp 111-112

2 वही, पृष्ठ ११२।

3 वही, पृष्ठ ११०।

महाकाव्य—

महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक अथवा किसी लोक-विश्रुत महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध होना चाहिए। घटनाओं के प्रशस्त गुम्फन द्वारा कथा वस्तु का क्रमिक विकास इसमें अपेक्षित है। अतः इसमें नाटक के समान ही मुखादि संधियाँ शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक प्रमुख रस और तदतिरिक्त रसों का गौण होना आवश्यक है कोई देवता अथवा धीरोदात्त संद्वेष क्षत्रिय इसमें नायक होता है। एक ही वंश के अनेक कुलीन राजा भी नायक हो सकते हैं। इसका प्रारम्भ नमस्कार, आशीर्वाद अथवा वस्तु निर्देश के साथ होता है। सज्जन-प्रशंसा, जल-निन्दा, संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, मृगया, शैल, वन, सागर और ऋतुओं के वर्णन के साथ सयोग अथवा विप्रलम्भ शृंगार का समावेश, पुर, अध्वर स्वर्ग, अभियान, आदि का भी वर्णन रहता है। स्वरूप की दृष्टि से यह सर्गों में विभाजित होता है, इसमें आठ या अधिक सर्ग होते हैं। एक सर्ग में एक ही छन्द का आश्रय लिया जाता है केवल सर्ग के अन्त में छन्द बदल जाता है। सर्ग के अन्त में ही भावी सर्ग की कथा की सूचना भी दे देनी चाहिये। किसी किसी सर्ग में विभिन्न छन्द भी अपनाये गये देखे जाते हैं।^१ महाकाव्य के इन लक्षणों से स्पष्ट हो जाता है कि इस में कथानक का प्रवाह सर्वत्र रक्षणीय है, वर्णनात्मकता अवश्यम्भावी है और विविध वर्णनों को यथा स्थान घटना-सूत्र में आबद्ध करने की संगठन-शक्ति अपेक्षित है। इन सब बातों का पालन करते हुए रस-सृष्टि करना कोई आसान कार्य नहीं। अनुजिह्वार्थ-सम्बन्धः प्रबन्धो बुरुवाहरः कह कर महाकवि माघ ने प्रबन्धकार की कठिनाइयों की ओर संकेत किया है। यही कारण है कि जहाँ मुक्तक रचना में असंख्य कवि प्रवृत्त देखे जाते हैं वहाँ महाकाव्य की रचना में विरले ही पग रखने का साहस करते हैं—

मुच्यते कवयोऽनन्ताः प्रबन्धे कवयः शतम् ।

कविरेको महाकाव्ये, द्वौ वा दुर्लभास्त्रयः ॥^२

महाकाव्य की उपर्युक्त विशेषताओं से यह भी प्रकट है कि यह पद्धति गीति काव्य के लिये उपयुक्त नहीं है। गीति काव्य में विषय-वर्णन की अपेक्षा भाव-सान्द्रता को प्रमुखता प्रदान की गई है फिर विषय-वैविध्य का उसमें कोई प्रयत्न ही नहीं उठता। प्रसार की अपेक्षा गहराई ही उसमें अभीष्ट है। यद्यपि महाकाव्य के विशाल कलेवर में गीति काव्य भी यत्र-तत्र रस-सृष्टि हेतु समाविष्ट मार्मिक स्थलों में अन्तर्भूत मिल ही जाता है, और इन्हीं स्थलों को उसका प्राणकोष भी कहा जा सकता है, तथापि महाकाव्यात्मक गीति काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। अर्थात् महाकाव्य गीत्यात्मक हो सकता है किन्तु गीतिकाव्य महाकाव्यात्मक नहीं हो सकता।

१. साहित्य दर्पण, कारिका ३:५।३२३।

२. काव्यमीमांसा अ० १०।

खण्ड काव्य—

प्रबन्धात्मक शैली में लिखे हुए काव्य का दूसरा प्रकार खण्ड काव्य के नाम से अभिहित है। इसमें महाकाव्य की भाँति जीवन का विविधाङ्ग चित्र नहीं दिया जाता अपितु किसी एक अङ्ग की झलक सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ उपस्थित की जाती है। अन्त कथाओं और घटना-वैविध्य के लिये इसमें स्थान नहीं रहता। गिनी-चुनी घटनाओं को गूँथ कर कवित्तैकावली का प्रणयन किया जाता है। अन्याय वगणों के भार से मुक्त रहन के कारण कवि के भावोच्छ्वास के लिये इसमें स्थिति और स्थान दोनों ही अपेक्षाकृत अधिक रहते हैं जिससे घटनाओं के सकोच का रस की गहराई में पर्यवसित हो जाना स्वाभाविक ही है। अतः सहृदय पाठक और कथानक दोनों ही रस-गाम्भीर्य में मग्न हो जाते हैं। यही कारण है कि प्रबन्धात्मक शैली में गीतिकाव्य केवल खण्ड काव्य के रूप में ही अवतरित हो सकता है। उदाहरणार्थ कालिदास के मेघदूत का नाम लिया जा सकता है।¹

निबन्ध शैली

स्थूल रूप से निबन्ध शैली में लिखे हुए ग्रन्थों का विवेचन संस्कृत साहित्य में अप्राप्त है। किन्तु, जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, इस प्रकार की रचनाएँ अवान्तर वर्णन के रूप में महाकाव्यों में यत्र-तत्र अधिगत होती हैं। उदाहरणार्थ वाल्मीकि के शरद वणन को ही ले लीजिये। कथानक सन्धि आदि तत्त्वों की अवहेलना कर कवि अपने वर्ण्य विषय का कुछ इलोंको में जो परस्पर सुसम्बद्ध होते हैं, चित्रण करता है। महाकाव्यों में सध्या, ऋतु पर्वत, नदी, रजनी आदि के वर्णन इसी कोटि के कहे जा सकते हैं। स्वतन्त्र रूप से भी इस प्रकार के काव्यों की रचना संस्कृत में हुई है। विश्वनाथ महापात्र ने ऐसी रचनाओं को काव्य नाम दिया है। इसका लक्षण करते हुए वे लिखते हैं—

भाषा विभाषानियमात् काव्य सर्गसमुद्भिन्नम् ।

एकाग्रं प्रवर्णं पद्यं सन्धिसामग्र्यवर्जितं ॥²

अर्थात् एकार्थ प्रवर्ण पद्यों में रचित कृति, जिसकी सर्गादिबन्ध एवं सन्धि आदि के पालन का विचार न कर आद्यन्त भाषा अथवा विभाषा में ही रचना हुई हो, काव्य कहलाती है। इस परिभाषा में 'सन्धिसामग्र्यवर्जन' कथा वस्तु की पूरी पूरी उपेक्षा कर देता है फिर भी एकार्थ-प्रवर्णता से पद्यों का पारस्परिक निबन्धन व्यक्त है। 'सर्गत्याग' घटनावैविध्य के अपहार का छोटक है। इसलिये आधुनिक परिभाषिका (Terminology) के अनुसार हम इसे निबन्ध शैली कह सकते हैं।

1 खण्ड काव्य महाकाव्यस्यैकदेशानुकारि च ।

यथा मेघदूतदि (विश्वनाथ महापात्र, सा० दर्पण छटा परिकल्पे) ।

2. सा० दर्पण, कारिका ३२८ ।

संस्कृत के अनेक गीति काव्य इस शैली में लिखे गये हैं। उदाहरण के रूप में ऋतु-संहार, राक्षस काव्य, भिक्षाटन काव्य आदि प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

मुक्तक शैली

संस्कृत गीति काव्य का विशालतम भाग मुक्तक शैली में लिखा गया है। वास्तव में क्षणिक भावावेश में प्रसूत गीति को बाँधने के लिये गुणों की दृष्टि से मुक्तक को बेजोड़ ही समझना चाहिये। प्रत्येक समय में नगण्य सी सामग्री द्वारा रस-सृष्टि का अद्भुत कार्य इसकी अपनी विशेषता है। मुक्तक शब्द मुच्^१ धातु से 'क्त' प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न होता है और भूतकाल एवं फलाश्रय के समानाधिकरण विशेषण का प्रत्यायन कराता है।^२ इस प्रकार मुक्त शब्द विशेषण का कार्य करता है जिस का अर्थ है छोड़ा हुआ अथवा स्वतन्त्र। मुक्त शब्द में सञ्चार्य^३ में अथवा ह्रस्वार्य^४ में कन् प्रत्यय होने पर मुक्तक शब्द बनता है। इस प्रकार मुक्तक का अर्थ होता है—मुच्यते इति मुक्तम्, तदेव ह्रस्व द्रव्य मुक्तम्। अर्थात् लघु-कलेवर मुक्त पदार्थ मुक्तक कहलाता है। कदाचकृत शब्दकल्पद्रुकोश में मुक्तक का लक्षण इन प्रकार किया गया है—

विनाकृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम् ।

निम्नं स्यादश निर्व्यूहं मुक्त यो वातिशोभनः ॥

इस परिभाषा के प्रथम चार शब्दों से सिद्ध है कि जो पद्य अर्थ-पर्यवसान तथा रस-चर्वणा में परापेक्षी न होकर स्वतः पूर्ण हो वह मुक्तक कहलाता है। प्रबन्ध काव्य में तो उसकी अपेक्षा नहीं होती। निर्व्यूह शब्द, जिस का अर्थ है पूर्णतया किया हुआ, मुक्तक की इसी विशेषता की अभिव्यक्ति करता है। विशेषित द्वारा यही बात अभिहित है और अतिशोभन शब्द उस की कलात्मकता की और इंगित करता है। मुक्तक की शोभा स्त्रियों के लावण्य के समान ध्वनि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। रसास्वादन और चमत्कृति प्रबन्ध के प्रत्येक पद में संभव नहीं किन्तु मुक्तक में रस की समग्र विशेषताओं का समाहार आवश्यक है, रस और चमत्कार के सारे उपकरणों का जुटाना अपेक्षित है। इसीलिए विशेषित विशेषण दिया गया है। मुक्तक का अन्य अर्थ ब्रह्मानन्द प्राप्त आत्मा भी है। इन सभी अर्थों की संगति करने पर मुक्तक की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—मुक्तक उस पद्य को कहते हैं जो परतः निरपेक्ष रहता हुआ भी पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में क्षम हो, चमत्कृति, गुम्फन एवं ध्वनि आदि विशेषताओं के कारण रमणीय तथा चर्वणा में ब्रह्मानन्द सहोदर रसानुभूति द्वारा हृदय को मुक्त बनाने में समर्थ हो। प्रबन्ध काव्य और नाटक में रसात्मकता और चमत्कार प्रबन्ध व्यापी होते हैं। पद्यों का

१. तयोरेव कृतकतत्त्वार्थाः । अष्टा० ५।३।=७ ।

२. निष्ठा, वही ३।२।१०९ ।

३. संज्ञायाम् कन् ५।१।=७ ।

४. ह्रस्वे, अष्टा० ।

सामूहिक प्रभाव इस दिशा में लेखक का सहायक होता है। अर्थात् काव्यानन्द की अनुभूति समूचे काव्य द्वारा होती है किसी एक पद्य विशेष द्वारा नहीं, और कथानक तथा पात्रों का भी इस दिशा में कुछ न कुछ योग रहता ही है। पाठक पात्रों की गति-विधि से उत्तरोत्तर अभिज्ञ होता हुआ प्रभावित होता जाता है और कुछ आगे चल कर उसके हृदय में इस अभिज्ञता के कारण तत्तत्पात्रों के प्रति सूक्ष्म संस्कार प्रतिष्ठित हो जाते हैं जो यथा प्रसङ्ग रसास्वादन में सहायक होते हैं। कथा-वस्तु की कौतुकपूर्ण निजी रमणीयता में बहुत कुछ रमा हुआ हृदय परिणामावगति के लिये उत्सुक रहता है जिस के कारण सामान्यतः गुण-दोष के प्रति उसकी चित्त-वृत्ति चेतन नहीं रह पाती। यही कारण है कि प्रबन्ध काव्यगत शतशः नीरस पद्यों की ओर उसका ध्यान नहीं जाता और वह सामूहिक रूप में काव्य के गुण-दोषों का अनुभव करता है। मुक्तक में ये सब सुविधाएँ नहीं रहती, न कथा का कौतूहल और न पात्रों का प्रभाव ही वहाँ होता है। हृदय रस-गवेषणा के लिये एक ही पद्य में व्यासक्त हो जाता है। अतः एक भी दोष दृष्टि से बच कर जा नहीं सकता। अमरक का शतक, विरहूण की चौरपञ्चाशिका, गोवर्धनाचार्य की आर्या-सप्तशती आदि रचनाएँ मुक्तक शैली में ही लिखी गई हैं।

मुक्तक काव्य की परम्परा का इतिहास बहुत पुराना है। ऋग्वेद विद्वत् का सर्वप्रथम मुक्तक-संग्रह माना जा सकता है। उस युग में प्रबन्ध काव्य का प्रचलन शायद था ही नहीं। इसीलिए ऋग्वेद में काव्य शब्द का कवि-प्रणीत-कृति अर्थ में भी प्रयोग तो हुआ है किन्तु उसके भेदोपभेदों का प्रतिपादन नहीं किया गया। जैसा कि इस अध्याय के गत पृष्ठों में कहा गया है महाभाष्यकार के समय तक काव्य के लगभग सभी अंगों का प्रणयन होने लगा था फिर भी प्रबन्ध और मुक्तक के भेद-विवेचन का कोई सकेत नहीं मिलता। काव्यशास्त्र के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों की उपलब्धि के अभाव में भामह और दण्डी ही सर्वप्रथम काव्यशास्त्री मिट्ट होते हैं। यद्यपि नाट्यशास्त्र निर्विवाद रूप से इनसे पहला है तथापि वह अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के युग तक नाट्यशास्त्र और अलङ्कार शास्त्र दो अलग शास्त्र माने जाते थे। नाट्यशास्त्र का सम्बन्ध नाटकों से था और अलङ्कारशास्त्र का काव्य से। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि नाट्यशास्त्र में नाटक के ही अंगों का सर्वांगीण विवेचन हुआ है अन्य काव्य-विधाओं का नहीं। अलङ्कारों का भी जो संक्षिप्त सा विवेचन इस प्रसंग में किया गया है वह यही मान कर कि सभी कलाओं का समावेश नाटक में होता है। इसके अतिरिक्त नाटक में रस को प्रमुखता प्रदान की गई है जब कि उस युग में काव्य में रस का नहीं, अलङ्कार का प्राधान्य स्वीकार किया गया था। तत्कालीन अलङ्कार ग्रन्थों के प्राप्त न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य जैसा कोई भेद प्रतिष्ठित हो चुका था।

भामह और दण्डी ने इस प्रकार का विभाजन किया है किन्तु इनकी

रचनाओं के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये स्वयं इस विषय में निश्चित नहीं थे। दण्डी के अनुसार स्फुट काव्य को मुक्तक माना जाना चाहिये जब कि भामह इसे अनिवद्ध काव्य कहते थे। भामह ने जिसे महाकाव्य कहा है दण्डी उसे संगन्ध काव्य की सजा देते हैं। दण्डी ने मुक्तक काव्य के विषय में विचित्र ही धारणा प्रकट की है। वे प्रबन्धगत किसी भी एक पद्य को 'मुक्तक' नाम देते हैं। अतः मुक्तक की कोई परिभाषा उन्होंने नहीं दी। इन तथ्यों से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि उस समय तक काव्य की विभाजन-बोधक संज्ञाओं का स्थिरीकरण भी नहीं हो पाया था जिसका कारण यही हो सकता है कि इन आचार्यों को काव्य भेदों की कोई परिनिष्ठित परम्परा प्राप्त नहीं हुई थी।

हम यह उल्लेख कर आए हैं कि काव्य में रस की आत्मरूप प्रतिष्ठा बहुत दिनों तक नहीं हो सकी थी और रस नाटक का ही तत्त्व माना जाता रहा था। काव्य में प्रारम्भ में अलङ्कार का ही प्रधान्य माना गया परन्तु अलङ्कार का अर्थ है आभूषण। वह अलङ्कारण का साधनमात्र है फिर वह साध्य—अलङ्कार्य अथवा आत्मा—कैसे बन सकता है? जब यह प्रश्न विवेचकों की बुद्धि से टकराया तो उन्होंने नाटक के समान काव्य में भी रस को आत्मरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उभय सम्प्रदायों के आचार्यों में इस प्रश्न को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद चला। इस धारणा की पुष्टि अग्नि पुराण की इस उक्ति से होती है —

वाग्वेदगध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।^१

इस उक्ति में निर्णय के पद पर आसीन किसी मध्यस्थ विद्वान् के तर्क-संगत निर्णय की श्रुति है। पुराणकार ने दोनों पक्षों की मीमांसा पर विचार करने के पश्चात् यह समन्वयात्मक निर्णय दिया कि काव्य में वेदगद्यभंगी भणिति-का प्राधान्य होता है, फिर भी उस का जीवन रस ही है। इस प्रकार काव्य में भी रस की अपरिहार्यता प्रतिष्ठित हुई किन्तु उसका सम्बन्ध प्रबन्ध काव्य से ही माना गया जात होता है। ऐसा सम्भवतः इस लिये हुआ कि रस ने नाटक से काव्य में सक्रमण किया था इस लिये यह समझा गया कि उसके समावेश के लिए कथा वस्तु का आधार आवश्यक है। कुछ भी हो, मुक्तक में भी रस भरा जा सकता है यह विचार समन्वयवादी पुराणकार मुनि की भी भावना प्राप्त न कर सका और उन्होंने मुक्तक में चमत्कार शक्ति का ही स्फुरण प्रधान माना; रस का उल्लेख तक नहीं किया—

मुक्तकं श्लोक एवैकचमत्कारक्षमः सताम् ।^२

१. अग्नि पुरा ३३७।३३।

२. बर्ही, ३६७।३६।

किन्तु एक एव चमत्कारक्षमः कह कर मुक्तक की स्वतन्त्र सत्ता की आवश्यक स्वीकार कर लिया गया। मुक्तक की रसवत्ता को सर्वप्रथम ध्वनिकार ने मान्यता प्रदान की और आलोककार आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा कि—

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बद्धमिच्छता ।^१

यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥

तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम् ।^२

अर्थात् यदि कवि रसमय मुक्तक की रचना करना चाहता है तो उसे अभीष्ट रसानुकूल औचित्य का पालन करना चाहिये। इतना कह कर ही आलोककार सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने उदाहरणार्थ अमरक कवि के रसमय मुक्तकों का उल्लेख करते हुए कहा कि प्रबन्ध काव्यों के समान ही मुक्तकों में भी रस का अभिनिवेश रखने वाले कवि भी दीख पड़ते हैं। अमरक कवि के शृंगाररसवर्षी मुक्तकों की प्रबन्ध-सदृश रसवत्ता प्रसिद्ध ही है—

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेदिव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो वृश्यन्ते यथा
ह्यमरकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।^३

यह वस्तुतः आश्चर्य की बात है कि व्यवहार रूप में मुक्तकों में रस की सत्ता शताब्दियों से चली आ रही थी किन्तु काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से वह ध्वनिकार से पूर्ण स्वीकृत न हो सकी।

मुक्तक काव्य संग्रह—

मुक्तक काव्य-संग्रह के दो भेद प्रसिद्ध हैं कोष और संचात। कोष का लक्षण विश्वनाथ महापात्र ने इस प्रकार दिया है—

कोषः श्लोकसमूहस्तु श्याबन्धोन्यायपेक्षकः ।

व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ॥^४

अर्थात् परस्पर अनपेक्ष श्लोकों का समूह कोष कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है क्रमरचित एवं अक्रमरचित। व्रज्या क्रम से रचित कोष श्रेष्ठ समझा है। व्रज्या दो प्रकार की होती है—एक जातिपरक पद्यों का समूह और एक वर्ण से प्रारम्भ होने वाले पद्यों का समूह। एकजातिपरता वर्ण्य-विषय अथवा छन्द के आधार पर मानी जाती है। एक ही विषय से सम्बद्ध पद्य, चाहे वे विभिन्न छन्दों में लिखे गए हों अथवा एक ही वृत्त में लिखे गए श्लोक, चाहे वे विभिन्न विषयों का वर्णन करते हों, सजातीय कहे जा सकते हैं। व्रज्या क्रम से संकलित कोष इस लिये श्रेष्ठ समझा जाता है कि उसमें विषय अथवा छन्द के निरन्तर परिवर्तित न होते रहने के कारण आस्वादन में एक प्रकार की समरसता बनी रहती है। यह आवश्यक

१. रत्नमालोक, कारिका ७३।

२. धम्मालोक, तृतीय उद्योत।

३. वही, ”

४. साहित्य दर्पण, छटा परिच्छेद।

नहीं कि कोष में संकलित पद्य एक ही कवि की रचना हों। अनेक कवियों की रचनाओं का संग्रह भी कोष ही कहलाता है। गाथा सप्तशती ऐसा ही कोष है जब कि आर्या सप्तशती में एक ही कवि के पद्य संकलित हैं। काव्यादर्श के टीकाकार नृसिंहदेव ने सघात नामक कोष के एक अन्य प्रकार का भी उल्लेख किया है—

यत्र कविरेकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये ।

सघातः स निगदितो वृन्दावनमेघदूतादिः ॥

जहाँ कवि एक ही विषय का एक ही छन्द में वर्णन करता है वह सघात कोष कहलाता है, जैसे वृन्दावन और मेघदूत। साहित्यदर्पणकार ने मेघदूत को खण्डकाव्य के रूप में उदाहृत किया है और यही अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि उसमें कथानक और प्रबन्धता किसी न किसी अंश में विद्यमान है ही। उसके पद्यों को सर्वथा परम्परानपेक्षक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिये यह पद्य सीजिये—

इत्याख्याते पवनतनयं मंथिसोबोन्मुखी सा ।

त्वामुत्थाप्योच्छ्वसितहृदया बीक्ष्य संभाव्य चंचलम् ॥

ओष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य ! सीमन्तिनीनाम् ।

कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात् किञ्चिद्वनः ॥

सौम्य ! तुम्हारे यह कहने पर प्रसन्न हृदय से ऊपर मुख उठा कर वह तुम्हारा उसी प्रकार अभिनन्दन करेगी जिस प्रकार सीता ने हनुमान् का किया था, फिर ध्यान से तुम्हारी बात सुनेगी क्योंकि वधू-जन के लिये मित्र द्वारा लाया हुआ प्रियतम का सदेश मिलन से कुछ ही हीन होता है।

इस पद्य का प्रथम शब्द ही पूर्ववर्ती पद्य के वर्ण्य-विषय को जानने के लिये उत्सुकता उत्पन्न कर देता है और पाठक का हृदय इस समूचे पद्य को पढ़ने से पहले उस कथन को जान लेना चाहता है जो इससे पहले श्लोकों में बताया गया है। इस आधार पर हम ऐसे गीति काव्यों को प्रबन्ध शैली के ही अन्तर्गत मानते हैं। उनके मुक्तक शैली में रखने का कोई कारण नहीं दीख पड़ता।

सक्षेप में संस्कृत गीति साहित्य में उपर्युक्त शैलियों की रचनाएँ अधिगत होती हैं। शायद अधिक भेद-प्रभेद भी संभव हो सकें किन्तु उनकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनका अन्तर्भाव इन्हीं में हो सकता है।

संस्कृत गीति-काव्य पर लोकभाषाओं के साहित्य का प्रभाव

लोक भाषा का महत्त्व

शिष्ट साहित्य के साथ साथ लोक भाषाओं में भी जन साधारण के मनो-रञ्जनार्थ साहित्य की सृष्टि होती रहती है और कालान्तर में ये लोक भाषाएँ क्रमशः परिमार्जित और विकसित होती हुई स्वयं शिष्ट अथवा साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लेती है। विकास के इस क्रम में किसी समय ऐसी स्थिति का आना भी स्वाभाविक ही है जब पुरातन साहित्यिक भाषा और नव विकसित अर्वाचीन भाषा में समानान्तर साहित्य-सृष्टि होती रहती है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति दोनों भाषाओं में उच्च-कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत करता है। समानान्तर साहित्य-सृष्टि से गौरवान्वित भाषाओं में भद्र प्रतिवेशियों के समान आदान-प्रदान भी स्वाभाविक ही है। यहाँ जब हम संस्कृत गीति काव्य पर लोक भाषा साहित्य के प्रभाव की बात कहते हैं तो हमारा उद्देश्य इसी नव-साहित्यिक रूप प्राप्त लोक भाषा के साहित्य से है। अपने दीर्घ जीवन-काल में संस्कृत समय-समय पर ऐसी भाषाओं के सम्पर्क में आती रही है और इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि वह स्वयं इन भाषाओं के साहित्य की धाराओं को अपने अगाध रस से भरती रही है। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के समान ही आधुनिक भारतीय भाषाओं पर भी संस्कृत का साहित्यिक ऋण कुछ कम नहीं है, इस ऋण का निर्यात तो इन भाषाओं द्वारा संस्कृत को सम्भव नहीं परन्तु व्याज के रूप में ये भी उसे अपना कुछ न कुछ देती अवश्य रही हैं जो अनुपात में नगण्य होता हुआ भी प्रभाव की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता रहा है।¹ आधुनिक युग में भी संस्कृत कविता, अल्पांश में ही सही, हिन्दी की अपनी परम्पराओं से प्रभावित हुई है। यह पक्ष हमारे विषय की परिधि में नहीं आता। अतः इस अध्याय में केवल पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रभाव को खोजने का प्रयत्न किया जायेगा।

1. The vernacular literature, developing side by side, apparently reacted upon sanskrit, as it was often reacted upon by Sanskrit. (S. K. De, *Hist. of Sans. Lit.*, p. 395.)

प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति

भारतवर्ष की ये प्राचीन लोक-भाषाएँ प्राकृत के सामान्य नाम से अभिहित की जाती हैं। प्राकृत शब्द की विद्वानों ने अनेक व्युत्पत्तियाँ की हैं। शब्दकल्पद्रुम में 'प्रकृष्टं कृतं कार्यं यस्मिन्' व्युत्पत्ति की गई है। प्राकृत सञ्जीवनीकार 'प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः', प्राकृतचन्द्रिकाकार 'प्रकृति' संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्' और हेमचन्द्र 'प्रकृतिः संस्कृतं तत आगतम् प्राकृतम्' व्युत्पत्ति करते हैं। हमारे विचार से तो 'प्रकृतिः जनता ततः आगतम् प्राकृतम्' व्युत्पत्ति उचित है।

इस सम्बन्ध में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—

“हिन्दुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे संस्कृत कहते हैं, परन्तु जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मंजी छँटी सुघरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरोरे के बाँध से उसमें सारा जल खींच लिया गया है, उसके किनारे सम है, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली छोटी बड़ी पथरीली रेतीली नदियों का पानी मोड़ कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह अविच्छिन्न रखने के लिये कंसा कुछ आन्दोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम नहीं जान सकते। मदा इस संस्कृत नहर को देखते देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छन्द होकर समतल और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़ कर जल—स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा, कहीं गंदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली कहीं रेतीली भूमि पर और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है। नहर प्रकृति है और नदी विकृति।¹

गौडवहो काव्य के यशस्वी प्रणेता वाक्पतिराज के अनुसार जिस प्रकार सब प्रकार के जल समुद्र से निकलते हैं और समुद्र में ही जा मिलते हैं उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत से निकलती हैं और प्राकृत में ही समा जाती हैं। यह काव्य की भाषा है। शब्द शास्त्र की भाषा में हम कह सकते हैं कि वाक्पतिराज का मत है 'प्रकृत्या सिद्धं प्राकृतम्'। हेमचन्द्र आदि प्राचार्यों का मस्तिष्क संस्कृत से अभिभूत था। अतः उन्होंने संस्कृत को ही प्राकृत की प्रकृति (मूल) माना। प्राकृत का अध्ययन उन्होंने संस्कृत के माध्यम से किया था क्योंकि उस समय तक प्राकृत लोक-भाषा न रह गयी थी और शिष्टजन में अधिकतर संस्कृत की ही प्रतिष्ठा थी।

जितने भी प्राकृत व्याकरण उस समय उपलब्ध थे वे सभी संस्कृत को ही प्राकृत का मूल आधार मान कर चले थे। वस्तुतः प्रकृति शब्द प्रजा की स्वतः विकसित होती हुई भाषा के लिये ही समीचीन कहा जा सकता है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि प्राकृत में संस्कृत के तत्सम शब्द बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं जबकि वैदिक भाषा के अनेकानेक शब्द मिलते हैं। यद्यपि प्राकृत का व्याकरण संस्कृत व्याकरण से प्रभावित है तथापि शब्दावली, उच्चारण आदि की दृष्टि से यह भाषा वैदिक भाषा के ही अधिक निकट है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

(१) प्राकृत में वैदिक भाषा के ही समान प्रथमा के एक वचन का प्रयोग ओकारान्त होता है जैसे—

जुषाणो अग्निराज्यस्य, ऋषीणां पुत्रो अग्निराज एव (वैदिक)

देवो वस्सति तावदेव सो गमो (प्राकृत)

(२) प्राकृत में द्विवचन नहीं होता। सर्वत्र अनेक वचन ही होता है। वैदिक भाषा में द्विवचन होता है किन्तु बहुत से स्थलों में उसके रूप बहुवचन के समान ओकारान्त देखे जाते हैं जैसे—या सुरथा रथोत्तमा दिविस्पृशा अश्विना। सम्भवतः यही प्रवृत्ति प्राकृत के द्विवचन-लोप के लिये उत्तरदायी है।

(३) वैदिक काव्यों में तृतीया के बहुवचन में पूर्वभिः, देवेभिः आदि रूप मिलते हैं। प्राकृत में केवल 'भ' के स्थान में 'ह' हो जाता है। एकार ज्यों का त्यों सुरक्षित रहा जैसे—देवेहि गम्भीरेहि आदि।

(४) पञ्चमी के एक वचन में वैदिक भाषा में नीचा, उच्चा, पश्चा जैसे प्रयोग मिलते हैं जो प्राकृत भाषा में भी देखे जाते हैं। कहीं-कहीं अति स्वल्प परिवर्तन अवश्य हुआ है।

(५) संस्कृत में पूर्वकालिक क्रिया का एक त्वा प्रत्यय ही रह गया। य (त्यप्) का प्रयोग भी अत्यन्त सीमित है किन्तु प्राकृत में वैदिक भाषा के त्वा और त्वान भी स्वतन्त्रता के साथ प्रविष्ट हो गये।

(६) वैदिक भाषा में चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान थे। पाणिनि का चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि सूत्र इसी का द्योतक है। प्राकृत में भी सर्वत्र षष्ठीवच्चतुर्थ्याः सूत्र षष्ठी और चतुर्थी में समान रूप का विधान करता है।

प्राकृत का महत्त्व

ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में प्राकृत रचनाओं का प्राधान्य रहा जब कि इस युग की संस्कृत रचनाएँ बहुत ही कम मिलती हैं। इसके आधार पर मैक्समूलर ने भ्रान्तिवश ईसा के आस-पास की कुछ शताब्दियों में संस्कृत में काव्य रचना का सर्वथा निरोध मानकर प्राकृत में ही कविकर्म प्रवृत्त मान लिया, यहाँ तक कि उनके गृहीतोक्तिमत के अनुसार रामायण और महाभारत का प्रणयन

भी मूलतः प्राकृत में ही हुआ और तत्पश्चात् वे संस्कृत में अनूदित हुए। अपनी प्रविचारिता के कारण सर्वथा असमान्य होता हुआ भी यह सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है। वह यह कि उस युग में प्राकृत में रचनाओं का प्राधान्य अवश्य रहा। इतना ही नहीं शृंगार वर्णन के लिये उसे अधिक उपयुक्त भी माना जाता रहा। उसके माधुर्य पर कवि लोग लट्ट थे, मानो उनकी दृष्टि में शृङ्गार के अधिष्ठातृदेव मदन की केलिमूमि यही भाषा थी इसीलिये उन्होंने स्वयं घोषणा की—

अभिधं पाउअकव्व पडिडं सोउं अ जे ण आणन्ति ।

कामस्स तत्तत्तिं कुणन्ति ते कहं न लज्जन्ति ॥ (गा० स०)

जो लोग प्राकृत काव्यामृत को पढ़ना और सुनना नहीं जानते और काम की तत्त्व चिन्ता करते हैं वे लज्जित क्यों नहीं होते।

प्राकृत के कवियों ने अपने घर में बैठ कर प्राकृत के गीत गाये ही, यह बात नहीं, अपितु संस्कृत के आचार्य और रस-सिद्ध कवियों ने भी शृङ्गारिक वर्णन के लिये प्राकृत के एकान्त उत्कर्ष एवं उपयुक्तता को स्वीकार किया है। राजशेखर जैसे किवेकी विवेचक ने भी संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत को मधुर माना है उनके अनुसार पुरुष और महिला में सुकुमारता की दृष्टि से जिनना अन्तर है उतना ही संस्कृत प्राकृत में। वज्जालम्ब के यशस्वी सकल्यिता न भी ललित मधुर, युवति-जन-वल्लभ, शृंगारमय प्राकृत काव्य के होते हुए संस्कृत के पढ़ने को व्यर्थ बताया है।^१ इसी प्रकार आर्यासप्तशती के प्रणेता आचार्य गोवर्धन ने भी शृंगारिक रचनाओं में प्राकृत का महत्त्व स्वीकार किया है।

विभिन्न प्राकृतें—

ग्रियसं ने प्राकृत भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए वैदिक काल एवं उससे पहले की जन-भाषाओं को प्रथम प्राकृत कहा है और बृद्ध के प्रविर्भाव काल से लेकर ईसा की दसवीं शताब्दी तक की भाषाओं को द्वितीय प्राकृत का नाम दिया है। प्रथम प्राकृतों का काल उन्होंने ईसा से २००० हजार वर्ष पहले से ६०० वर्ष ईसा पूर्व तक माना है और दूसरी प्राकृतों का ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की दशम शताब्दी पर्यन्त।^२ वस्तुतः कालक्रम की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं के तीन वर्ग किए जा सकते हैं। (१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वर्ग, (२) मध्य-कालीन-भारतीय आर्य भाषा-वर्ग और (३) आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा वर्ग।

१. गायत्री सप्तशती, १—२।

२. परसा सक्कअमन्था पाउअमन्थो वि ओइ सुउमारो।

पुरुसमहिंलाण जेत्तिअमिडन्तरं तेत्तिअमिमार्थं ॥ (कपूर मन्जरी)

३. ललिण मजुरक्खण जुवईजयवल्लहे ससिंमारो।

सन्तो पाइअकव्वे को सक्कइ सक्कअं पडिडं ॥ (वज्जालम्ब २६)

४. लिखितिक सर्वे भाषा इतिहास, पृष्ठ १२१।

पहले दो वर्षों में क्रमशः त्रियसंन की प्रथम और द्वितीय प्राकृतें आ जाती हैं और तीसरे में हिन्दी आदि प्राधुनिक भाषाएँ ।

भारतीय आर्यों की प्राचीन भाषा का सब से पुराना साहित्यिक उदाहरण ऋग्वेद है । जिसमें कुछ ऋचाएँ ऐसी हैं जिनकी भाषा बहुत प्राञ्जल और प्रौढ़ है । कुछ ऋचाओं की भाषा अपेक्षाकृत सरल और सुबोध है । जिस भाषा में वेद उपलब्ध है वह तत्कालीन शिष्ट लोगों की भाषा थी । इस साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त एक या अधिक विभाषाएँ भी थी ।^१ एक ही शब्द के अनेक रूपों का प्रयोग जैसे गत्वा, गत्वाय, गत्वी) विभाषा-भेद की इस कल्पना की पुष्टि करता है । आर्यों के साथ-साथ उनकी भाषा भी उत्तर पश्चिम प्रदेश से धीरे-धीरे पूर्व की ओर फैली और प्रदेश, काल तथा प्रादिम जातियों के उच्चारण-भेद के कारण बुद्ध के समय तक इसके उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य, ये तीन रूप स्पष्टतया प्रतिष्ठित हो चुके थे ।

उदीच्य (पेशावर प्रदेश तथा उत्तरी पंजाब की) भाषा में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ । या यूँ कहिये कि प्राचीन रुढ़ि और आर्य भाषा की परम्परा इस प्रदेश में चिर-काल तक प्रचलित रही । इसीलिए ब्राह्मण ग्रंथों में उदीच्य भाषा की शुद्धता की बड़ी प्रशंसा की गई है :—

तस्मादुदीच्यं प्रज्ञाततरा वागुच्यते । उदञ्च उ एष यन्ति वाचं शिशितुं यो वा तत् प्रागच्छति तस्य वा शुभूषन्त इति ।^२

अर्थात् उदीच्य दिशा में ही प्रज्ञाततर (सुष्ठु ज्ञात) वाणी बोली जाती है । लोग भाषा का अध्ययन करने वहीं जाते हैं अथवा जो वहाँ से आता है उसकी भाषा सुनना चाहते हैं ।

प्राच्य-भाषा-भाषी वैदिक मर्यादा और ब्राह्मणों की सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था पालन न करने के कारण त्रात्य (सावित्रीभ्रष्ट) कहे जाते थे । इन लोगों तथा इनकी भाषा की निन्दा की गई है और कहा गया है कि ये अकठिन वाक्य को भी कठिन समझते हैं और अदीक्षित होते हुए भी दीक्षितों की वाणी बोलते हैं—

अबुधत-वाक्यं दुयतमाहुः । अदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति ।^३

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राच्य लोग उदीच्यों की भाषा का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते थे जिसके कारण अनेक ध्वनि-परिवर्तन हुए जिन में मुख-सुविधा के कारण संयुक्त व्यञ्जनों का समीकरण प्रमुख रहा होगा । समस्त पक्षों का उच्चारण भी वे भली प्रकार नहीं कर पाते होंगे । इसलिये उनकी बोली समीकृत संयुक्त-

१. इन्हे आर्यन एण्ड हिन्दी, पृष्ठ ४७ (डा० सुनीतिकुमार चटर्जी)

तथा मैकडानल, हिन्दी ऑब् संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २४ ।

२. शाखायन-कौशातकी ७।३ ।

३. ताण्ड्य-अप्यवशिष्ट ब्राह्मण १७-४ ।

व्यञ्जनों की प्रचुरता और समस्त पदों के यथा संभव कम प्रयोग के कारण उदीच्य बोली से अधिकधिक भिन्न होती चली गई होगी। अर्थात् प्राकृत भाषा के लक्षण प्राच्य विभाषा में पहले और तेजी के साथ प्रकट हुए होंगे। मध्यदेशीय बोली में कुछ-कुछ दोनों ही और की विशेषताएँ रही। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि उदीच्या और प्राच्या में व्यञ्जन समीकरण के अतिरिक्त 'र' और 'ल' के उच्चारण में भी भेद था उदीच्या में 'र' का प्रयोग प्रचुर था किन्तु प्राच्या में 'र' के स्थान पर प्रायः 'ल' हो जाता है (राजा = लाजा)। र और क के पश्चात् दन्त्य वर्ण के स्थान में मूर्धन्य हो जाने की प्रवृत्ति भी देख पड़ने लगी थी। वैदिक भाषा के कृत, अर्ध और अर्ध प्राच्या में कट, अट्ठ, अड्ड हो गये थे और मध्यदेशीया में कत अथवा कित, अत्य और अद्व जबकि उदीच्य भाषा में वे शुद्ध रूप में ही रहे।¹ पारस्परिक सम्बन्ध के कारण प्राच्या के कुछ शब्द (विकट = विकृत, निकट = निकृत आदि) उदीच्या में भी प्रवेश पा गए।

इन विविध परिवर्तनों के विभिन्न कारणों में से प्रमुख कारण उन आदि-वासियों का प्रभाव था जो आर्यों के ही समाज में मिल गए थे और विजेताओं की भाषा का अपना रहे थे। ध्वनि विषयक परिवर्तनों के अतिरिक्त अपनी बोली के शब्द भी उन्होंने आर्य भाषा में मिलाए। बुद्ध काल तक आते आते प्राचीन आर्य-भाषाओं (प्रथम प्राकृतों) के जो स्वरूप बने डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने उनका निर्देश इस प्रकार किया है—

(१) उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य रूप में विकसित विभाषाएँ।

(२) वैदिक सूक्तों की प्राचीन भाषा छान्दस जिस का स्वाध्याय अभी तक ब्राह्मणों में चल रहा था।

(३) छान्दस भाषा के नवीन रूप तथा उदीच्य भाषा के प्राचीन रूप से विकसित भाषा जिसमें मध्यदेशीय और प्राच्य विभाषाओं के तत्त्व भी मिल गए थे। ब्राह्मणों के परस्पर व्यवहार और शिष्ट लोगों की भाषा यही थी। इसी में वैदिक ग्रन्थों के भाष्य लिखे गए।

ई० पू० की छठी शताब्दी में महावीर और गौतम बुद्ध ने बोल चाल की भाषाओं को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया जिसके कारण प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक विकास का श्रीगणेश हुआ। यही से भारतीय आर्य भाषाओं का मध्य युग भी आरम्भ होता है। बुद्ध के समय में प्राच्या भाषा वैदिक छान्दस तथा उसके नवीन विकसित रूप से इतनी भिन्न हो गयी थी कि उदीच्य व्यक्ति के लिए उसे समझना कठिन कार्य था। ब्राह्मणों ने अपने विचारों का प्रचार छान्दस भाषा में ही करना उचित समझा क्योंकि उनका प्रभाव रुढ़िप्रिय जन-समाज पर ही अधिक था, किन्तु धार्मिक क्रान्ति के साथ-साथ अज्ञात रूप में जो भाषा-विषयक क्रान्ति

स्वतः चल रही थी उसका प्रभाव ब्राह्मणों पर भी पड़ा। उन्होंने वैदिक भाषा को आधार मान कर उदीच्य प्रदेश में प्रचलित जन भाषा का आश्रय लिया जो छान्दस भाषा से इतनी अधिक भिन्न नहीं थी जितनी अन्य विभाषाएँ। इसी लौकिक भाषा को पाणिनि ने मस्कृत रूप दिया। तत्कालीन बोलियों के शब्दों और मुहावरों के प्रभाव से यह भाषा भी सर्वथा शून्य नहीं थी।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने विकासक्रम के अनुसार मध्य कालीन आर्य भाषाओं की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है :—

१. प्रारम्भिक अवस्था (४०० ई० पू० से १०० ई० तक)
२. मध्यकालीन अवस्था (१०० ई० से ५०० ई० तक)
३. उत्तर कालीन अवस्था (५०० ई० से १००० ई० तक)

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की प्रारम्भिक अवस्था में द्विवचन और आत्मनेपद का ह्रास हो गया था विभक्तियों में षष्ठी और चतुर्थी के रूप एक से हो गए थे, सर्वनाम के पर प्रत्ययों का प्रयोग मंजा के साथ भी किया जाने लगा था। क्रिया के लकारों में लृट्, लिट्, लङ् और लृङ् के रूपों का लोप और विधिलिङ् तथा आशीलिङ् का प्रायः एकीकरण हो गया था। गुण-भेद से उत्पन्न क्रिया-रूपों की जटिलता और व्यञ्जनान्त संज्ञा रूपों की बहुलता कम हो गई। स्वरों में ऐ, औ, ऋ और लृ का लोप हो गया। विसर्ग का अभाव, व्यञ्जनों का समीकरण, संयुक्ताक्षरों का बहिष्कार और अनेक स्वरों का साथ-साथ प्रयोग होने लगा था।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं (द्वितीय प्राकृतों) की प्रारम्भिक अवस्था में पालि, अशोक के शिलालेखों की प्राकृत और जैन सूत्रों की अर्धमागधी आती हैं।

पालि

बौद्धों के धार्मिक साहित्य की भाषा पालि कहलाई। वस्तुतः पालि शब्द बौद्ध धर्म जितना पुराना नहीं है वह अपेक्षाकृत आधुनिक है। ईसा की ६ठी ७वीं शताब्दी से पहले पालि शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। महावंश में बाद में जोड़े गये ग्रंथ चूलवंश के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में पालि शब्द बौद्धों के मूल सिद्धान्त-ग्रन्थ के लिये उपयुक्त होता था। उसमें लिखा है—

पालिमत्तं इधानीत्तं नत्थि अट्ठकया इव ।

अर्थात् केवल पालि ही (सीलोन से) यहाँ लाई गई है, भाष्य अथवा टीका नहीं।^१ उनके भाष्यों में भी पालि शब्द का प्रयोग ठीक इसी अर्थ में हुआ है। उदाहरणार्थ विसुद्धिमग्ग में लिखा है। इदं सम्भाकारेण नेव पालियं न अण्यकथार्यं आगतं केवलं अचरियमतानुसरेण वुत्तं तस्मा त सारतो पच्चेतम्भं।^२ अर्थात् यह न

१. देखिये, बा० सी० ला०, हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर की प्रस्तावना।

२. विसुद्धिमग्ग, पृष्ठ १०७।

तो पालि में आया है और न भाष्य में आया है, आचार्यमतानुसार कह दिया गया है अतः तत्त्वतः विश्वसनीय नहीं। आगे एक स्थान पर फिर लिखा है—‘इमानि ताव पालिय अट्ठकयाय पन अज्झानि पि रूपानि आहारित्वा’^१ अर्थात् पालि में ये ही रूप हैं, अन्य रूप टीकाओं में आये हैं। बुद्धघोष ने भी अपनी ‘पुग्गल पञ्चति’ टीका में पालि और अट्ठकथा का भेद स्पष्ट किया है।^२ पालि (मूलग्रन्थ) की भाषा को बौद्ध टीकाकारों ने मागधी निरुत्ति कहा है जिसे वे मानव की आदि भाषा भी मानते हैं।^३ बौद्ध आचार्यों की इस मान्यता का कारण कदाचित् यह है कि बुद्ध का प्रचार क्षेत्र अधिकतर मगध का साम्राज्य ही रहा; किन्तु केवल यही तथ्य इस बात का पुष्ट प्रमाण नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध और बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थों की भाषा मागधी ही थी क्योंकि न तो बुद्ध स्वयं ही मगधवास्तव्य थे और न ही वे अपने धर्म को सार्वभौम बनाने के लिये किसी प्रदेश विशेष की भाषा पर ही पूर्णतया निर्भर रह सकते थे। अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये उन्होंने छान्दस भाषा का निषेध कर के जिस माध्यम की संस्तुति की उसे ‘सकानिरुत्ति’ कहा है। विनय पिटक में लिखा है—

न भिक्खवे बुद्धवचनं छान्दसो आरोपेतब्बं अनुजानामि भिक्खवे सकाया निरुत्तिया बुद्धवचनं परिपापुनितुं।^४

बुद्धघोष ने छान्दस का अर्थ ‘सकटभासा’ (संस्कृत भाषा) किया है और सकानिरुत्ति का मागधी भाषा।^५ दोनों ही अर्थ भ्रान्त हैं। संस्कृत शब्द बुद्ध और पाणिनि के बाद का है। पाणिनि ने वेद-भिन्न लोक-प्रचलित भाषा को भाषा अथवा लौकिक भाषा ही कहा है संस्कृत नहीं। ‘छान्दस’ से पाणिनि का तात्पर्य सर्वत्र वैदिक भाषा रहा है। अतः यदि ईसा से ६०० वर्ष पूर्व बुद्ध ने छान्दस शब्द का प्रयोग किया भी होगा तो उनका तात्पर्य इसी वैदिक भाषा से रहा होगा। छान्दस भाषा का निषेध उन्होंने इसलिये किया क्योंकि वह एक प्रकार से मृत हो चुकी थी। ‘सकानिरुत्ति’ में बुद्ध वचनों का प्रचार करने का आदेश बुद्ध ने जिस प्रसङ्ग में दिया वह यह है—

तेन खो पन समयेन यमेलुत्तेकुला नाम भिक्खू द्वे भातिका होन्ति ब्राह्मण जातिका कल्याणवाचा कल्याणवाक्करणा । ते येन भगवा तेन उपसंक्रमिषु । उपसंक्रमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसिन्ना खो ते भिक्खू भगवन्तं एतद् अबोधन्ः—एतरहि भन्ते भिक्खू नानानामा नानागोत्ता नानाजच्चा नानाकुला

१. वही, पृष्ठ ४५० ।

२. पुग्गल पञ्चति, पृष्ठ १११।११३ ।

३. विसुद्धिमग्ग, पृष्ठ ४४१।४४२ ।

४. विनय पिटक, सुल्लङ्ग, ४।३३।१, पृष्ठ २३६ ।

५. वेदं विषु सकट भासाया वाचनामग्गं । एवम सकानिरुत्तिनाम सम्मत्समुद्देन उक्तपकारो मागधको बोहारो । अथ बुद्धकृत, सुल्लङ्ग की टीका, सिंहली संस्करण, पृष्ठ ३६० ।

पञ्चजिता । ते सकावनिहस्तिया बुद्धवचनं वृत्तेति । हन्व मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो धारोपेमाति । विगरहि बुद्धो भगवा कथं हि नाम तुम्हे भोगपुरिता एवं वक्षत । हन्व मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो धारोपेमाति ।^१

अर्थात् उस समय दो भिक्षु, जो भाई-भाई थे और ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे और कल्याणकर वचन कहा करते थे, भगवान् बुद्ध के पास जाकर अभिवादन कर एक ओर बैठ गये और भगवान् बुद्ध से बोले भगवान् प्रव्रज्या लेने वाले भिक्षु लोग विभिन्न नाम, जाति, प्रदेश और कुल वाले हैं वे सकानिरुत्ति (अपनी-अपनी वाणी) से बुद्ध वचनों को दूषित करते हैं अतः भगवान् हम बुद्ध वचनों को छान्दस भाषा में वद्ध कर दें । इस पर बुद्ध ने उन्हें डाटते हुए कहा मोघ पुरुषों ! ऐसा क्यों कहते हो कि बुद्ध वचनों को छान्दस बद्ध कर दें ।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बुद्ध के शिष्यों में विभिन्न जातियों, प्रदेशों और गोत्रों के लोग थे जो उनके वचनों को अपनी अपनी भाषा में जनता तक पहुँचाते थे और बुद्ध ने भी इसके लिये उन्हें अपनी-अपनी बोली का ही आश्रय लेने के लिये प्रोत्साहित किया ? सकानिरुत्ति का प्रयोग अपनी-अपनी भाषा के अर्थ में हुआ है । बुद्ध ने किसी भी जनपद विशेष को अपनाने का विरोध किया है ।^२ एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अलग-अलग नाम होते हैं । मनुष्य को तत्तत् प्रदेशों में अपने जनपद में अभिहित नामों का आग्रह न कर उसी प्रदेश विशेष की बोली के शब्दों को अपनाना चाहिये ।

यथा यथा नाम तेषु तेषु जनपदेषु सज्जानन्ति इवं किर मे आयास्पन्तो संधाय बोहरन्ति ति तथा तथा बोहरति अपरामसं ।^३

ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की सबूकड़ी भाषा के समान बुद्ध की भी अपनी भाषा थी । कबीर ने अपनी बोली को 'पूरबी' कहा है किन्तु उसमें अन्य बोलियों के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में आये हैं इसी प्रकार बुद्ध की भाषा भी मिली-जुली लिच्छवी भाषा रही होगी वह पूर्ण रूपेण मागधी नहीं कही जा सकती । वस्तुतः जैसा कि डा० बिमलचरन ला ने लिखा है आजकल हमें जिस भाषा को पालि के नाम से बताया जाता है वह एक सर्वथा भिन्न भाषा है जिसका स्थिरीकरण थेर-वादियों के हाथ में पड़ कर हुआ ।^४ इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि लंका, बर्मा और स्याम के इन परम्परावादी आचार्यों ने उन लोगों की निन्दा की है जिन्होंने

1. विनयपटिक Vol. II, p. 139.

2. एव खो भिक्खवे जन पद निरुत्तिया च अनभिनिवेसो होति समज्जाय च अनत्तिसारो । जनपदनिरुत्तं नाभिसेयं सम्मज्जं नातिद्विषेय्य (Old Brahmi Inscriptions, Oldenberg p. 169.

3. वही, वही पृष्ठ ।

4. Int. to Hist. of Pali. Lit.

बुद्ध के वचनों को लिपिबद्ध करने में तनिक सी भी भाषा विषयक स्वतन्त्रता का आश्रय लिया—

महासंगीतिका भिक्खू विसोमं अकंसु सासनं ।
 भिन्निस्त्वा मूलसंगहं अञ्जं अकंसु संगहं ॥
 अञ्जं सन्धाय भणितं अञ्जथ्यं ठापयिस्सु ते ।
 व्यञ्जनाछायाय ते भिक्खू बहु अथ्यं विनासयं ॥^१

अर्थात् महासंगीतिक भिक्षुओं ने (बुद्ध के) शासन को उलटा ही कर दिया । मूल-संग्रह को छिन्न-भिन्न कर उन्होंने अन्य संग्रह किया, अन्य ग्रंथों की स्थापना की और व्यञ्जना की छाया से ग्रंथ का नाश ही कर दिया ।

पालि शब्द की बड़े-बड़े विद्वानों ने बहुत सी व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं जिनमें से कुछ तो वास्तव में बड़ी ही दिलचस्प हैं । उन सबकी चर्चा करने के लिए न तो यहाँ स्थान ही है और न अवसर ही । यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि बौद्धों का साहित्य आज पालि साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है । अथोकी प्राकृत और जैन-सूत्रों की मागधी में ऐसी कोई उल्लेखनीय रचना नहीं जिसने संस्कृत गीति-साहित्य को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया हो ।

मध्यकालीन अवस्था में प्राकृत भाषाएँ विकास के चरम उत्कर्ष पर पहुँच गईं । सयुक्त व्यञ्जन के स्थान पर व्यञ्जन-समोकरण की प्रवृत्ति तो पहले ही आरम्भ हो गई थी । इस काल में सयुक्त व्यञ्जनों की संख्या बहुत कम रह गई । 'दो स्वरों के बीच के स्पर्श व्यञ्जन का लोप इस काल की विशेषता है जिसके कारण काकः 'काओ' और नदी 'नई' हो गई । चतुर्थी विभक्ति का लोप हो गया और पंचमी का प्रयोग बहुत सीमित होने लगा । क्रिया रूपों की जटिलता में भी सुधार हुआ । धीरे-धीरे प्राकृत भाषाएँ साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन हुई, उनके भी व्याकरण बने । व्याकरण के आग्रह के कारण उनका विकास भी रुक गया और वे भी संस्कृत की तरह जन-भाषा से दूर-दूरतर होती गईं । संस्कृत के शब्दों को प्राकृत का रूप देकर ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्राकृत के साहित्यिकरों में अति-मात्रा में रही इसीलिए बहुत से विद्वान् साहित्यिक प्राकृत भाषा को कृत्रिम भाषा मानते हैं जिस का साहित्य के अतिरिक्त लोक में कहीं भी प्रयोग नहीं होता था !^२ गुलेरी जी का कथन है कि 'नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए । वह पण्डिताऊ या तकली गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसबिदा बना कर प्राकृत व्याकरण के नियमों से, त की जगह थ, और क्ष की जगह ख रख कर, साँचे पर जमा कर गढ़ी गई है । वह संस्कृत मुहावरों का नियमानुसार किया हुआ रूपान्तर है प्राकृत भाषा नहीं ।'^३

१. ओल्डन बग द्वारा संपादित दापवरा, ३२, ३४ ।

२. काथ हिस्सा भाग संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १० ।

३. पुरानी हिन्दी, पृष्ठ ४ ।

‘मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा काल में संस्कृत के प्रतिरिक्त द्राविड और आस्ट्रिक भाषाओं से भी शब्द लेने में संकोच न रहा। इन भाषाओं के प्रभाव के कारण अनेक अनुरणनात्मक शब्द (यथा तडि, तड, मडड, फणि, फुपफुयंतु आदि) इस काल की भाषाओं में आ गए। संस्कृत भाषा भी इन भाषाओं से प्रभावित हुई, जिससे भट्टारक, नापित, पुत्तलिका आदि शब्द संस्कृत में प्रवेश कर गए।^१

साहित्यिक प्राकृत और उनकी विशेषताएँ

प्राकृत के व्याकरणों ने देशभेद से प्राकृत भाषाओं को मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि नाम दिये हैं। मध्यकालीन प्राकृत भाषाओं के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में पाली, अशोकी प्राकृत और जैन सूत्रों की अर्धमागधी का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। ये भाषाएँ देश भेद से किये गए उक्त वर्गीकरण में किसी एक भाषा में अन्तर्भूत नहीं हो सकती। आगे चल कर तो देश भेद से प्राकृतों की संख्या सत्ताईस तक पहुँच गई।^२

स्पष्ट है कि ये सभी साहित्यिक भाषाएँ नहीं थी। व्याकरणों से केवल महाराष्ट्री शौरसेनी मागधी और पंजाबी भाषाओं को ही व्याकृत किया गया है। इनमें भी महाराष्ट्री ही प्रमुख है। प्रकाशकार ने महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों की प्रकृति संस्कृत मानी है और संस्कृत से महाराष्ट्री के रूप-परिवर्तन की व्याख्या ६ परिच्छेदों में की है तथा शौरसेनी की कतिपय निजी विशेषताओं का उल्लेख कर शेष महाराष्ट्रीवत् कह दिया है। मागधी और पंजाबी की प्रकृति शौरसेनी मानी है और क्रमशः १४ और १७ सूत्रों में उनकी विशिष्टताओं का उल्लेख कर शेष शौरसेनीवत् कह दिया है। षण्ड के प्राकृत लक्षण में तो और भी संक्षिप्तता बरती गई है और अन्य प्राकृतों का वैशिष्ट्य केवल एक-एक सूत्र में ही बतला दिया गया है—यथा,

न लोपोऽपभ्रंशोऽशोरेकस्य ।

पंशाण्यां रणयोर्लनी ॥

मागध्यां रत्तयोर्लशी ।

शौरसेन्यां तकारस्य इकारो भवति ॥^३

१. डा० हरिवंश कोखड, अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ १५ ।

२. महाराष्ट्री तथावन्ती शौरसेन्यर्धमागधी ।
बाह्लीकी मागधी चैव षडेता दाक्षिणात्यजाः ॥
माचडलाटवैदर्भा उपनागरनागरी ।
वावरावन्त्यपाञ्चाल टाक्वमालवकैक्याः ॥
गौडीदवैवापरन्त्यापागड्यकीन्तल सिङ्गला ।
कालिङ्ग प्राच्य काण्टि काञ्चद्राविडगौर्जराः ॥
आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्ममेदव्यवस्थिताः ।
सप्तबिशत्यपभ्रंशा वैडालादि प्रमेदतः ॥

(प्राकृत चन्द्रिका)

३. प्राकृत लक्षण ३, ४१-४४ ।

अर्थात् अपभ्रंश में नीचे के रेफ का लोप नहीं होता। पंशाची में 'र' और 'ण' को क्रमशः 'ल' और 'न' तथा मागधी में 'र' 'स' को 'ल' और 'श' हो जाते हैं। शौरसेनी में लकार का दकार हो जाता है।

महाराष्ट्री प्राकृत को डा० मनमोहन घोष महाराष्ट्र की भाषा न मानकर शौरसेनी के विकास का उत्तरकालीन रूप मानते हैं। डा० मुनीतिकुमार चटर्जी भी इसी आधार पर इसे शौरसेनी प्राकृत और शौरमेनी अपभ्रंश के मध्य की अवस्था मानते हैं।^१ स्वयं महाराष्ट्री या महाराष्ट्र शब्द भी अपेक्षाकृत नया है। वैसे तो भरत के नाट्यशास्त्र में महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग मिलता है किन्तु विद्वानों का अनुमान है कि यह स्थल ईसा की पाँचवीं छठी शताब्दी से पुराना नहीं है।^२ जैसा कि धार० जी० भण्डारकर ने लिखा है "प्रतीत होता है कि इससे पूर्व महाराष्ट्र प्रदेश के लिए दण्डकारण्य शब्द का प्रयोग होता था। आज भी महाराष्ट्र ब्राह्मण धार्मिक अनुष्ठानों के संकल्प में अपने देश का नाम दण्डकारण्य देश प्रयोग करते हैं।^३ सम्भवतः महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग और भी पुराना है क्योंकि दीपवम, महावंस और समन्तवासविका नामक बौद्ध इतिहास ग्रन्थों में धर्म-प्रचार के लिए अशोक द्वारा विभिन्न देशों में भेजे गए बौद्ध मिशुषों की नामावली सुरक्षित है जिसमें धम्मरविस्वत स्थविर के महारट्ट देश में भेजे जाने का उल्लेख है।^४ स्पष्ट है कि महारट्ट महाराष्ट्र का ही पालिरूप है। दीपवंस का रचनाकाल ३५२ ई० और ४५० ई० के बीच में माना जाता है।^५ हो सकता है महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग दीपवंस से भी पुराना हो।

महाराष्ट्र और महाराष्ट्री शब्दों का प्रयोग चाहे जब से होने लगा हो किन्तु जिस देश और भाषा के लिये इनका प्रयोग हुआ वे पहले से ही मौजूद अवश्य थे। महाराष्ट्री का भी महाराष्ट्र से सम्बन्ध अवश्य था और सम्भवतः वह वही पनपी थी। दण्डी ने स्पष्ट लिखा है कि 'महाराष्ट्र की भाषा महाराष्ट्री प्राकृतों में श्रेष्ठ मानी गई है। सेतुबन्ध आदि काव्यों की रचना इसी भाषा में हुई।'^६

परम्परा के अनुसार कविता के लिये महाराष्ट्री और गद्य के लिये शौरसेनी प्राकृत उपयुक्त समझी गई। नाटकों में उच्च वर्ग के पात्र गद्य में तो शौरसेनी का प्रयोग करते हैं किन्तु पद्य में महाराष्ट्री का। गाथासप्तशती, गौड वहो आदि काव्यों की रचना महाराष्ट्री में ही हुई। राजशेखर की कर्पूर मञ्जरी शौरसेनी में है। मागधी नाटकों में निम्न वर्ग के पात्रों और शकार आदि की भाषा मानी और

१. इण्डो अर्यन एण्ड हिन्दी पृष्ठ ८६।
२. डा० दिनेशचन्द्र सरकार, ७ ग्रामर आफ प्राकृत, पृष्ठ ४।
३. दी अर्ली हिस्ट्री आफ दी डेकन, पृष्ठ ८।
४. दीपवंस परिच्छेद ८, महावंस ५।२=०, १२।१-२।
५. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५४४।
६. महाराष्ट्रभाषा भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदुः।

समरः सुकितरत्नाना सेतुबन्धादि यन्मयम्।

काव्यादरा

व्यवहृत की गई है। मागधी में साहित्य नहीं मिलता। इसका प्रयोग नाटकों और व्याकरणों में ही सीमित है।¹

महाराष्ट्री—

दो स्वरों के बीच के अल्पप्राण स्पर्शवर्ण का लोप और महाप्राण का 'ह' हो जाना महाराष्ट्री की प्रमुख विशेषता है। यथा-गच्छति=गच्छइ, यथा=जहाँ, जलदः=जलघो, क्रोधः=कोहो।

मागधी—

मागधी की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

(१) संस्कृत के ऊष्म वर्णों के स्थान पर श् का प्रयोग देखा जाता है जैसे सप्त=शप्त।

(२) र के स्थान में 'ल्' का प्रयोग होता है जैसे राजा=लाजा।

(३) अन्य प्राकृतों में य् ज् का रूप धारण कर लेता है किन्तु मागधी में य् ही रहता है। जैसे संस्कृत का यथा महाराष्ट्री में जहा हो जाता है किन्तु मागधी में यथा। इसी प्रकार जानाति=याणदि, ग्रथ=ग्रय्य।

(४) थ के स्थान में छ का प्रयोग होता है जैसे पुष्य=पुञ्ज।

(५) अकारान्त प्रातिपदिक शब्दों की प्रथमा विभक्ति का रूप अन्य प्राकृतों में तो ओकारान्त होता है किन्तु मागधी में एकारान्त।

अर्धमागधी—

शौरसेनी और मागधी प्रदेशों के बीच की भाषा, जिसमें दोनों की ही विशेषताएँ पाई जाती हैं, अर्धमागधी कहलाती है। जैनों का धार्मिक साहित्य इसी भाषा में है। इसमें मागधी के समान अकारान्त सज्ञा का प्रथमा विभक्ति का रूप एकारान्त होता है।

कही-कही र के स्थान पर ल् भी देखा जाता है किन्तु मागधी के समान ही यह शकारबहुला नहीं है। इसमें स् का प्रयोग होता है।

शौरसेनी—

नाटकों में उच्च वर्ग के स्त्री पात्रों द्वारा शौरसेनी का प्रयोग किया जाता है। यह भारत के विस्तृत भूभाग में प्रयुक्त होती रही थी और अब इसी की तीसरी पीढ़ी की हिन्दी राष्ट्र भाषा का स्थान लिये हुए है। इसमें दो स्वरों के बीच के संस्कृत त और थ क्रमशः द् और ध् हो जाते हैं। दो स्वरों के बीच में स्थित द् और ध् में कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे गच्छति=गच्छदि, यथा=जथा, जलदः=जलदो, क्रोधः=कोधो आदि।

1. इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी, पृ० २६६।

प्राकृत भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव

प्राकृत भाषाओं का विश्लेषण करने पर हमें तीन प्रकार के शब्द मिलते हैं। तत्सम, तद्भव और देशज। तत्सम संस्कृत के ही अधिकृत शब्द हैं। तद्भव शब्दों का कारण ध्वनि विकार है। देशज शब्द विभिन्न समयों पर विभिन्न जातियों की बोली के मिश्रण का परिणाम कहे जा सकते हैं। इस प्रकार लक्ष्य करने पर प्राकृत भाषा के स्वरूप निर्माण में भारत की मूल जाति—से जिसे हम द्रविड कहते हैं—लेकर यवन, शक, पथियन, कुषाण, पल्लव, आमीर आदि जातियों तक का योग स्पष्ट दिख पड़ता है। अन्य जातियों का प्रभाव भाषा तक ही सीमित नहीं रहा करता, संस्कृति और साहित्य पर भी पड़ता है। भारतीय भाषा और संस्कृति भी इसके अपवाद नहीं है। महाराष्ट्री प्राकृत इसी लिए अधिक महत्वपूर्ण मित्र हुई क्योंकि उसके विकास में अन्य जातियों की सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्पराओं का संपर्क अपेक्षाकृत अधिक था जिसके कारण उसके साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ और उसके माध्यम से वे प्रवृत्तियाँ संस्कृत साहित्य के मुख्य उपवन में भी मविलास बिहार करने लगीं इस दिशा में आमीर जाति का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आमीरों का आगमन भारतवर्ष में शकों के आगमन के आम-पाम ही हुआ। पुराणों में आमीरों को सातवाहनों का उत्तराधिकारी बताया है। यद्यपि मध्य भारत में आमीर और भेल्सा के मध्य अहीरवार तक आमीरों की बस्तियों का पता चलता है तथापि उनका सम्बन्ध अपरान्त—भारत के पश्चिमी प्रदेश—से जोड़ा जाता है। महाभारत में अपरान्त प्रदेश के अतिरिक्त उन्हें विनशन (जहाँ सरस्वती नदी लुप्त होती है—आधुनिक कुरुक्षेत्र) क्षेत्र में बसे हुए बताया गया है। पतञ्जलि के महाभाष्य में आमीरों का शत्रुओं के साथ उल्लेख हुआ है। पुराणों में आमीरों का राज्य दक्षिणी भारत के उत्तर पश्चिम भाग में बताया गया है।^१ उत्तरी काठियावाड़ में स्थित गुन्द नामक स्थान में उपलब्ध रुद्रसिंह प्रथम के ईसवीय सन् १८१ के शिलालेख में आमीरों के एक सेनापति होने का उल्लेख मिलता है।^२ नासिक में ईश्वरसेन नामक आमीर राजा का उसके राजकाल के ६ वे वर्ष का शिलालेख मिला है। ईश्वरसेन का राज्यारोहण आर० जी० भण्डारकर ने सन् १६० के आस-पाम माना है। हो सकता है कि यही आमीर राजा सातवाहन वंश का उत्तराधिकारी रहा हो। कुछ भी हो, इन तथ्यों से हम बात का पता चलता है कि आमीरों का सम्पर्क मध्यदेश, पश्चिमी और दक्षिणी भारत के एक बड़े भूभाग से रहा।^३ आमीर जाति का जीवन-दर्शन रागात्मक था। ऐहिकता के प्रति वह जागरूक थी और पर्याप्त मात्रा में

१. एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ २२१।

२. वही।

३. पश्चिमी मध्य और दक्षिणी भारत में आमीरों की बहुत सी बस्तियाँ थीं। आमीरों का सबसे महत्वपूर्ण वर्ग उत्तरी कोकण तथा मराठा देश से सम्बद्ध प्रदेशों में बसा था।

एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १६० टिप्पणी।

जागरूक थी। नित्य प्रति के जीवन के प्रति उसे मोह था और परलोक की चिन्ता से उसकी चेतना निर्मुक्त थी। उसकी साधना का स्वरूप भी इतना ही सरस था जितना गृहस्थ जीवन के प्रति दृष्टिकोण। राधा उनकी उपास्य देवी थी और कृष्ण का गोप रूप उनका सर्वस्व था। आभीरों के ऐहिकतापूर्ण जीवन का प्रभाव, भारतीय धर्मों के जीवन पर भी पड़ा और लौकिक प्रेम के प्रति उनका भी कुतूहल जागरित हुआ। यह प्रवृत्ति जन-साधारण में सबसे पहले विकसित हुई होगी क्योंकि साधारण बुद्धि दार्शनिक विचारधारा अथवा आत्म-चिन्तन के बन्धनों को स्वीकार करने में तत्परता नहीं दिखाती, विशेषतया उस समय जबकि सजीव जीवन के चपल एवं क्रियाशील चित्र अपनी पूरी रंगिनी में हैं, हँस हँस कर उसकी ओर देख रहे हो। लोक जीवन में व्याप्त होकर यह नवीन चेतना साहित्य के क्षेत्र में भी स्फुरित हुई। मागधी भाषा बौद्धों और जैनो के गम्भीर आचार-प्रधान उपदेशों के गौरव-पूर्ण भार को वहन कर रही थी। उसके कवि प्रायः धार्मिक आचार्य ही थे। और उसका क्षेत्र भी इस पुनर्जागरण क्षेत्र से दूर था, संस्कृत ब्राह्मण धर्म की धार्मिक भाषा भी थी, उस ब्राह्मण धर्म की जिसके विरोध में बौद्ध और जैन धर्म नैतिक आचार की ध्वनि ऊँची करते हुए उठ खड़े हुए थे। उधर ब्राह्मण धर्म स्वयं भी स्मृतियों के बन्धन में बन्धा हुआ था। उन्मुक्त प्रेम जैसी कोई भी वस्तु समाज को सह्य नहीं थी। गान्धर्व विवाह का विधान अवश्य ही हमारे इस कथन के विरुद्ध स्थापना कर सकता है किन्तु वास्तविकता यह है कि शिष्ट कहे जाने वाले जन वर्ग की परम्पराएँ बड़ी ही कठोर थी। इसलिए संस्कृत का व्यक्ति भी इस ओर से उदासीन था। यही कारण है कि कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह का प्रायश्चित्त पश्चात्ताप और वियोग की अग्नि में जल कर करना पड़ा। अस्तु, आभीरों के प्रभाव से ऐहिकता की वृद्धि हुई जिसका प्रभाव पहले साधारण जनता पर पड़ा। धीरे-धीरे वह समाज की सामान्य वस्तु बन गयी तो क्रमशः लोक-कवियों और शिष्ट कवियों द्वारा वह अनायास ही स्वाभाविक रूप से साहित्य में भी समाविष्ट हो गई। धीरे-धीरे प्राकृत में शृङ्गारिक रचनाओं का बाहुल्य होने के कारण लोगो में यह धारणा बढ-मूल हो चली कि शृङ्गारिक काव्य की रचना के लिये यही भाषा उपयुक्त है। गुप्त काल में संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ और संस्कृत के मुक्तककारों, महाकाव्यकारों और नाटककारों की एक परम्परा पूरे वेग के साथ निकली और जैन तथा बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ-साथ सिमटती हुई प्राकृत भाषा धर्म निरपेक्ष साहित्य में केवल नाटकों, स्त्रीपात्रों, विदूषकों और अधम पात्रों के सम्भाषणों में ही सीमित रह गई। परवर्ती छुटपुट रचनाएँ अपवाद स्वरूप ही हैं।

प्राकृत की शृङ्गारोपयोगिता

इतना सब कुछ हो जाने पर भी साहित्यकारों के हृदय पर प्राकृत के महत्त्व का जो संस्कार रुढ़ हो चुका था वह बहुत दिनों तक रहा। यहाँ तक कि १२वीं

शती के प्रथम चरण में वर्तमान गोवर्धनाचार्य ने भी शृङ्गारिक रचना को प्राकृत समुचित रसा^१ वाणी कहा है ।^१ इसमें सन्देह नहीं प्राकृत में प्रेम विषयक कविताओं के उत्कृष्ट नमूने प्रचुरमात्रा में मिलते हैं रुद्रट, मम्मट बाणभट्ट, विश्वनाथ आदि साहित्य शास्त्रियों ने संस्कृत में ध्वनियों के विभिन्न उदाहरण खोजने का ध्यास स्वीकार न कर प्रायः प्राकृत से ही उदाहरणों का चयन किया है । यह आश्चर्य की बात है कि जिस भाषा में कोमल पदों का सर्वथा अभाव हो वह कविता-बधूरी के शृङ्गारिक भावों के समान कोमल प्रेम भावना को व्यक्त करने के लिये संस्कृत भाषा से अधिक उपयुक्त समझी जाये । प्राकृत भाषा में टवर्ग और मयुक्ताक्षरों का बाहुल्य है जो सभी आचार्यों के अनुसार शृंगार में आश्रय विशिष्ट गुण माधुर्य के विरुद्ध पड़ता है ।^२ गायत्री सप्तशती से ही एक उदाहरण लीजिए और संस्कृत छाया से उसकी तुलना कीजिए—

पण्णह ण तीरइ चित्तं परिबड्ढन्तगरुणं पिण्णमस्स ।^३

मरणविणोएण विणा विरमाएउं विरहदुक्ख ॥^४

अन्यथा न शक्यत एव परिवर्धमानगुरुकं प्रियतमस्य ।

मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥

प्राकृत में तवर्ग और टवर्ग और असंयुक्त अक्षर को बलात् संयुक्त अक्षर हो जाता है जैसे—दाहः=डाहो, प्रथमः=पढमो, वर्तते=वट्टति, व्रजति=वज्जति, एकः=एक्को आदि ।

शृङ्गार में वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्गों से घटित पदों का अधिक प्रयोग वर्जित है किन्तु प्राकृत में वर्गों के प्रथम अक्षर का भी द्वितीय हो जाता है जैसे विस्तरः=वित्तरो, अक्षरः=अन्नखरो आदि । सारांश यह है कि संस्कृत के कोमल शब्द भी प्राकृत में आकर हठात् कठोर बन जाते हैं । फिर भी प्राकृत का जाहू इस युग तक भी कुछ लोगों पर चढ़ा रहा । पं० कृष्ण बिहारी मिश्र लिखते हैं—

संस्कृत में मीलित वर्णों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है प्राकृत में यह बात बचाने की चेष्टा की गई है । प्राकृत संस्कृत की अपेक्षा कर्ण मधुर है । यद्यपि पाण्डित्य-प्रभाव से संस्कृत में प्राकृत की अपेक्षा कविता विशेष हुई है, पर प्राकृत की कोमलता उस समय भी स्वीकृत थी, जिस समय संस्कृत में कविता होती थी ।^५

प्राकृत और संस्कृत की पदावलि की तुलना करने पर जिसका नमूना ऊपर

१. भाषा सप्तशती १।४२ ।

२. मूढिन् वगोन्तगाः स्पर्शाः अटवर्गा रणौ लघू (मम्मट) ।

‘उपययो द्वयोः सरेफौ टठढटैः सह’ (विश्वनाथ) ।

टवर्ग वर्जितानां वर्णानां प्रथमवृत्तयैः शक्तिरन्तःस्थैश्च घटता ॥ पण्डितराज

३. गायत्री ४।४६ ।

४. देव और विहारी, पञ्चम संस्करण, पृष्ठ २० ।

दिया जा चुका है, वास्तविकता कुछ और ही प्रतीत होती है किन्तु गताभुगतिका लोकः को क्या किया जाये ?

तो फिर प्राकृत के शृङ्गारोपयोगी होने का रहस्य क्या है ? जैसा कि संकेत किया जा चुका है विशेष परिस्थितियों वश प्राकृत में शृङ्गारिक रचनाओं की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। प्रारम्भ में जनता के अनेक कवियों ने इस में प्रेम विषयक कविताएँ की। धीरे-धीरे प्रेम-सम्बन्धी एक विशाल जन-साहित्य एकत्र हो गया। कालान्तर में जब प्राकृत को साहित्यिक भाषा का पद मिला तो यह मूल प्रवृत्ति भी उसके साथ लगी ही रही और धीरे-धीरे यह परम्परा बन गई कि शृङ्गारिक रचनाएँ इसी भाषा में अधिक सौन्दर्य के साथ की जा सकती है। इस प्रसंग में हमें यह न भूलना चाहिये कि हाल के समय तक प्रायः गम्भीर विषय विवेचन की प्रचुरता के कारण संस्कृत में एक विशेष प्रकार का आभिजात्य-गौरव प्रतिष्ठित हो गया था। शृङ्गारिक कविता की अधिकता उसमें नहीं थी तथा जो भी रचनाएँ थीं वे शृङ्गार का उन्मुक्त चित्रण न कर मर्यादित अभिव्यञ्जन प्रस्तुत करती थीं जबकि प्राकृत में उन्मुक्त शृङ्गारमय अनन्त रचनाएँ होती आ रही थीं। इसीलिए हाल ने प्राकृत काव्य को अमृत बताया और उसे न सुनने या न पढ़ने वाले को काम की तत्त्व चिन्ता करना लज्जास्पद बताया। बाद में जब कभी किसी भी व्यक्ति ने प्राकृत के इस महत्व का उल्लेख किया है तब उसकी दृष्टि में स्वयं हाल का संग्रह ही आदर्श रूप में विद्यमान रहा है। हाल के बाद की कोई प्राकृत रचना ऐसी प्रसिद्ध नहीं हुई। संस्कृत और प्राकृत के साहित्य को मिलाकर देखने पर भी अमरक, जयदेव और गोवर्धन ही शृङ्गारिक क्षेत्र पर छाये हुए मिलते हैं। हाँ यह निर्विवाद है कि इन कवियों ने भी बहुत कुछ गाथा सप्तशती से भी लिया। गाथा सप्तशती जनकाव्य तो नहीं है¹ किन्तु जन काव्य से उसका सीधा सम्पर्क अवश्य रहा है प्रत्येक वर्ग के दैनिक जीवन का सीधी साधी भाषा में चित्रण तथा प्राकृतिक सुषमा में ग्राम वधुओं की प्रणय-केलियों का वर्णन इसका प्रमाण है। जन काव्य में शृङ्गार वर्णन भी स्पष्ट रूप में होना स्वाभाविक है। यदि पाश्चात्य ढंग की स्वच्छन्दता से अलग देखें तो भारतीय समाज में उच्च वर्ग की अपेक्षा सामान्य जनता में मनोरंजन का रूप अधिक प्राकृत और निरंकुश रहा है। जिसका अनुभव आजकल भी होलिकोत्सव के अवसर पर किया जा सकता है। इसीलिए भी प्राकृत में शृङ्गारिक कविताओं का आधिक्य और उत्कर्ष सिद्ध होता है जिसके कारण वह ऐसी रचनाओं के लिये उपयुक्त मानी जाने लगी।² गाथा सप्तशती के टीकाकार

1. But it must not be supposed that. Sattisai is folk Poetry. (Keith HSL pp. 224.)

2. The Maharastr: Unquestionably owes its vogue to the out-burst of lyric in that dialect, which has left its traces in the anthology of Hala and latter texts, and which about the period of Kalidas (4th. to 5th century according to Mr. Keith) invaded the epic (*Keith Sanskrit. Drama p. 166.*) See also Veber's Introduction to his edition of Praversen's *Setubandha*

गङ्गाधर की अभिन्न पाउमकव्य की व्याख्या से भी इस कथन की पुष्टि होती है। उनके अनुसार शृङ्गाररसनिर्भरत्वाद्भूतमिवामृतं प्राकृतकाव्यम् भवति।

अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और मुहावरों की सजीवता किसी भी भाषा के साहित्य में सौन्दर्य की वृद्धि करती है और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोकोक्तियाँ और मुहावरे उस भाषा में अधिक सरल, प्रचलित और फिट बैठते हैं जो लोक भाषा के अधिक से अधिक निकट हो क्योंकि ये लोक भाषा की ही निधि के रत्न तो होते हैं। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत काव्य में यह विशेषता भी विशेष है। उदाहरण लीजिये—

आम असइ ह्य ओसर पइअए ण तुह मइल्लिअं गोसं ।

कि उण जणस्स जाअअव चन्दिअं ता ण कामेभो ॥ ५।१७

आम् असत्यो वयमपसर पतिव्रते ते न मलिनितं गोत्रम् ।

न च कामयामहे किल जनस्य जायेव चन्दिअं तु पुनः ॥

अन्धकरबबरभाजनमिव मम लुण्ठन्ति मातरो दयितम् ।

ईर्ष्यन्ति मद्यमेव च लाङ्गूलेभ्यः फणा जाता ॥ ३।४० ॥

शृणुं दग्धं चणका न भृष्टा स मुवातिकान्तः ।

श्वश्रूरपि गृहे कुपिता भूतानामिव बाबितो वंशः ॥ ६।५७ ॥

सारांश यह है कि भारतीय साहित्य में ऐहिक जीवन के प्रति रागात्मक प्रवृत्ति, जिसके कारण प्रेम गीतियों का एक अविच्छिन्न परम्परा का विकास द्रुत-गति से सम्भव हो सका, बाह्य जातियों के सम्पर्क का परिणाम मानी जाती है। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'स्वदेश तथा विदेश के पण्डितों का अनुमान है कि जब आभीर जाति भारत में आकर बस गई और आर्यों की शिक्षा संस्कृति का आभीरों के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ तो भारतीयों के हृदय में परलोक की चिन्ता से मुक्त नित्य प्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा।^१ दिनकर का कहना है कि भारत में साहित्य और संस्कृति के सब से सुन्दर फूल तब खिले हैं जब बाहर की कोई धारा आकर हमारी धारा से टकराई है। जब आर्य और अनाय संस्कृतियाँ आपस में मिली—हमने वैदिक साहित्य और दो बड़े महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) की रचना की; जब आभीर आए, हमारी कविता में इहलौकिकता की वृद्धि हुई और शृङ्गार ने एक नया रंग पकड़ा जिसका प्रमाण हाल की गाथा सप्तशती है।^२ श्री शिवाधारसिंह का यह मत विचारणीय है कि भारतवर्ष में आर्यों

१. रीतिकान्य की भूमिका, पृष्ठ १८४।

२. अवन्तिका, अङ्क १, सन् १९५४, पृष्ठ १५२।

ने अपने पशुबल से एक समय द्रविड़ जाति की संस्कृति के बाह्य रूपों को सहस-नहस कर डाला जिसके भग्नावशेष आज भी मोहनजोदड़ो में मिलते हैं। यही नहीं, द्रविड़ जाति को ठोक पीटकर आर्थिक और सामाजिक चक्र में भी अड़ दिया गया और यह काम कई तीन हजार वर्ष की तथ कथित समन्वय प्रवृत्ति का परिणाम था। सामाजिक कारा की निबिडतमसाच्छन्न युगपोषित हीनता का प्रथम अधुनाप्राप्य कला-विलास हाल की गाहासत्तसई के रूप में प्रस्फुटित हुआ। कहना न होगा कि गाहासत्तसई अपने ढंग का प्रथम प्रयास नहीं है। उसके पीछे विशाल साहित्य रहा होगा जो आज अप्राप्त है।¹

यह सत्य है कि गाहासत्तसई अपने ढंग का प्रथम प्रयास नहीं हो सकता। एक सुदीर्घ परम्परा उसके पीछे रही होगी स्वयं हाल ने गाहासत्तसई को एक कोटि गाथाओं में से चुनी हुई ७०० गाथाओं का सकलन कहा है। अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी इस कथन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस प्रकार की प्रचुर रचनाएँ उस समय तक हो चुकी थीं—किन्तु गाहासत्तसई को द्रविड़ जाति की सामाजिक कारा में निबिडतमसाच्छन्न युगपोषित हीनता का कला-विलास कहने में हमें आपत्ति है। सत्तसई में आरम्भ से अन्त तक व्याप्त उत्साहमय वातावरण स्वयं उक्त कथन के विरुद्ध एक प्रबल प्रमाण है। किसी दलित जाति की बेबसी का करुण स्वर उसमें कहीं नहीं सुन पड़ता। समाज के सभी वर्गों का चित्रण गाथा सत्तसई में हुआ है। हाँ, सामान्य वर्ग का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। अपने सामाजिक ढाँचे में आर्यों ने मूल निवासियों को इसी वर्ग में खपा लिया था। परम्परा के अनुसार होलिकोत्सव—जिसमें शृङ्गार का समावेश आर्यों के अन्य पर्वों की तुलना में अधिक है और जो साहित्य में मदनोत्सव के नाम से प्रसिद्ध है—शूद्रों का त्योहार माना जाता है। होली के साथ हिरण्यकशिपु अमुर का सम्बन्ध भी जुड़ा है। अमुर या दस्यु नाम आर्यों ने भारत की मूल जातियों को ही दिया था। इस प्रकार आर्यों की समाज व्यवस्था में फिट होने पर, सम्भव है, इन जातियों का भी इस शृङ्गारिक प्रवृत्ति में कुछ योग रहा हो क्योंकि आर्य सम्यता के बहुत से तत्त्व द्रविड़ों की देन हैं। किन्तु यदि शृङ्गार की उन्मुक्त प्रवृत्ति आर्यों की वैदिक काल में ही द्रविड़ों से बिरासत में मिल गयी थी तो बौद्ध साहित्य से भी पहले उसका प्रभाव लक्षित होना चाहिये। रामायण में प्रेम का जो स्वरूप है वह आर्यों की गम्भीर प्रकृति के अनुरूप ही है। हाँ, महाभारत के आदि पर्व में यौन सम्बन्ध की जिस उच्छृङ्खलता का उल्लेख मिलता है वह सामाजिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था का सूचक है और अतिरंजित भी। उसके प्रक्षिप्त होने की ही अधिक सम्भावना है। ऐसी स्थिति में गाहासत्तसई को पूर्णरूपेण द्रविड़ जाति के सम्पर्क का परिणाम कैसे कहा जा सकता है? इतना ही नहीं आभीरी का प्रभाव ही संस्कृत साहित्य में विशेषकर गीति गान्य में शृङ्गारिक प्रवृत्ति का एक मात्र कारण नहीं है। शृङ्गारिक गीतियों

के अस्तित्व का पता पतञ्जलि के महाभाष्य में आये हुए कतिपय उद्धरणों से भी चलता है जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। अतः तथ्य यह है कि शृङ्गारिक रचनाओं की जो प्रवृत्ति बीज रूप में पतञ्जलि से पूर्व विद्यमान थी वह आभीरो के सम्पर्क से उचित वातावरण पाकर पनप उठी। आभीर जाति के प्रभाव का अर्थ हम यही लेते हैं और दिनकर के 'शृङ्गार ने एक नया रंग पकड़ा' शब्द भी यही संकेत करते हैं।

प्राकृत भाषाओं के रुढ़िग्रस्त हो जाने पर उनका विकास रुक गया किन्तु लोक भाषाएँ बराबर विकसित होती रही। इन मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की उत्तर कालीन अवस्था की अपभ्रंश का नाम दिया गया है। इस काल में परिवर्तन की गति और भी तीव्र हो गई। व्यञ्जन-समीकरण चरम काष्ठा पर पहुँच गया। ह्रस्व स्वर के स्थान में दीर्घ और दीर्घ के स्थान में ह्रस्व स्वर के प्रयोग की प्रवृत्ति और दन्त्य वर्णों के स्थान पर मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग भी अत्यन्त अधिक हो गया। इस काल में षष्ठी के स्थ (प्राकृत स्स) तथा सप्तमी के स्मिन् (प्राकृत स्सि) के स्थान पर ह (तस्सि=तहि) का प्रयोग होने लगा। सुबन्त तथा तिङन्त पदों के प्रत्ययांश के ण, न और म अनुस्वार में परिवर्तित होने लगे (स०देवेन =प्राकृत, देवेण =अपभ्रंश देवें) अकारान्त शब्दों की प्रथमा विभक्ति के एक वचन में अकारान्त के स्थान में उकारान्त और एकारान्त के स्थान में इकारान्त रूपों का व्यवहार होने लगा। संज्ञा रूपों और धातु रूपों की जटिलता और भी कम हो गयी। प्रथमा और द्वितीया के तथा पचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों के रूप एक से हो गए। भूतकाल सूचक विभिन्न लकारों के स्थान में निष्ठांत प्रयोगों का आरम्भ भी इसी युग में हुआ जो अपने पूर्ण विकसित रूप में आधुनिक भाषाओं में दिखाई पड़ता है।

दण्डी ने अपभ्रंश को 'आभीरादिगिरः' कहा है। 'आभीरादिगिरः' का यह अर्थ कदापि नहीं कि यह आभीरों की अपने साथ लाई हुई भाषा है। वास्तव में आभीर या उनके साथी जहाँ-जहाँ गए, उन्होंने तत्तत्स्थानीय प्राकृतों को अपनाया और उसमें निजस्वभावानुसार स्वर या उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन कर दिये। आभीर स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित एवं विकृत या विकसित भाषा को ही अपभ्रंश का नाम दिया गया। कालान्तर में अपभ्रंश में भी साहित्य की सृष्टि हुई और वह भी साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन होकर स्थिर हो गई।

उपर्युक्त मध्यकालीन प्राकृतों के साहित्य का यथावसर जो कुछ प्रभाव संस्कृत गीति-काव्य पर पड़ा उसी की चर्चा इस अध्याय में की जायेगी।

पाली साहित्य का प्रभाव

बौद्ध धर्म का मूल दुःखवाद है। जीवन के विविध दुःखों को देखकर ही तो

सिद्धार्थ बुद्ध बनने के लिये गृहत्याग कर गये थे। बौद्ध दर्शन में भयं और काम— ऐहिक श्रम्युदय—की उपेक्षा की गयी है। उसका लक्ष्य है केवल धर्म और निर्वाण की साधना जिसमें निवृत्ति को ही प्रमुख साधन माना गया है। निवृत्तिपरक होने के कारण बौद्ध धर्म में नैतिक आचारों पर अधिक जोर दिया गया है और उन्हीं का एकान्त निरूपण होने के कारण संगीत नाट्य आदि सामाजिक आचार से विच्छिन्न समझे गये। ऐसी स्थिति में भाव-प्रधान मनोरंजनात्मक साहित्य को पसन्द करने का अवसर नहीं मिल सकता था, यदि थोड़ी बहुत गुञ्जाइश इस प्रकार के साहित्य के लिए हो सकती थी तो वह केवल धर्म के ही क्षेत्र में। श्री विमलचरण लॉने ठीक ही कहा है कि बौद्ध कवियों के भावोद्बोध के दो ही कारण थे—बुद्ध के प्रति पूर्ण आस्था और सांसारिक पदार्थों की नद्वरता।¹ यही कारण है कि समूचा बौद्ध साहित्य एक धार्मिक साहित्य है जिसके अन्तर्गत भाव-प्रधान रचनाएँ भाव (बुद्धविषयक रति) और शान्त रस में ही पर्यवसित हुई हैं।

यद्यपि रागात्मक साहित्य को बौद्ध धर्म से प्रोत्साहन नहीं मिला तथापि सर्वाधिक रागात्मक काव्यविधा—गीति—के प्रमुख माने जाने वाले तत्त्व (वैयक्तिक चेतना) का काव्यजगत् में अवतरण सर्व प्रथम बौद्ध साहित्य में ही दिखाई पड़ा। यो तो आत्म-चेतना का उन्मेष उपनिषद्-युग में ही हो चुका था किन्तु बौद्धों की आत्मचेतना दूसरे ही प्रकार की थी। उपनिषदों का आत्म-दर्शन जिज्ञासा-प्रेरित था और बौद्धों का दुःखवाद-प्रेरित। जिज्ञासा का पर्यवसान ज्ञान और विज्ञान में होता है और भाव का कविता में। बौद्ध भिक्षुओं में प्रायः सभी ऐसे थे जो प्रियविनाश आदि वैयक्तिक दुःख के थपेड़ों से बहकर ही सद्धर्म की शरण प्राये थे। बुद्ध-शासन का अवलम्ब पाकर उन्हें संतोष और सुख का सांस आया। ससार की नद्वरता का उपदेश पाकर उनके मन में निर्वेद जगा। बुद्ध की शान्त सरस्वती ने उनकी विषमताओं और कटुताओं को धो डाला। विख्यात थेर और थेरी गाथाएँ ऐसे ही वीतराग बौद्ध भिक्षु भिक्षुणियों के भावोद्गार की अभिव्यञ्जक रचनाएँ हैं। उदाहरणार्थ स्थविर तालपुट की अपने मन के प्रति संबोध उक्तियाँ देखिए :—

रोपेत्वा दक्खानि यथा फलेसो भूले तं छेत्तु तमेव इच्छति ।

तथुपमं चित्तं इदं करोसि यं म अनिच्छन्हि चले नियुञ्जसि ॥²

हे चित्त ! इस अनित्य संसार में मुझे नियुक्त (आसक्त) करके तुम ऐसा ही कार्य कर रहे हो जैसे कोई फलों की इच्छा से वृक्ष लगाकर उसकी जड़ को ही काटना चाहे।

इस भिक्षु की गाथाएँ समर्थ रामदास के 'मनाचे श्लोक, तुलसी की विनय पत्रिका तथा भक्तप्रवर सूरदास के विनय के पदों की तुलना में रखी जा

1. अश्वघोष, पृष्ठ ३२ ।

2. थेरगाथा ११२१ ।

सकती हैं—

सम्बन्ध ते चित्त बन्धो कतं मया बहसु जातिसु न मे सि कोपितो ।
 अग्रभक्तसम्भवो कतञ्जुलाय बुधले चिरं संसरितं तथा कते ॥
 तवेव हेतू असुरा भवामसे त्वं मूलका नेरयिका भवामसे ।
 अथो तिरश्छानयतापि एकदा पेतत्तनं वापि तवेव बाहसा ॥
 त्वञ्जोव नो चित्त करेसि ब्राह्मणो त्वं क्षत्रिया राजारिसी करेसि ।
 वेस्सा च सुहृ च भवाम एकदा देवत्तनं वापि तवेव बाहसा ॥
 धी धी परं किं मम चित्त काहसि न ते अलं चित्त वसानुवर्तको ।

हे चित्त ! मैंने सर्वत्र तुम्हारी बात मानी । अनेक जन्मों में कभी मुझे कुपित न किया । तू स्वयं मेरे अन्दर से उत्पन्न है । इसलिये हे चित्त ! मैंने कृतज्ञतावश तेरे कारण दुःख में संसरण किया । हे चित्त ! तेरे ही कारण असुर बनते हैं, नरक योनियाँ भी तेरे ही कारण बनी हैं । पशु, पक्षी और पितरों की योनियों में भी तू ही डालता है । तू ही ब्राह्मण बनाता है और तू ही क्षत्रिय राजर्षि, तू ही वैश्य और शूद्र बनाता है और तेरे ही कारण देवत्व भी प्राप्त होता है । धिक्कार है चित्त ! तू इससे आगे और क्या करना चाहता है ? अब तू मुझे अपना वशवर्ती न बना सकेगा ।

एक सच्चे साधु की भाँति मनोराज्य में विचरण करते हुए तालपुट कहते हैं—

कदा नु हं बुधवचनेन वृत्तो ततो निमित्तं विमनो न हेस्सं ।
 अथो पसद्दोपि ततो निमित्तं तुट्ठो न हेस्सं तविदं कदा मे ।^१

‘कब मैं अपने लिए प्रयुक्त दुर्वचनों को सुनकर उनके कारण दुःखी और उदास न होऊँगा और कब प्रशंसा पाने पर भी प्रसन्न न होऊँगा । क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?

तुलसी ने भी ऐसी ही कामना की है—

कबहुक हौ यहि रहनि रहौगों ।
 पदव बखन अतिदुसह खवन सुनि तेहि पावक न बहौगों ।^२

तालपुट ग्रन्थ गाथा में कहते हैं—

कदा नु ह पद्मवतकन्दरासु एकाकियो भवुतियो बिहस्सं ।
तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति ॥^३

क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे कि मैं अकेला पर्वतकन्दराओं में विचरण करूँगा । कब आयेंगे मेरे वे दिन ?’

1. वेरगाथा, ११२३२८, ११३४ ।

2. " ११०० ।

3. विनयपत्रिका ।

4. वेरगाथा, १०६१ ।

शिवताण्डव स्तोत्र में भी एक स्थान पर ऐसा ही भाव प्रकट किया गया है—

कदा मिलिष्यमिहं रीनिकुञ्जकोटरे वसन्

.....
शिवेतिमन्त्रमुच्चरन् सदा सुखी भवाम्यहम् ॥

गंगा के किनारे कुञ्ज में रहकर शिव शिव जपता हुआ मैं कब सुख प्राप्त करूँगा। भिक्षुओं का जीवन प्रकृति के विभिन्न रूपों में घुल-मिल गया है। पर्वत-कन्दरा, सरित्-कुल वन-प्रस्थ, छाया अथवा बेछाया कुटिया में ध्यान लगाते हुए उन्होंने प्रकृति के परिवर्तित होते हुए विविध स्वरूपों का साक्षात् अनुभव किया था। जिनसे प्रभूत भावोद्गार उनकी रचनाओं में भरे पड़े हैं। अपनी कुटिया में संतोष के साथ बैठा हुआ शान्त भिक्षुक वर्षा को देखकर कहता है—

छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथा सुखं ।

चित्तं मे सुसमाहितं विमुक्तं ध्यातापी विहरामि वस्स देवाति ॥¹

बरसो देव ! सुखपूर्वक बरसो, मेरी कुटिया छाया हुई है जो वातरहित और सुखकारी है। मेरा चित्त समाधि में दृढ़तापूर्वक लीन है। वह (कामासक्ति से) विमुक्त है। निर्वाण का उद्योग चल रहा है। देव ! बरसो, सुख से बरसो।

एक अन्य भिक्षुक ने इससे भी अधिक सुन्दर शब्दों में गाया है—

वस्सति देवो यथा सुगीतं ।

छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता ॥

तस्सं विहरामि वृषसन्तो ।

अथ चे पत्थयसि पवस्व देव ॥

वस्सति देवो ।

वीतरागो वीतदोसो वीतमोहो ॥

अथ चे पत्थयसि पवस्व देव ।

वस्सति देवो ॥²

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये प्रगीत मुक्तक पालि साहित्य में अपने ढंग के हैं।³ वस्सति देवो यथा सुगीतं तथा 'अथ चे पत्थयसि पवस्व देव' पदावली की बार बार आवृत्ति टेक का कार्य कर रही है। पदों में लयात्मक सामञ्जस्य है। इसके साथ-साथ वैयक्तिक अनुभूति का हृदयस्पर्शी चित्रण और मनुष्य शिल्प-विधान इन रचनाओं को उच्चकोटि की गीति का रूप प्रदान करते हैं। इसलिए बिण्टरनिट्ज ने इन गायकों को गीतिरत्न कहा है।⁴

1. वेरगाथा, १ ।

2. वही, गायार्थ, ३२५, ३२६ ।

3. The refrain and the repetition of typical phrases are the distinguishing features of these collections (*The Age of Imperial Unity*, p. 403).

4. *Indian Literature*, Vol. 2, p. 106.

प्रकृति के भाव-भरे सन्निष्ट वर्णन धेरगाथाओं में भरे पड़े हैं। वर्षा के सौन्दर्य ने भिक्षुओं के मन पर मोहिनी डाल दी है। वर्षा का सुन्दर समय है, मनोहर नीली घीवा वाले कलगीधारी मोर बोल रहे हैं, उनकी बाणी कैसी सुन्दर है। विस्तृत पृथ्वी चारों ओर हरियाली से भरी है, सृष्टि जन आकाश में जल भरे मेघ छाये हुए है। समाधि के लिये यह सुन्दर समय है। अतः भिक्षु को प्रसन्नता है। उसकी साधना सुचारु रूप से चल रही है। प्रकृति में उल्लास और उत्साह है तो भिक्षु का मन भी प्रसन्न है सोल्लास और सोत्साह। अत्यन्त पवित्र, कुशल, दुर्दर्श, उत्तम, अच्युत (निर्वाण) पद के लिये वह साधना करता है।¹

वर्षा ऋतु की समाधि-योग्यता का वर्णन सत्पक स्थविर ने इस प्रकार किया है—

यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता ।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति म ॥
यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्म भयेन तज्जिता ।
परियेसतिलेन मलेन दस्सिनी तदा नदी अजकरणी रमेति म ॥

कन्तु तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो तहि ।
सोभेन्ति आपगाकूल, महालेनस्म पच्छतो ॥

तामतमदसं घमुप्पहीना भेका मन्ववती पनादयगि ।
नाज्जगिरिनदीहि विप्पवाससमयो खेमा अजकरणी सिवा सुरम्माति ॥²

अर्थात् जब स्वच्छ श्वेत पंखों वाले बगुले काले मेघों से भयभीत होकर अपनी खोहों को खोजते हुए उड़ते हैं, उस समय बाढ़ के कारण शब्द करती हुई यह नदी मुझे सुहावनी लगती है।

जब स्वच्छ श्वेत पंखों वाले बगुले काले मेघों से भयभीत हो अपनी खोहें खोजते हैं जो अन्धकार से आवृत होती है, उस समय बाढ़ से हहराती हुई नदी मुझे अच्छी लगती है।

इस नदी के दोनों किनारों पर जामुन के वृक्ष हैं, वहाँ मेरा मन कैसे न लगेगा। महामार्ग के पीछे, नदी के किनारे पर अनेक निर्भरिणियाँ शोभित हैं। जगे हुए मंडक मृदुवाद कर रहे हैं। आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है। बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी कितनी सुरम्य शिव और क्षेमकर है। मैं यहीं ध्यान करूँगा।

यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला बिहंगपथे समन्तो ।
भिक्षु च पठभारगतो व भायति ततो रति परमतरं न विन्दति ॥³

1. धेरगाथा, २११-१२।

2. " ३०७-३१०।

3. धेरगाथा, ५२२।

जब आकाश में मेघों की दुन्दुभि बजती है और पक्षियों के मार्ग में चारकुल बादल घुमड़ते हैं, उस समय भिक्षु पहाड़ पर जाकर ध्यान करता है। इससे बड़ा आनन्द कुछ हो ही नहीं सकता।

विश्व साहित्य में प्रकृति के प्रति इससे उच्च कोटि की निष्ठा मिल नहीं सकती।^१ रायस डेविड के अनुसार घेरगाथाओं की ऐसी पक्तियों को हम बेघड़क शैली और कीट्स की तुलना में रख सकते हैं।^२ महर्षि बाल्मीकि के प्रतिरिक्त अन्य किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन भारतीय कवि ने प्रकृति का इतना सजीव संश्लिष्ट चित्रण नहीं किया। जितना शम और विराग घेरगाथाओं के प्रकृति चित्रण में पाया जाता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। विश्व की साहित्यिक कृतियों में प्रकृति प्रायः रति के उद्घोषन रूप में ही चित्रित हुई है किन्तु इन बौद्ध साधकों ने उसे शान्त रस की पृष्ठ भूमि के रूप में प्रस्तुत किया है।

यद्यपि बौद्ध धर्म में सांसारिक राग का सर्वथा निवर्धन ही किया गया है तो भी प्रसंगवश ऐहिक एषणाओं की तृप्ति से अनुप्राणित उत्सास भरे गीत भी खुद्द-निकाय में मिलते हैं। उदाहरणार्थ धनियमूत्त में पुत्र-कलत्र और धन-धान्य से समृद्ध धनिय गोप के भावोद्गार वर्षाकालीन मेघ को देखकर एक गीत में फूट पड़े हैं जिसमें टेक के साथ लोक गीतों की धुन भी है, गीत का भाव यह है—

भात मेरा पक चुका है, दूध दुह लिया गया। मही (गण्डक) नदी के किनारे स्वजनो के साथ निवास करता हूँ। कुटी छा ली है, प्राग सुलगा ली है। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।

मेरी ग्वालिन आज्ञाकारिणी और अचंचला है, चिरकाल की प्रियसाङ्गिनी है। उसके विषय में कोई पाप नहीं मुनता। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।

मैं आप अपनी ही मजदूरी करता हूँ। मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग है। उसके विषय में कोई पाप नहीं मुनता हूँ। अब, हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।

मेरे बेल और बछड़े तरुण हैं गाभिन गायें हैं और तरुण गौएँ भी हैं। सब के बीच में वृषभराज भी है। अब हे देव ! चाहो तो खूब बरसो।^३

थेरी गाथाएँ

थेरियों की गाथाएँ घेर-गाथाओं से भी अधिक भावपूर्ण एवं काव्यगुणाङ्कुरित हैं। इनमें बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन को सगीत और काव्य की भाषा में मुखरित किया है। नैतिक सत्य, सान्द्र अनुभूति और अपराजित वैयक्तिक ध्वनि मुख्य विशेषताएँ हैं। भिक्षुणियों का एक-एक शब्द निर्वाण की परम शान्ति से उच्छ्वसित है। इनकी भाषिकता दर्शनीय है। उदाहरणार्थ भिक्षुणी अम्बपाली ने अपने वार्धक्य-

१. देखिये, अरनसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५६।

२. Introduction to the Psalms of the Sisters.

३. मित्र धर्मेन्द्रकृत सुत्तनिपात का अनुवाद, पृष्ठ ७-१०

शोषित शरीर का प्रत्यवेक्षण इन शब्दों में किया है —

कालका भ्रमरवज्रसदिसा वेलितग्या भ्रम मुद्रया ग्रह ।

ते जराय सालबाकसदिसा सञ्चवादिबचनं भ्रनञ्जया ॥^१

मेरे केश जो भौरे के समान काले और सघन थे, अब बुढ़ापे से सन के समान श्वेत हो गये हैं । सत्यवादी (बुद्ध) का वचन असत्य नहीं हो सकता ।

काननस्मिं वनसण्डचारिणी कोकिला व मधुरं निकूजितं ।

तं जराय ललितं तर्हि तर्हि सञ्चवादिबचनं भ्रनञ्जया ॥^२

वनखंड में विचरण करने वाली कोकिला की कूक के समान मधुर मेरा स्वर आज वार्धक्य के कारण स्तलित हो गया है । सत्यावादी का वचन असत्य नहीं हो सकता ।

धेरियों की प्रवृत्ति अपने पूर्व जीवन के वर्णन की ओर अपेक्षाकृत अधिक है । दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व के अपने सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के विषय में उन्होंने बहुत कुछ कहा है । मुक्ता, गुप्ता और शुभा धेरियों ने अपने गृहस्थ जीवन के भ्रंशों की ओर संकेत किया है । किता गोतमी और वाशिष्ठी की उक्तियों में सन्तान-वियोग की मर्मच्छेदी गाथा निहित है और पटचारा की गाथाओं में उसके कष्ट जीवन की समूची कहानी व्यक्त हुई है । धेरियों की बहुत-सी गाथाएँ ग्रहं से प्रारम्भ होती हैं^३ इनके विविध-ताप-संतप्त प्रज्ञापूर्वक जीवन से सर्वथा भिन्न भिक्षु जीवन की शान्त और पवित्र परिस्थितियों ने नवीन उद्गारों को जन्म दिया । इसके प्रतिरिक्त बहुत सी भिक्षुणियाँ बौद्ध धर्म में दीक्षित होने से पहले सांसारिक विलासों में आकण्ठ मग्न रह चुकी थीं । सद्धर्म की दीक्षा के पश्चात् भी पहले जीवन के उन अनुभवों का संस्कार उनके मन से एकदम ही नहीं हट गया था । अतः उनके मन में सांसारिक आनन्द तथा निर्वाण-शान्ति को लेकर अन्तर्द्वन्द्व का प्रादुर्भाव स्वाभाविक ही था । ऐसी स्थिति में इनकी रचनाओं में जीवन के वास्तविक चित्र तथा आत्मानुभूति का सहज स्वरूप न मिलता तो आश्चर्य की बात होती । विण्टरनिट्ज का कथन है कि धेर और धेरी गाथाएँ धार्मिक काव्य हैं जो अपनी रमणीयता तथा सशक्तता के कारण ऋग्वेद से लेकर कालिदास और अमरक तक के साहित्य में भारतीय गीति काव्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण का स्थान पाने की अधिकारी हैं ।^४ हम उनके उक्त कथन को इस परिबर्धन के साथ कि 'क्योंकि इनमें अनुभूति की गहनता के साथ वैयक्तिकता का भी अभूतपूर्व संयोग हुआ है' अपनी मान्यता के रूप में स्वीकार करते हैं ।

१. धेरगाथा, २५२ ।

२. " २६१ ।

३. देखिये गाथा, ११, २५-२६, ३५-३६, ६१, ७२-७३, ८६-१०१ आदि ।

४. Indian Literature, Vol. 2 p. 100.

बौद्ध धर्म का निवृत्ति मार्ग विरक्ति प्रवृत्त शान्त रस की उत्तियों के सर्वथा अनुकूल था। यद्यपि इस प्रकार की उत्तियाँ बुद्ध पूर्व साहित्य में भी खोजी जा सकती हैं तथापि बौद्धों की सर्वत्र वृष्णं वृष्णं धारणा से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन भी मिला और प्रसार भी। बौद्ध साहित्य में ऐसी उत्तियाँ प्रचुर मात्रा में पायी जाती हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शास्त्र-रस-पूर्ण उत्तियों के विकास में, जिनमें वैयक्तिकता का पर्याप्त पुट है, बौद्ध साहित्य ने बड़ा भारी योग दिया है। प्रागे चलकर यह प्रवृत्ति भत्तृहरि प्रादि कवियों की रचनाओं में एक स्वतन्त्र धारा के रूप में विकसित हुई।

ऋग्वेद के सूक्तों में जिस स्तोत्र-परम्परा का मूल निहित है उस पर बौद्धों के अनीश्वरवाद का कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि प्रारम्भ में बौद्ध धर्म में अन्य देवी देवताओं की उपासना का विधान न होते हुए भी बुद्ध को ही उपास्य मान लिया गया था, वे अपने जीवन-काल में ही पूजे जाने लगे थे और उनके शिष्य उन्हें भद्भुत पुरुष मानकर उनकी स्तुति करने लगे थे।^१ एक स्थविर कहता है—

चंडो यथा विगतबलाहके नभे विरोचति व वीतमलो व भानमा ।

एवं पि अंगिरस त्वं महामुनि अतिरोचसि यससा सद्बलोकं ॥

जिस प्रकार मेघ-रहित आकाश में चन्द्रमा शोभित होता है उसी प्रकार हे महामुने ! आप भी अपने यश से समस्त संसार में प्रकाशमान हैं।

बुद्ध की कृपा से ही अरिय धम्म—आर्य धर्म—बौद्ध धर्म—को सम्यक्तया जानकर मोह-मुक्त होने की कामना की गई है। महा प्रजावती गीतमी के एक गीत का भाव इस प्रकार है—

हे बुद्ध ! हे वीर ! हे सर्वोत्तम प्राणी ! तुम्हें नमस्कार है जिन्होंने मुझे तथा अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबार। मेरे सब दुःख दूर हो गये हैं, उनके मूल कारण—वासना—का उच्छेद हो गया। आज मैंने दुःखनिरोधगामी आर्य अष्टाङ्ग मार्ग में विचरण किया। माता, पुत्र, पिता, भाई, स्वामिनी, मैं पूर्ण जन्मों में अनेक बार बनती रही। यथार्थज्ञान न होने से संसार में मेरा निरन्तर आवागमन रहा। अब मैंने इस जन्म में उस (बुद्ध) भगवान् का दर्शन किया। मुझे अनुभव हुआ कि यह मेरा अन्तिम शरीर है। मेरा आवागमन क्षीण हो गया है।^२

इन पक्तियों में बुद्ध के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति प्रकट की गयी है और उन्हें स्पष्ट रूप से भगवान् कहा है। प्रागे चलकर तो बौद्ध धर्म में भी उपासना का परिनिष्ठित रूप अपनी प्रबल जटिलताओं के साथ विकसित हुआ और वे ब्राह्मण धर्म में भी भगवान् के अवतार स्वीकृत हुए। उनकी प्रशंसा में बहुत से स्तोत्र लिखे गये। संस्कृत साहित्य में स्वतन्त्र रूप के रचित अनेकानेक बौद्ध स्तोत्रों के उपलब्ध ग्रन्थ

१. देखिए घेरगाथा, १२, ५२।

२. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६५।

धार्मिक गीति-शैली के पर्याप्त उच्च कोटि के निदर्शन^१ हैं।

इससे सिद्ध है कि स्तोत्र शैली के प्रवर्तन में भी बौद्ध भिक्खुओं और कवियों का पर्याप्त योग रहा।

थेरी-गाथाएँ और थेर-गाथाएँ किसी एक ही मस्तिष्क की उपज नहीं हैं। जर्मन विद्वान् के० ई० न्यूनम को इन गाथाओं में एक ही मनुष्य के मन की छाप लगी हुई दिखायी दो है।^२ इसका कारण है इन रचनाओं में बौद्ध धर्म की प्रभाव-समष्टि जो उच्च कोटि के बौद्ध साधकों की रचनाओं में होनी भी चाहिए। अतः धार० ओ० केरे का यह कथन सर्वथा समीचीन है कि इनमें कुछ पद्यों के संट मिलाकर कविता प्रवश्य बनाने हैं किन्तु समस्त कृति एक ही व्यक्ति की नहीं है। थेर थेरी गाथाएँ क्रमशः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएँ हैं, जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं।^३ संभव है वीछे से संकलन और सम्पादन करने में भिक्षुओं की भी कुछ गाथाएँ थेरी गाथाओं में मिल गयी हों किन्तु समूची कृति एक ही व्यक्ति की नहीं हैं।^४ श्री भरतमिह उपाध्याय का मत है कि जिन ७३ भिक्षुणियों के उद्गार थेरी-गाथा में सम्मिलित हैं। वे सभी बुद्धकालीन हैं। बल्कि यो कहना चाहिए कि, वे सभी भगवान् बुद्ध की निष्पाएँ हैं।^५ अतएव थेरी गाथाओं में पाचवीं छठी शताब्दी ईसा पूर्व के भारतीय नारी-समाज के जीवन की एक झलक भी मिल जाती है। इन गाथाओं की प्रात्मा लोक-गीतों की भावुकता से व्याप्त है। जिस प्रकार थेरियाँ प्रव्रज्या ग्रहण करने से पहले लोक गीतों की स्वतन्त्र और सहज ध्वनि में अपने अनुभव गाया करती थी उसी प्रकार भिक्षुणी बनने के पश्चात् भी उन्होंने अपने दुःख ददे गाये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि:—

(१) यद्यपि बौद्ध मत में लोक-रञ्जनात्मक भाव-प्रधान काव्य-रचना को प्रोत्साहन नहीं मिला तथापि बौद्धों के निवृत्ति मार्ग और दुःखवाद ने मानव को बहुत कुछ अस्तमत्त्व बना दिया। यही कारण है कि थेरों और थेरियों की गाथाओं में आत्मानुभूति की समुचित अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने अपने जीवन के मार्मिक अनुभवों को सरल, स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी शैली में व्यक्त किया है। यह आनतिष्ठता इस युग की सबसे बड़ी देन है।

(२) इसमें सन्देह नहीं कि ये गाथाएँ लोक गीतों से प्रभावित हैं। समाज के विभिन्न वर्गों में उत्पन्न हुई थेरियों ने, जिनमें से बहुतों का किताबी ज्ञान नहीं के बराबर रहा होगा, लोक-प्रचलित शैली में अपनी भावनाओं को मुखरित किया

1. A Hist. of sanskrit. Lit. p. 64.

2. देखिए इन गाथाओं का न्यूनमकृत अनुवाद, पूर्वकथन पृष्ठ ७।

3. पालिसाहित्य का इतिहास, पृष्ठ २७१।

4. बिन्दर निद्वज, इण्डियन लिटरेचर वाल्यूम २, पृष्ठ १०१।

5. पालि साहित्य का इतिहास।

है। अनेक गाथाओं में एक निश्चित पदावली का टेक के सदृश प्रयोग इस कथन की पुष्टि करता है।

(३) निर्वेद-प्रधान रचनाओं का प्राचुर्य पालि साहित्य में मिलता है जो बौद्धों के 'सर्वं दुःखं दुःखम्' और 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप है। इसके बाद शात रस पर अनेकानेक पद्यों के समग्र लिखने की परिपाटी चली। भर्तृहरि के वैराग्य शतक में यही प्रवृत्ति उभर कर सामने आयी है। शायद इसलिये कुछ लोगों को भर्तृहरि के बौद्ध होने की भ्रान्ति भी हो गयी है।

(४) स्वतंत्र स्तोत्र रचना के प्रवर्तन में भी बौद्ध भिक्षुओं ने कवियों का नेतृत्व किया है। स्तोत्र-रचना की इस प्रवृत्ति की झलक धेर और धेरी गाथाओं में ही मिल जाती है।

२—प्राकृत साहित्य का प्रभाव

प्राकृत भाषा और साहित्य के महत्त्व की चर्चा इस अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों में की जा चुकी है। प्राकृत साहित्य में गाथासप्तशती का एक विशिष्ट स्थान है। वह केवल प्राकृत का ही सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य नहीं है अपितु संस्कृत के प्रमुख गीतिकारों को भी उससे प्रेरणा मिली और विषय, भाव, भाषा तथा शैली, सभी की दृष्टि से संस्कृत के गीतिकार इस रचना से प्रभूत मात्रा में प्रभावित हुए हैं।

गाथा सप्तशती और अमरक

रस-सृष्टि में प्रबंधशतायमान पद्यों के प्रणेता अमरक और शृङ्गाररस कृतियों में प्रभुन प्रतिस्पर्धी गोबर्धनाचार्य की रचनाएँ गाथा सप्तशती से सर्वाधिक प्रभावित हैं। इतना ही नहीं ब्रजभाषा के रीति कालीन प्रमुख प्रतिनिधि कवि बिहारी की सतसई का तो यह आदर्श ही रही है :—

अलिप्रपमुत्तम विणिमोलिप्रच्छ वे सुहृप्र मउभ ओप्रासं ।

गण्डपरिउम्बणापुलइप्रङ्ग ण पुणो चिराइस्तं ॥

नीद का बहाना करके पाँखें मूँदे हुए किन्तु कपोल-चुम्बन से रोमाञ्चित प्रिय मुझे भी शय्या पर स्थान दो। मैं फिर देर नहीं करूँगी।

इस गाथा के भाव को अमरक ने दो दलों में अलग अलग ढँग से प्रकट किया है —

१—सूग्यं वासगहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनं ।

निप्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निबन्धं पत्युर्मुखम् ॥

विश्ववधं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं ।

लज्जानम्रमुखी प्रियेण हस्ता बालाचिरं शुम्भिता ॥ अमरक ७७ ।

घर में अन्य किसी को न देखा तो धीरे से पर्लंग से उठकर नींद के बहाने चुप पड़े प्रियतम का मुख काफी देर तक देखने के बाद उसे निर्दोष खूब खिया किन्तु

उसका कपोल रोमाञ्चित देखा तो लज्जा से धाँखें नीची कर लीं। इस स्थिति में विद्यमान प्रियतमा को प्रियने हँसते हुए देर तक चूमा।

२- सुप्तोऽयं सखि सुप्यतामिति गताः सख्यस्ततोऽनन्तरम् ।

प्रेमावेशितया मया सरसया न्यस्तं मुखं तन्मुखे ॥

ज्ञातेऽलोकनिमीलने नयनयोर्धूर्तस्य रोमाञ्चतो ।

लज्जासीम्भ्रम तेन साप्यपहृता तत्कालयोग्यैः कर्मः ॥

‘यह सो गया है, तू भी सो जा’ यह कहकर सखियाँ भी चली गईं। तब मैंने प्रेमावेश में अपना मुख उसके मुख पर रख दिया। उस छलिया के रोमाञ्च से मैं समझी कि भूँठ-भूँठ धाँखें बन्द कर ली थीं। मुझे लज्जा आ गयी किन्तु उसने उस समय के अनुकूल व्यापारों से उसे भी हुर लिया।

पण्यकुविघ्राणं बोद्धुं वि अलिघ्नपसुत्ताणं माणहल्लानं ।

णिचल्लजिण्डणीसासविण्णकण्णाणं को मल्लो ॥ १।२

अभ्योग्यकटाक्षान्तरसंप्रेषितमिलितवृक्षप्रसरो ।

कृतकलहौ किल मन्ये द्वावपि सहसा मम हसितौ ॥ गाथा ७।६६

दोनों ही मोन धारण और निद्रा का बहाना किये साँस रोक कर और चौकन्ने होकर चुप पड़े थे कि देखें कौन बहादुर है। मानावस्था में एक दूसरे को कनखियों से देखते हुए उनकी दृष्टि आपस में टकरा गयी तो बस दोनों हँस पड़े।

इन दोनों की गाथाओं की छाया में अमरुक का यह श्लोक पनपा है—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया बीतोत्तरं ताम्यतो-

रम्योग्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोऽगौर वम् ।

वम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनाग्निभीभवच्छक्षुषो-

भङ्गो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः ॥ अमरुक १३ ।

‘एक शय्या पर मान की अवस्था में एक दूसरे की ओर से मुँह फेरकर पड़े हुए पति-पत्नी हृदय में एक दूसरे को मनाने की चाह होते हुए भी अपने-अपने गौरव की रक्षा पर भड़े थे कि तनिक दृष्टि घूमने ही धाँखें मिल गईं। मान का कलियुग समाप्त हुआ और दोनों हँसकर बले लग गये।

गाथा की नायिका सखी द्वारा मानविधि की शिक्षा प्राप्त करके भी मान रख सकने में अपनी कठिनाई का वर्णन इन शब्दों में करती है—

अच्छीहं ता यद्वस्सं बोद्धुं वि तस्मिं विद्वे ।

अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलङ्गं कर्हं णु ढक्किस्सं ॥ गाथा० ४।१४

उसके देखने पर दोनों हाथों से अपनी धाँखें ठक लूँगी किन्तु कदम्ब-पुष्पों के समान पुलकित प्रंगों को कैसे छिपाऊँगी ?

अमरक की नायिका भी कुछ ऐसी ही दशा का अनुभव करती है—

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरपि सौत्कण्ठमुदीकते ।

कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तन् रोमाञ्चमासम्भते ॥

रुद्रायामपि बाधि सस्मितनिदं दग्धाननं जायते ।

दृष्टे निर्बहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन् जने ॥ अमरक २४

भृकुटि चढ़ाने पर भी दृष्टि उत्कण्ठा के साथ देखने लगती है । चित्त कड़ा करने पर भी शरीर रोमाञ्चित हो जाता है । बाणी को रोकती हैं पर कम्बलत बुल पर मुस्कान घा जाती है । भला उसे देखने पर मान का निर्वाह कैसे हो सकेगा ?

पति-पत्नी का यह समापण कितना स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है —

पतिप्र पिए का कुबिधा सुघण तुम परघणम्मि को कोबो ।

को हू बरो नाथ तुम कीस अयुष्माण मे ससी ॥ गाथा ४।८४

‘प्रिये । प्रसन्न हो जाओ ! कुपित कौन है ?’ सुन्दर । ‘तुम’ । ‘भला पराये आदमी पर क्या कोप ? पराया कौन है ?’ ‘स्वामिन् आप ।’ कैसे ? यह मेरे दुष्कर्म का फल है ।’

इसी को अमरक ने इस प्रकार पल्लवित किया है—

बाले, नाथ, विमुञ्च मामिनि रथ, रोधान्मया कि कृतम् ।

लेबोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ॥

तत्किं रोदिषि गदगदेष वचसा, कस्याग्रतो रक्षते ।

नन्वेतम्मम, का तवास्मि, वयिता, नास्मीत्यतो रक्षते ॥ अमरक ५३

बाले ? ‘नाथ ।’ ‘रोष न करो ।’ रोष करके मैंने क्या किया ? ‘मुझे दुःख दिया ।’ ‘सब अपराध मेरे ही हैं आप कभी अपराध नहीं करते ।’ तो फिर क्यों रोती हो ? ‘किसके आगे ?’ ‘मेरे’ । ‘तुम्हारी क्या लगती है ?’ ‘प्रिया’ । ‘यही तो नहीं है । इसी लिये रोती हूँ ’

प्रिय के परातस्त होने के कारण प्रति दिन कृशतर होती हुई नायिका से जब अपराधी प्रिय ही कृश होने का कारण पूछे तो वह बेचारी हृदय को कैसे खोले ? हृदय तो हृदय से ही शांति पा सकता है किन्तु नायक का हृदय तो कहीं और है । अतः ऐसे प्रसंग पर गाथाकार की नायिका को यही कहते बन पड़ता है कि ग्रीष्म में दुर्बल हो जाने का मेरा स्वभाव ही है —

अ तनुघ्राग्रइ सा तुह कएण कि जेण पुच्छसि हसन्तो ।

अह गिह्हे अह पछई एव्व भणिऊण ओरुण्णा ॥ ७।११

और अमरक की नायिका भी यही उत्तर देती है—

अङ्गुलामतितानर्धं कथमिदं कम्पय कस्मात्कुतो ।

मुग्धे वाक्कुपोलमानमिति प्राणेश्वरे पुच्छति ॥

तन्मया सखनिव स्वभावजमिति व्याहृत्य पदमागतर—

व्यापी बाष्पभरस्तया चलितया निव्वस्यमुक्तोऽप्यत ॥ अमरक ४५

अगो में अत्यन्त कृशता और कम्प क्यों ? तुम्हारे कपोल पीले कैसे पड़ गये हैं ? प्रिय के यह पृष्ठने पर तन्वी नायिका ने यह सब स्वभावजन्य है । कहकर वहाँ से एक और हटते हुए दीर्घ स्वास छोड़कर पलकी में उलभे हुए आसू बहा दिये ।

आभ्रमजरी के विकसित हो जाने पर दक्षिण पवन का स्पर्श पाकर भी जो प्रवासी लौटा नहीं वह नि सदेह नि स्नेह है—

दिट्ठा च भ्रा अग्घाड्भ्रा सुरा दक्खिणाणिलो सहिघ्रो ।

कञ्जाइ ध्विअ गरुआइं मामि को वल्लहो कस्त ॥ गाथा १।६७

‘आमो को (बोरते) देखा । मुरा की गन्ध भी ली । दक्षिण पवन को भी सह लिया ।’ मामि । कार्य त्री महत्त्वपूर्ण है । कौन किसको ध्याता है ? इस भाव को अमरक ने अपने ‘अग्घे छन्द मे तनिक और विकसित कर दिया है—

मलयमरुतां वाता वाता विकासित-मल्लिका ।

परिमलभरो भग्नो श्रीमस्त्वमुत्सहसे यवि ॥

धन ! घटयितु त नि स्नेह एव निवतने ।

प्रभवति गवा कि नडिछम्न स एव धनञ्जय ॥ अमरक ३२

‘मलयानिल भी बह चुका मुग्धभरा शीम भी हार गया । हे मेघ ! यदि तुम उसे लौटा लाओ तो हमारे लिये तो तुम्ही धनञ्जय हो ।

प्रिया के मुख-दर्शन की बात तो दूर ही रही उसके आम की सीमा का दशन भी सुखदायी होता है —

अकच्छत दाध मणहर पिआइ मुहसण अइमहग ।

तगमछेलसीमा वि भक्ति दिट्ठा सुहावेइ ॥ गाथा ० २। ६८

यही बात अमरक ने भी प्रकारान्तर से कही है—

आस्तां दूरेण तावत्सरमसदयितालिंगनामद्वलाभ-

स्तवगेहोपात्तरम्याभ्रमणमापि परां निर्बति तनोति ॥ अमरक १००

प्रिया के गाल आलिंगन का आनन्द तो दूर रहा, उसकी गली में घूमने से भी अत्यन्त आनन्द होता है ।

प्रिय के दर्शन मात्र से शिथिलमान नायिका को सखी इस प्रकार समझाती हुई उपालम्भ देती है—

तस्त कहाकण्टइए सहाअणसमोसरिअकोवे ।

समुहालोअणकम्पिर उवऊडा कि बबिजिहिंसि ॥ गाथा ७।५६

उसके शब्द सुनते ही तू पुलकित हो गयी । तैरा कोप चला गया और समुष्म

आने पर आश्रय से कम्प हो गया। भला आलिंगन करने से तेरी क्या दशा होगी ?

अमरक की नायिका ही स्वयं इन कठिनाइयों को प्रस्तुत करती हुई प्रकारान्तर से मानधारण को असम्भव ही बताती है—

भुत्वा नामापि यस्य स्फुटघनपुलकं जायतेऽङ्गं समगतात्
वृष्ट्वा यस्याननेभ्यं भवति वपुरिव चन्द्रकास्तानुकारि ॥
तस्मिन्नागत्य कण्ठग्रहणिकटपदस्थायिनि प्राणनाथे ।
भग्ना मानस्य चिन्ता भवति मयि पुनर्वज्रमध्या कवाचित् ॥

५६

जिसका नाम सुनते ही भग-पुलकित हो जाते हैं, जिसके मुक्त चद्र के दर्शन से शरीर रूपी चन्द्रकान्त द्रवित हो उठता है, वही प्रियतम यदि इतने समीप आ जाये कि गलबाँही संभव हो तो क्या मुक्त पक्षर में मान करने की इच्छा भी उत्पन्न हो सकती है ?

उत्तम स्त्री की मान-धारणविधि गाथा में इस प्रकार बतायी है—

हसिहर्हि उवाचममा अच्युवचारेर्हि हसिअम्वाइ ।

असूहिं मण्डणाइ एसो मग्गो सुमहिलाणं ॥ गाथा ६।१३

थोड़ा महिलाओं का डग यह है कि वे हँसी द्वारा उलाहना, अत्यन्त शिष्टाचार द्वारा रोष और आशुओं द्वारा कलह को प्रकट करती हैं। अमरक ने अपनी नायिका को इसी सिद्धांत के अनुसार प्रशिक्षित कर लिया है।

कृतो ह्युरादेव स्मितमधुरमभ्युदगमविधिः ।

शिरस्याज्ञा न्यस्ता प्रतिवचनमस्यानतिमति ।

न दृष्टेः शीघ्रित्यं मिलन इति चेतो बहति मे ॥

निगूढान्त कोपा कठिनहृदये ! संबृतिरियम् ॥ अमरक १४॥

दूर से ही मधुर मुस्कान के साथ स्वागत किया, सिर झुकाकर आज्ञा स्वीकार की किन्तु आँखें मिलने में दृष्टि में शीघ्रित्य नहीं आया। इससे मेरा हृदय सतप्त है। कठोर-हृदये ! यह ऐसी गम्भीरता है जिसमें कोप छिपा हुआ है।

पिंजरे में पली हुई सारिका गायिका की नायिका के रतिकालीन विस्मय-वचन सबके आगे प्रकट कर देती है—

पञ्जरसारि असा ण जेति कि एत्थ रइहराहित्तो ।

वीसम्भजम्विआइ एसा लोआण पअडेइ ॥ गाथा, ६।५२॥

अमरक का यह तोता भी तो यही करता है हाँ उसकी नायिका अपनी चतुराई से स्थिति संभाल लेती है—

वपत्योनिशि जल्पतो बृंहणुकेनाकर्णित यद्वचः ।

तरप्रातर्मुहसनिधौ निगदता भुत्वं च तारं वचः ॥

कर्णालम्बितपद्मरागज्ञाकलं विम्रस्य चञ्चवाः पुरो ।

वीजार्त्तं प्रकरोति वाडिमकलध्याकेन वाग्ध्वजम् ॥ अमरक १६ ॥

रात में पति-पत्नी की बातें पालतू तोते ने सुन लीं। प्रातःकाल बधू ने उसे गुरुजन के सामने ही उन बातों को दुहराते हुए सुना तो लज्जा से मर गयी। कान में पहने हुए पथरागमणि के टुकड़े को निकाल कर जल्दी से उसके सामने रखा और उससे अनार के दाने का धोखा देकर उसका मुंह बन्द किया।

प्राकृत गाथा की नायिका मान धारण करने में अपने ही अंगों से सहयोग नहीं पाती, उसे उन पर विश्वास ही नहीं—

अच्छीहं ता यइस्सं बोहिं बि हस्सेहिं बि तम्हिं बिट्ठे ।

अङ्गकलम्बकुसुमं च पुलङ्गमं कहें नु ङ्कितस्स ॥ गाथा, ४।१४

उसे देखकर आँखों को तो मैं हाथों से ढक लूंगी किन्तु कदम्ब-पुष्प जैसे अपने पुलकित अंग को कैसे छिपा सकूँगी” ।

अमरक की नायिका भी इसी असमजस में है—

तद्वन्नाभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयो—

स्तस्यालापकुसूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया ॥

पाणिभ्यां च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः ।

सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कञ्चुके सन्धयः ॥ ११ ॥

उसके सामने भाते ही मुख तो नीचा कर लिया, दृष्टि चरणों में डाल दी, उसके वचन सुनने के लिए उत्सुक कान अवरुद्ध किये और कपोलों का रोमांच तथा स्वेद हाथों से ढक लिया। सखियों ! फिर भी क्या कहें ? अंगिया की सन्धियाँ शतधा टूट जाती हैं ।

नायिका को अपना जीवन प्यारा है, वह प्रिय के बिना रह नहीं सकता इस लिये अपराधी प्रियतम के समक्ष भी मान त्यागना ही पड़ता है—

बालभ्र तुमाहिं अहिं च निभ्रमं विभ्र वस्सहं महं जीभं ।

तं तइ विना ण होइ ति तेण कुविभं पसाएमि ॥ गाथा, ३।१५

‘नासमभ्र ! तुमसे अधिक प्यारा मेरा अपना जीवन है। तुम्हारे बिना वह नहीं रहेगा, इसी से तुम्हें मना रही हूँ ।’ अमरक की नायिका भी जीने की आशा से ही मनुहार-विरत प्रिय को जाने से रोकती है —

चिन्तामोहविनिश्चलेन मनसा मोनेन पादानतः ।

प्रस्थास्यानपराङ्मुखः प्रियतमो गन्तुं प्रवृत्तोऽभूना ॥

सखीडेरलसैरनिरन्तरलुठहाप्याकुलैरीक्ष्यैः ।

दवाप्तोत्कम्पिकुचं निरीक्ष्य सुचिरं औषातया वारितः ॥ अमरक ८७

गाथाकार की नायिका विरहावस्था में सर्वत्र नायक की उपस्थिति का अनुभव करती हुई कहती है कि ‘मैं जिसर भी देखती हूँ तुम्हीं चित्रित दिखाई पड़ते हो। लगता है जैसे समूचा बिड़मडल तुम्हारी ही तस्वीरों से शोभित है ।’

अं मे पुलपमि विसं पुरयो जिह्विभ्य ऽथ दीप्तसे ततो ।

तुहपदिमापदिवादि बहुद ऽथ सखलविकासकं ॥ गाथा, ६।३०

इसी प्रकार भ्रमरक का बिरही नायक सकल जगत् में नायिका को ही देखता हुआ भद्भुत भ्रैतवाद की अनुभूति करता है—

प्रासादे सा बिशि बिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्क्ते सा पथि पथि च सा तद्विद्योनासुरस्य ।

हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा ।

सा सा सा सा जगति सकसे कोऽयमेवैतच्चावः ॥ भ्रमरक १०२

प्रासाद में, प्रत्येक दिशा में, आगे, पीछे पलंग पर, हर एक भाग में मुझे बही दिखाई देती है। ओह ! मेरे चित्त का कोई अन्य स्वभाव ही नहीं रह गया है (भ्रमरक) मुझे जगत् में अन्य कोई प्रकृति व्याप्त नहीं दिखाई देती) सारे जगत् में वही है। यह कैसा भद्भुत भ्रैतवाद है।

गाथा सप्तशती और गोवर्धनाचार्य

भार्यासप्तशती तो सर्वथा गाहासप्तसई के अनुकरण पर ही लिखा हुआ कोश है जिसके प्रकार-प्रकार तक में अनुकरण है। केवल व्रज्याविधान में अन्तर है। गाहासप्तसई शतकों में विभाजित है किन्तु भार्यासप्तशती वर्णानुक्रम पर आधृत व्रज्याओं में। मुक्तकों की संख्या की दृष्टि से दोनों में समता है। शैली दोनों की एक सी ही है। प्राकृत का 'गाहा' और संस्कृत का 'भार्या' छन्द बहुत कुछ मिलते-जुलते से है। वर्ण्य विषय दोनों का एक है। एक दो नहीं, पचासों भार्याओं में गाथाओं की भावच्छाया को ही चित्रित किया गया है। गोवर्धनाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है कि प्राकृत भाषा का ही एकाधिकार समझी जाने वाली शृङ्गारिक वाणी को बलात् संस्कृत में खींच लाया हूँ। "वाणी प्राकृत समुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता" कह कर उन्होंने व्यजना द्वारा प्राकृत को ही शृंगार समुचित मानते हुए उसका महत्त्व स्वीकार किया है। उन्होंने स्वयं अपनी भार्याओं की बड़ी प्रशंसा की है—

मसृणपवरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः ।

मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः ॥ भार्या० ५१०

एका ध्वनिद्वितीया त्रिभुवनसारा स्फुटोक्तिचातुर्या ।

परुषेषुषट्पदसहिता भूषा श्रवणस्य सप्तशती ॥ भार्या०, ६६६ ॥

इस प्रकार प्रशंसित इन भार्याओं में भी गाथाओं के भाव की छाया बराबर ग्रहण की गयी है। उदाहरण लीजिए—

नायिका को ज्वरग्रस्त सुनकर बहुत दिनों बाद आये हुए प्रिय को ज्वर-प्रशंसा के छल से उपालम्भ देती हुई गाथा की नायिका जो कुछ कहती है लगभग वही भार्या की नायिका भी।

सुहृच्छत्रं वर्णं हुत्सहं पि दूराहि अम्ह आश्वन्त ।

उपधारस्य जर जीर्णं पि जेत्त च कम्पावराहोति ॥ गाथा १।५०

उत्तर द्वितीयधवाद्यस्तिष्ठ सुखं दत्तमखिलं ते ।

मधुभलोकाकवणपावाण ! सखे न मोक्षयसि माम् ॥ आर्या २४०

भाव-ग्रहण के ऐसे उदाहरण बहुत बड़ी सख्या में मिलते हैं जिसमें से स्वानाभाव के कारण केवल कुछ ही प्रदर्शित कर सन्तोष करना पड़ेगा—

तं नमह जस्स वण्णे लच्छिमुह कोर्यहम्मि संकन्तं ।

दीसइ मणपरिहीणं ससिबिम्बं सुरबिम्ब व्य ॥ गाथा०, २।५१

२. विष्णु एवं लक्ष्मी की विपरीत रति का वर्णन करते हुए गाथाकार ने लिखा है—

उस (विष्णु) को नमस्कार करो जिसके वक्ष पर कौस्तुभमणि में सञ्ज्ञात लक्ष्मी का मुख ऐसा लगता है जैसे सूर्यमण्डल में स्थित लाञ्छनहीन चन्द्रमण्डल । गोवर्धनदास ने इसी भाव को यो प्रकट किया है ।

प्रतिबिम्बतप्रियातनु सकोस्तुभं जयति मधुभिदो वक्षः ।

पुरुषायितमभ्यस्यति लक्ष्मीयद्वीक्ष्य मुकुरमिव ॥ आर्या ॥ २४०

३. भगवान् विष्णु का कौस्तुभयुत वक्ष की, जिसमें लक्ष्मी का शरीर प्रतिबिम्बित है और जिसे मानो मुकुर के समान देखकर लक्ष्मी विपरीत रति का आभास करती है, जय हो ।

अञ्जं गघ्रोत्ति अञ्जं गघ्रोत्ति अञ्जं गघ्रोत्ति गणरीए ।

पढम अिअर विअरह्णे कुड्ढो रेहाहिं चित्तिलिओ ॥ गाथा ३।८

‘वह आज गया’ ‘आज गया’ इस प्रकार गिनती हुई (वियोगिनी) ने पहले आधे दिन में ही रेखाओं से दीवार भर दी ।

स्वद्गमनविचसगणनावलक्षरेखाभिरङ्किता सुभग ।

गण्डस्थलीव तस्याः पाण्डुरिता भवनस्तिरपि ॥ आर्या ६२०

४. सुभग ! तुम्हारे जाने के दिन की गणना से संवन्धित रेखाओं से अंकित भवन की भीत भी उसके कपोल-स्थल के समान पाण्डुर हो गई है ।

अण्णासघाईं देन्ती तह सुरए हरिसविअसिअकबोला ।

गोसे वि ओणअमुही अह सेत्ति पिआं ण सहहिमो ॥ गाथा० १।२३

रात्रि में सुरन के समय सैकड़ों आजाएँ देने वाली प्रिया को प्रातःकाल भवनतमुखी देखकर विश्वास नहीं होता कि यह वही है ।

विनयविनता विनेऽती निशि मदनकलाबिलासलसद्वंगी ।

निर्वणज्जलितोवधिरिव निपुणप्रत्यभिज्ञेया ॥ आर्या ५१३

रात में काम-कला के विलास से सोभित शरीर वाली किन्तु प्रातःकाल विनयावत प्रिया को कठिनाई से पहचाना जाता है ।

५. गाथा में ग्राम-नायक के प्रापुध-वर्णों से कर्कश वक्ष पर उसकी पत्नी के

सोने में कठिनाई किन्तु उसके द्वारा रक्षित ग्राम के सुखपूर्वक सोने का उल्लेख है—

पहरवणमगविसमे जाया किच्छेण सहृदं से निहं ।

गामणिठत्तस्स उरे पत्तो उण सा सुहं सुवई ॥ गायः १।३१

भार्या में वीरवधू और श्री दोनों के ही सुखपूर्वक शयन का वर्णन है—

विचिषायुषव्रणार्बुदविषमे वलःस्थले प्रियतमस्य ।

औरपि वीरवधूरपि गर्वोत्पुलका सुखं स्वपिति ॥ ५१६ ॥

६. किसी अनासक्त नायिका ने आसक्त नायक के प्रति दुःख प्रेम रखने पर भी उपेक्षिता नायिका का उपालम्भ गायकाकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

सा तुच्छं वल्लहा तं ति मज्झं वेसो ति तीअ तुच्छं अहं ।

बालघ्नं कुडं भणामो पेम्मं किर बहु विअरं ति ॥ गायः २।२६

‘वह तुम्हारी प्रिया है, तुम मेरे प्रिय हो । वह तुम से द्वेष करती है और तुम मुझ से । सच तो यह है कि प्रेम में बहुत से विकार होते हैं ।

द्वेषोऽस्ति हन्त यस्याः पांसुल सा वल्लभा तवाभ्यधिकम् ।

इति विज्ञायापि मया वक्ष्यप्रेम्णे न चेधियं जातु ॥ ६।१०

नहेव ! जो तुम से द्वेष करती है, वही तुम्हें अधिक प्रिय है । यह जानकर भी मैंने जल गये प्रेम से ईर्ष्या नहीं की ।

भार्या में इसी भाव को प्रकारान्तर से व्यक्त किया है—

या वक्षिणात्वमस्यामवक्षिणो वक्षिणस्त्वभितरस्याम् ।

जलधिरिव मध्यसंस्थो न वेलयोः सद्वशमाचरति ॥ ४८० ॥

जो अनुकूल है तुम उसके प्रति अनुकूल नहीं हो वल्कि अन्य नायिका के प्रति अनुकूल हो । तुम्हारा आचरण वेलान्नो के मध्य में स्थित समुद्र के समान उचित नहीं है ।

७. विपरीत रति में श्रान्त नायिका के प्रति गायिका के नायक का उपहास देखिए—

सिंहिपिच्छलुलिघकेसे बेवन्तो वणिमीलिघट्टच्छि ।

वरपुरिसाइरि बिसुमरि जाणसु पुरिसाणं अं दु खं ॥ गायः, १।५२

(यकान) से आधी मुँदी आँखों वाली ! तुम्हारे मोर के पिच्छ जैसे केश अस्त-व्यस्त हो गये हैं, जङ्घाएँ काँप रही हैं । तनिक से ही पुरुषाघित से थक जाने वाली ! समझ लो पुरुषों को कितना कष्ट होता है ।

भार्याकार की उक्ति भी लीजिए—

वक्षःप्रणयिनि साम्प्रदासे वाङ्मात्रभटि धनधर्मं ।

सुतनु सलाहानिवेशितललाटिके तिष्ठ विजितासि ॥ ५२६ ॥

वक्ष का सहारा लेने वाली ! तुम्हारा साँस चढ़ रहा है और तुम पसीने से लथपथ हो गई हो । बाणी की बहादुर ! ठहरो, तुमने (बककर) अपना मस्तक भी मेरे मस्तक पर टेक दिया है । जो तुम पराजित हुई ।

८. गायिका ने नायक के हृदय में अन्य प्रेयसियों का वास होने के कारण नायिका के न आ सकने का उल्लेख किया है—

महिलासहस्रभरिए तुह हिषए सुहृष ना घनघनन्ती ।

दिग्रहं घण्णकम्मा अंगं सणुअं पि तणुएइ ॥ गायिका, २।८२

गायिका ने इसी भाव को विपरीत रूप में ग्रहण करके एक नायिका को नायक के हृदय में कीलवत् गड़ा हुआ बताया है जिसके कारण अन्य के लिये वहाँ स्थान नहीं है—

प्रवदाति नापरासां प्रवेशमपि पीनतुङ्गघनोरुः ।

या लुप्तकीलभावं याता हृदि बहिरवृष्यापि ॥ ३७४ ॥

राग भरे हृदय में रह कर भी घननुरक्त नायक को गायिका में नायिका द्वारा उपालम्भ दिलाया गया है—

धवलोरि सि षि सुन्दर तह बि तुए मज्ज रज्जिअं हिअअं ।

राअभरिए बि हिअए सुहृष निहितो ण रत्तो सि ॥ गायिका, ७।६५

सुभग ! तुम धवल (गुणी, उज्ज्वल) हो फिर भी तुमने मेरा हृदय रक्त कर दिया और मैंने राग भरे हृदय में तुम्हें रखा फिर भी तुम रक्त न हुए । गायिका ने इसी प्रकार नायक और नायिका दोनों को सखी द्वारा उलाहना दिलाया है—

सखि लग्नेव वसन्ती सदाशये महति रसमये तस्य ।

बाडवशिखेव सिन्धोर्न मनागप्यार्द्रतां भजसि ॥ ६५५ ॥

सा नीरसे तव हृदि प्रविशति निर्याति न सभते स्थैर्यम् ।

सुन्दर ! सखी दिवसकरबिम्बे तुहिनांशुरेखेव ॥ ६३६ ॥

सखि ! उसके महान् रस भरे श्रेष्ठ आशय (हृदय) में रहती हो फिर भी सागर की बड़वानल धिला के समान तुम तनिक भी आर्द्र न हुईं । ६५५

सुभग ! मेरी वह सखी सूर्य-मण्डल में चन्द्रमा की कला के समान तुम्हारे नीरस हृदय में प्रविष्ट होती और निकल जाती है, स्थिरता प्राप्त नहीं करती ।

गायिका में व्याध के बाण की लक्ष्मीभूत मृगी मरने के समय सतृण नेत्रों से हरिण को देखती है—

आघण्णाग्रहृदिअजिसिअभत्तलमम्माहृषाइ हरिणीए ।

अहंसणो पिअो होहिइ ति वलिअं चिरं बिट्ठो ॥ गायिका, ६।६४

कान तक खींचे बाण से मर्माहत हरिणी देर तक प्रिय की ओर देखती रही कि फिर कभी उसका दर्शन न हो सकेगा ।

गायिका ने भी यही भाव व्यक्त किया है—

दृष्टयेव विरहकासरतरकया प्रियमुखे समपितया ।

यान्ति मृगवत्प्रभायाः पुस्तिन्दवावाविताः श्रवणाः ॥ २८३ ॥

भील के बाण से छटपटाती हरिणी के प्राण प्रिय मुख पर डाली विरह-कातर दृष्टि के साथ ही चले गये ।

नायक द्वारा प्रदत्त माता नायिका का सर्वस्व है । गाथाकार ने दूती के मुख से नायक के समक्ष वर्णन कराया है—

सा तुह सहस्रदिग्गं अञ्ज वि रे सुहृद गन्धरहिभं वि ।

उज्जसिअणअरधरवेवे ष्व ओमालिभं बहइ ॥ गाथा, २।१४

सुभग तुमने आप से जो माला उसे दी थी वह निर्गन्ध हो गयी है, फिर भी वह परित्यक्त नगरदेवता के समान उस गन्ध रहित माला को धारण किये है ।

भार्याकार की दूती भी नायक से इसी प्रकार की बात कहती है—

अपनीतनिल्लितायां सुभग स्वकरेण विनिहितं भवता ।

पतिशयनवारपालिष्वरीषधं बहति सा मालाम् ॥ ४६ ॥

सुभग ! तुम्हारे द्वारा दी हुई अखिल-ताप-हारिणी माला को वह पति के साथ शयन रूपी ज्वर की औषधि के रूप में धारण करती है ।

किसी नायिका में अनुरक्त नायक को विरह से प्रतिदिन क्षीण होता देखकर उसकी स्वकीया नायिका भी संयोग कराने की सक्रिय चेष्टा करती है । दूसरे शब्दों में :—

सो तुज्झ कए सुन्दरि सह छीणो सुमहिजो हलिअउत्तो ।

जह से मछरिणोएँ वि बोच्चं जाआएँ पडिखण्णं ॥ गाथा, १।८४

सुन्दरि ! तुम्हारे कारण हलिक-पुत्र इतना कृश हो गया है कि उसकी ईर्ष्यालु पत्नी भी दूती-कार्य करने को प्रस्तुत है ।

भार्याकार ने नायिका को प्रतिदिन क्षीण देखकर सपत्नियों को उसकी पक्षपातिनी चित्रित किया है—

प्रियविरहनिःसहायासहजविषमाभिरपि सपत्नीभिः ।

रक्ष्यन्ते हरिणाक्याः प्राणाः गृहभङ्गभीताभिः ॥ ३८०

प्रिय-विरह के कारण निःसहाय सपत्नियाँ, स्वभावतः विरुद्ध होती हुई भी, घर बिगड़ जाने के भय से मृगनयनी के प्राणों की रक्षा कर रही हैं ।

नायिका के स्नान के समय मुक्त केश मानो भावी बन्धन के भय से रोते हुए जल बिन्दुओं के रूप में घासू बरसा रहे हैं, गाथाकार की कल्पना देखिये—

पसणिअन्नञ्जंसा ष्ठाणुत्तिराणाएँ सामतज्जीएँ ।

जलबिन्दुएँहिं चिहुरा वधन्ति बन्धस्स व भएण ॥ गाथा, ६।५५

इसी भाव पर भार्याकार का कथन है कि नायिका के मुक्त-मान चिकुर-कलाप का, बन्धन में पड़ने के कारण, मानो सिन्दूर की माँग के रूप में हृदय ही फट गया है—

बन्धनभाजोऽमुष्याचिकुरकलापस्य मुक्तमालस्य ।

सिन्दूरितसीममच्छलेन हृदयं विदीर्णमिव ॥ ४०४ ॥

गाथाकार की मानिनी नायिका किस प्रकार अपने अनुशयकारी हृदय की मर्त्सना करती है—

उज्ज्वलसि उज्ज्वलु कटुसि कटुसु ग्रह कुडसि हिमग्र ता कुडसु ।

तह वि परिसेसिग्रो निचग्र सो हु मए गलिग्रसम्भावो ॥ गाथा, ५।१

हृदय ! तुम जलते हो तो जलो, विदीर्ण होते हो तो हुन्ना करो और सुलगते हो तो सुलगो, मैं तो प्रेम को तिलाञ्जलि दिये बैठी हूँ ।

भार्याकार की नायिका के वचन भी सुन लीजिए—

प्रिय वुनयेन हृदय स्फुटसि यदि स्फुटनमपि तव श्लाघ्यम् ।

तत्केलिसमरतस्पीकृतस्य वसनाञ्चलस्येव ॥ ३७७ ॥

स्वपृष्ठाभिमुख सोये हुए नायक के प्रति मानिनी की उक्तियों की तुलना कीजिए—

उल्लाहै णीससगतो किं ति मह परम्मुहीएँ सभ्रणडे ।

हिमग्रं पलीविग्र वि अणुसएण पुट्ठिं पलीवेसि ॥ गाथा १।३३

हृदय को जलाकर अब शयनार्थ पर मुझ पराङ्मुखी की पीठ को भी गर्म निःश्वासों से क्यों जला रहे हो ?

कृतकस्वाप मदीयश्वासध्वनिदत्तकणं किं तीव्रैः ।

विध्यसि मां निःश्वासैः स्मरः शरैः शब्दवेधोव ॥ आर्या १५२॥

मेरे श्वास की ग्राहट मे कान लगाये हुए मिथ्या निन्द्रा में मग्न ! मुझे निःश्वासों से क्यों वैसे ही बीध रहे हो जैसे काम अपने बाणों से बीधता है ।

नायिका की दिवा-निद्रा दूसरों के मन में सन्देह उत्पन्न करती ही है—

हेमन्तिश्रासु अईवीहरासु राईसु तं सि अविणिहा ।

बिरअरपउत्थवइए ण सुन्दरं जं विअ सुवसि ॥ गाथा, १।६६

(सुचिर-प्रोषित-पतिके ! हेमन्त की लम्बी रातों में भी तुम्हारी नीद नहीं पकती ? यह ठीक नहीं कि तुम दिन में सोती हो ।)

इयमुदगति हरन्ती नेत्रनिकोचं च विवधती पुरतः ।

न विज्ञानोमः किं तव वदति सपत्नीव दिननिद्रा ॥ आर्या १०७॥

नेत्रों की ऊर्ध्वगति को हरती हुई और उन्हें संकोचती हुई तुम्हारी दिवा-निद्रा सपत्नी के समान, पता नहीं, क्या कहती है ?

वम्पती की समसुखदुःखता का प्रतिपादन गाथाकार ने इन शब्दों में किया है—

समसोकखदुःखपरिवर्द्धिद्विधार्णं कालेण कृष्येम्माणं ।

मिदुणार्णं भरइ जं तं लु जिअइ इअरं मुअं होइ ॥ गाथा, २।४२

समान दुःख सुख वाले तथा काल-काल से भारूढ़ प्रेम वाले पति-वत्नी में से जो मर जाता है वस्तुतः वही जीता है और जो जीवित रहता है वह मर जाता है ।

आर्याकार ने यही बात इस प्रकार कही है—

निष्कारणापराधं निष्कारणकलहरोषपरितोषम् ।

सामान्यमरणजीवनमुखदुःखं जयति दाम्पत्यम् ॥ ३०४ ॥

अकारण ही अपराध, कलह, रोष और परितोष से युक्त तथा समान मरण जीवन और सुख दुःख बाने दाम्पत्य की जय !

भाव ही नहीं गाथाकार की शब्दावली और शैली तक का अनुकरण आर्याकार ने किया है—

गाथा— एकैकैकभवइवेठणविवरन्तरविण्णतरलणअणाए ।

तइ बोलन्ते बालअ पञ्जरसउणाइअं तीए ॥ ३१२०

नासमझ ! तुम्हारे निकल जाने पर वह पित्ररे में बन्द पक्षी के समान वृत्ति के प्रत्येक छिद्र में अपनी चंचल दृष्टि डाबती हुई छटपटाती रही ।

आर्याकार ने भी ऐसा ही वर्णन किया है—

वृत्तिविवरेण विशन्ती मुभग स्वामीक्षितुं सखीदृष्टिः ।

हरति युवहृदयपञ्जरमध्यस्थो मग्मयेवुरिव ॥ ५४४ ॥

मुभग ! तुम्हें देख लेने के लिये वृत्ति (बाड़ या hedge) के विवरों में प्रविष्ट होती हुई उसकी दृष्टि युवकजनों के हृदय-पञ्जर में स्थित काम के बाण की प्रतीत होती थी ।

शैली के अनुकरण का भी एक उदाहरण लीजिए—

अच्छेरं व णिहि विअ सग्गे रज्जं व अमअ-पाणं व ।

आसि म्हु तं म्हुत्तं विणिअंसणदंसणं तीए ॥ गाथा० ३१२५

(उसके निर्वसन प्रांग का दर्शन अद्भुत-सा, अनोखी निधि-सा, स्वर्ग के राज्य सा और अमृत-पान सा लगता था) ।

दिल्लयन्निव पुम्बन्निव पडयन्निव चोलिल्लन्निवातुत्तः ।

बधविव हृदयस्यान्तः स्मरामि तस्या मुहुर्जघनम् ॥ आर्या, ५६६ ॥

उसके जघन को आलिङ्गन करता-सा, चूमता-सा, देखता-सा, खरीबछा-सा, और हृदय में धारण करता-सा मैं अतृप्ति के साथ स्मरण करता हूँ ।

नायिका की उपमा हँसी से दोनों ने दी है—

पिण्डइ कम्मज्जलिहि अजरबमिलिअं वि तुक्क संलावं ।

बुद्धं जलसंमिलिअं सा घाला राजहंसि अब्ब ॥ गाथा० ७१७६ ॥

स्वद्विरहापवि पाण्डुस्तम्बजू छाययं केबलया ।

हंसीव ज्योत्स्नायां सा मुभग प्रत्यभिज्ञेया ॥ २५१ ॥

अन्य कवि—इन प्रतिनिधि कवियों के प्रतिरिक्त बहुत से अन्य कवियों की रचनाओं में भी गाथासप्तशती का प्रभाव स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है । यहाँ

हम संक्षेप में कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

बरबेविरोदजुधलासु मडलिप्रच्छीसु लुलिप्रच्छिहुरासु ।

पुससाईरीसु कामो पिमासु सज्जाउहो बसइ ॥ गाथा०, ७।७३

कॉपटे हुए उस युगल, मुकुलित-नयन तथा अस्त-व्यस्त केशों वाली विपरीत रति-शील सुन्दरियों में काम अपने शस्त्रों से सज्जित होकर रहता है ।

उरसि निपतितानां अस्तधम्मिल्लकानां ।

मुकुललितनयनानां किञ्चिदुन्मीलितानाम् ।

उपरिसुरतसेवस्विन्नगण्डस्थलीनाम् ।

अधरमधु बधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥ भर्तृहरि शृङ्गारशतक^१

विपरीत रति के कारण अस्त-केश, मुकुलितनयन और पसीने से तर कपोल वाली, उर पर पड़ी बधूनों के अधरमधु का पान भाग्यशाली ही करते हैं ।

रतिकेलि में नवबधू की विमुखता का चित्रण गाथासप्तशती में इस प्रकार हुआ है—

ण अ बिट्ठि जेइ मुहं ण अ छिविजं वेइ णालवइ कि पि ।

तह वि ह्र कि पि रहस्सं णववहुसङ्गो पिओ होइ ॥ गाथा, ७।४५ ॥

पुच्छिज्जन्ती न भणइ गहिष्ठा पण्कुरइ चुम्बिष्ठा कण्ड ॥

तुल्लिका णववहुष्ठा कण्ठावराहेण उबज्झा ॥ ७।४७ ॥

दृष्टि मुंह पर नहीं डालनी, अपना स्पर्श नहीं करने देती, कुछ बोलती भी नहीं, फिर भी, न जाने क्या रहस्य है ? नवबधू का समागम रुचिकर होता है ।

अपराधी प्रियतम द्वारा आलिङ्गित मौनधारिणी नव-बधू प्रिय के पूछने पर कुछ नहीं कहती, पकड़ने पर फड़क उठती है और चूमने पर रोने लगती है ।

इन गाथाओं की छाया नागानन्द के इस अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक पर स्पष्ट दीख पड़ती है—

बुध्ता दृष्टिमयो ब्रूयति कुपते नालापमाभविता ।

शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलाबालिङ्गिता वेपते ॥

निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्मिर्यन्तुमेवेहेते ।

जाता वामतयेव सम्प्रति मम प्रीत्यै मवीठा बधूः ॥

उसकी ओर देखता हूँ तो दृष्टि नीचे कर लेती है । बोलने पर बात नहीं करती । शय्या पर मुंह केर कर पड़ जाती है । बलात् आलिङ्गन करने पर कांपने लगती है । सखियों पास से जाने लगती हूँ तो वह भी वास-भवन से निकल जाना चाहती है । इस प्रकार विपरीत आचरण करने पर भी नवबधू मेरे प्रेम को ही बचाती है ।

गाथा की नायिका प्रियतम के प्रति अनुरागातिशय व्यक्त करती हुई कहती है—

वन्ना ता महिलाधो जा बह्वं सिचिणए वि वेच्छन्ति ।

गिहृ म्बिन्न तेण विन्ना ण एइ का वेच्छए सिचिणं ॥ ४।१७

वे प्रेयसियाँ अन्य हैं जो प्रिय को स्वप्न में देख लेती हैं । मुझे तो उसके बिना नींद ही नहीं आती, स्वप्न कौन देखे !

प्रसिद्ध कवयित्री विज्जिका की उक्ति भी लीजिए—

वन्थासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विधग्धचाटुशतकानि रतान्तरेषु ।

नीर्वो प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥

सखि ! तू अन्य है जो मुरतसमय में सेंकड़ों प्रकार के चाटुवचन कह लेती है । सखियो ! मैं तो शपथ से कहती हूँ यदि प्रिय का हाथ नीवी तक जाते ही मुझे कुछ भी याद रहता हो ।

पुष्ट उरोजों के भार से नायिका की कुश कटि के भङ्ग होने की आशंका गाथा में प्रकट की गयी है—

अच्छोडिअवत्पट्टन्तपणिए मन्थरं तुमं वच्च ।

चिन्तेसि अणहराआसिअस्स मणभस्स वि ण भङ्गं ॥ गाथा० १।६०

बलात् धाँसल भटक कर चल देने वाली ! जरा धीरे चलो । तुम्हें उरोजों के भार से दबी अपनी कटि के टूटने की भी चिन्ता नहीं है ?

विकटनितम्बा को भी यही आशंका हुई है—

अयमि साहसकारिणि ! किं तव संकमणेन ।

टसदिति भङ्गमवाप्स्यसि कुचयुगभारभरेण ॥

अरी दुस्ताहस करने वाली ! चक्कर मत काट अन्यथा उरोजों के भार से टस् से टूट जायेगी ।

मानिनी के अनुनय में उत्सव-रात्रि के ढल जाने की दुहाई गाथा का नायक इस प्रकार देता है—

वे सुअणु पसिअ एल्लि पुणो वि सुलहाइ रुसिअम्भाई ।

ऐसा मझण्डि मझलच्छणुअला गलइ छणराई ॥ ५।६६

सुन्दरि ! मान जाओ । मान तो फिर भी सुख है किन्तु उत्सव की यह चाँदनी रात ढलती जा रही है ।

महाकवि बाण के नाम से प्रसिद्ध इस उक्ति में भी यही भाव लिया गया है—

गता प्रायो रात्रिः क्षशिशुक्षि क्षती क्षीर्यत इव ।

× × ×

अन्तःप्रान्तो मानो विषुव कठिने मानवधुवा ॥

रात्रि प्रायः जा चुकी है। चन्द्रमा डल गया है। मान की सीमा पैरों में पड़ने तक ही होती है। निष्ठुर ! अब तो मान त्याग दो।

महिलाओं को रतिकेलि की शिक्षा स्वतः सिद्ध होती है। गाथा में दूती नायक से कहती है—

बहुविहविलाससरसिए सुरए महिलाणं को उवज्झाओ ।

सिक्खइ असिक्खिआइं वि सव्वा णेहाणुबन्धेण ॥ ५।७७

अनेक प्रकार के विलासों से सम्पन्न सुरत की शिक्षा में महिलाओं का गुरु कौन होता है ? प्रेम सबको अनसीखी बातें सिखा देता है। इसी भाव की छाया काव्य प्रकाश में उद्भूत इस पंक्ति में है—

उपदिशति यौवनमेव कान्तानां ललितानि ।

‘सुन्दरियों को यौवन ही सब विलास सिखा देता है।

बाष्पाम्बुभरे नेत्र प्रियतम को नहीं देख पाते—

तुह चिरहुज्जागरओ सिविणे वि णे वेइ दंसणसुहाइं ।

बाहेण जहालोअणबिणोअणं से हअं तं पि ॥ ५।८७ ॥

‘तुम्हारे वियोग में जागते रहने से स्वप्न में भी दर्शन-मुख सम्भव नहीं और घ्रासुओं के कारण दर्शन भी नहीं हो सकता।’

यही भाव महाकवि कालिदास के शब्दों में भी प्रकट हुआ है।

अत्रैस्तावन्महुरपचित्तवृष्टिरालुप्यते मे ।

कूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नो कृतान्तः ॥

अनारुढयोवना किशोरी नायिका को रति-आयास देने वाले अविवेकी नायक को लक्ष्य कर गायकार ने भ्रमर और कली विषयक अन्वोक्ति द्वारा उसे चेतावनी दी है—

जाव ण कोसविकासं पावइ इसीस मालईकलिआ ।

अअरन्वपाणलोहिल्ल अमर तावच्चिअ मलेसि ॥ गाथा०, ५।४४

‘मालती की कली का कोष विकसित भी न हुआ कि मधु-लोभी भ्रमर ! तुमने उसे मसल डाला।

यही बात गोवर्धनाचार्य ने इन शब्दों में कही है—

पिब मधुप ! बकुलकलिकां दूरे रसनाप्रमात्रमाधाय ।

अथरविलेपसमाप्ये मधुनि मुखा बदनमर्पयति ॥ आर्या, ३।६७

मधुप ! बकुल-कलिका का रस दूर से ही रसना के अग्र भाग से पीना। ओठ गीले करने में ही समाप्य मधु में व्यर्थ ही मुँह डाल रहे हो।

विकटनितम्बा इसी भाव को यों प्रकट करती है—

अन्यासु तावदुपचर्दसहासु भूङ्ग ! लोसं विनोदय मनः सुमनोस्तसु ।

मुग्धान्मातरासं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं मधमल्लिकायाः ॥

भ्रमर ! अभी ग्रन्थ चंचल लताओं में अपना मन बहुलाओ । नव-मालिका की कली का, जिसमें परागरज नहीं बना है, यहाँ व्यर्थ ही कष्ट देते हो ।

ब्रजभाषा के यक्षस्वी कवि बिहारी का यह दोहा भी साथ रख लीजिए—

नहि पराग नहि मधुर मधु नहि विकासु इहि काल ।

अली कली ही सौ बँधो आगे कौन हवाल ॥ बि० स० ३८

सचमुच असंज्ञात कोश-विकाश कलिका के मकरन्द-पान के लोभी मधुप के समान प्राकृत के रस भ्रमृत-पान लोलुप कवियों का लोभ भी कुछ कम नहीं रहा है । विस्तार-भय से अधिक उदाहरण अभीष्ट नहीं ।

उपर्युक्त तुलना के आधार पर हमारे निष्कर्ष ये हैं—

(१) यद्यपि संस्कृत में शृङ्गारिक रचनाओं का सर्वथा अभाव नहीं था तथापि अन्तुक्त शृंगार वर्णन की प्रवृत्ति, जो संस्कृत की अनेकानेक गीति-रचनाओं के लिए उत्तरदायी है, संस्कृत में प्राकृत से ही आयी । प्राकृत साहित्य में साधारण जन-जीवन की दैनिक प्रेम अनुभूतियों का सुन्दर चित्रण है किन्तु आगे चल कर संस्कृत के काव्य में आभिजात्य का ही बोलबाला रहा । कारण स्पष्ट है प्राकृत भाषा जन जीवन के अधिक निकट थी और संस्कृत शिष्ट लोगों और दरबारों की भाषा होने के कारण उच्चवर्ग का ही अधिक प्रतिनिधित्व करती थी ।

(२) प्राकृत गीति काव्य ने भाव, शैली और शिल्प-विधान की दृष्टि से भी संस्कृत-गीति काव्य को पर्याप्त प्रभावित किया है । भर्तृहरि, विज्जका, भ्रमरक विकटनितम्बा आदि गीतिकारों पर उसका प्रभाव स्पष्ट है । गोवर्धनाचार्य ने तो साया सप्तशती के आधार पर संस्कृत में आर्या-सप्तशती ही लिख डाली ।

३—अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव

जन-भाषा के प्रवाह में बाँध बाँध कर संस्कृत और प्राकृत की जो कृत्रिम नहरें निकाली जा चुकी थीं उनसे बचा हुआ जल धीरे-धीरे आगे बहता गया जिसमें अनेक धाराएँ आकर मिलती रहीं । बाँध का जल भी रिसता रिसता इसमें मिलता आ रहा था । पानी बहने से उसके प्रवाह में तेजी आयी, तूफान आया और उसका अपभ्रंश (नीचे की ओर बिलरना) हुआ ।

अपभ्रंश में देशी शब्दों की प्रधानता थी । विभक्तियाँ घिस गईं, कुछ किर गईं, एक ही विभक्ति कई-कई काम देने लगी । एक कारक विभक्ति से दूसरे कारक का काम भी चलने लगा । वैदिक भाषा की अविविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली । विभक्तियों के लोप हो जाने से कई अव्यय अवयवा पद लुप्तविभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो स्वयं विभक्तियाँ नहीं हैं । क्रियापदों में मार्जन हुआ । केवल प्राकृत के ही तत्सम और तद्भव पद इसमें नहीं लिये गये अपितु धन-सम्पन्ना अपुत्रा मालुषसा (संस्कृत) से भी कई तत्सम पद ले लिये । साहित्य की प्राकृत निर्जीव हो चली थी । वही गत भी गय और गज भी गय; काच, काक, काय

(शरीर) और कार्य सबके लिये काय । इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—अर्धबोध का ही व्याघात होने लगा, तो लोगों ने अपभ्रंश में भी काव्य रचना प्रारम्भ कर दी । प्राकृत के ही समान देशभेद से अनेक अपभ्रंश होने पर भी साहित्य की अपभ्रंश एक ही थी । गुलेरी जी ने लिखा है कि जैसे शौरसेनी, पेशाची, मागधी आदि भेदों के होते हुए भी प्राकृत एक ही थी वैसे ही शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश, पेशाची अपभ्रंश आदि होकर एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई । हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आंचार पर है ।^१

यह ७वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन रही । अपभ्रंश के शैशवकाल में भी कितने ही अद्भुत कवि रहे होंगे और उनकी कविताएँ जनता के सबसे अधिक भाग को रसाप्लुत करती होंगी, किन्तु शिष्ट कहे जाने वाले जन-समाज से, जिसके हाथ में सामाजिक व्यवस्था और शक्ति थी, इन रचनाओं को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ जिसके कारण वे बालू की रेखा के समान मिट गई । किन्तु इन बिस्मृत जन-कवियों ने जनता की जीवित भाषा में सुन्दर रचनाएँ कर संस्कृत और प्राकृत जैसी रुढ़ साहित्यिक भाषाओं को चेलीज अवश्य दिया जिसका प्रभाव यह हुआ कि अपभ्रंश की किशोरावस्था समाप्त होते होते उसका रूप रंग और स्वभाव निखरे और निर्मल रूप में सामने आये, सहृदय रसिकों के हृदय में गुदगुदी करने में उसके गुण समर्थ हुए ।

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पतञ्जलि से भी पहले मिलता है । वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्यकार के पूर्ववर्ती संग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए अपभ्रंश शब्द का निर्देश किया है ।^२ इसके बाद पतञ्जलि ने महाभाष्य में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग शिष्ट-संमत भाषा से विकृत शब्दों के लिये किया है ।^३

छठी शताब्दी में भामह ने स्पष्ट रूप से सर्वप्रथम अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के अर्थ में किया और उसे साहित्योपयोगी भाषा मानते हुए संस्कृत और प्राकृत के ही समकक्ष रखा ।^४ दण्डी के अनुसार भाषा शास्त्र (व्याकरण) में

१. पुरानी हिन्दी, पृष्ठ ६ ।

२. शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।

तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ॥

वार्तिक—‘शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः’ इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतन्त्रः कश्चिद् विधत्ते । सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः । प्रसिद्धेरु रुढितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदालभन्ते । तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशाक्या प्रमादिभिर्ना गाच्यादयस्तत्प्रकृतयोऽपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते । (मर्तृहरि—वाक्यपदीयम्, प्रथमकाण्ड कारिका १४८)

३. एकस्यैव शब्दस्य बहुोऽपभ्रंशाः तद् यथा गौरित्यस्य गव्नी, गोष्ठी, गोता, गोपोत-लिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।

(म० भा० १, १, १)

४. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं शब्दं पदं च तद् द्विधा ।

संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥ (काव्यमालाकार १, १६, २८)

अपभ्रंश शब्द का अर्थ है संस्कृत से विकृत रूप भाषा और काव्य में आभीर आदि जातियों की बोली अपभ्रंश कहलाती है।¹ बलमी के राजा धरसेन द्वितीय ने अपने पिता गुहसेन को एक शिलालेख (५५६-५६६ ई०)² में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश का कवि बताया है।³ आचार्य हजारी प्रसाद जो द्विवेदी का अनुमान तो यहाँ तक है कि अपभ्रंश का साहित्य पाँचवीं-छठी शताब्दी में काफी मात्रा में वर्तमान था।⁴ बाण की धुमकड़ मण्डली में उसका एक परमप्रिय मित्र भाषा⁵-कवि ईशान भी था जिसका उल्लेख उसने अपने हर्ष चरित में किया है। संस्कृत के तत्कालीन सर्व-प्रसिद्ध कवि का मित्र होते हुए भी ईशान की रचनाएँ जीवित रखने योग्य नहीं समझी गईं। इसी प्रकार न जाने कितने कवियों की सुन्दर कृतियाँ बेमौत काल के गाल में समा गयी होंगी।

नवीं शताब्दी के अन्त में प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने अपने बाल-रामायण में संस्कृत को श्रव्य, प्राकृत को मधुर और अपभ्रंश को भव्य कहा है। राज-सभा में संस्कृत और प्राकृत कवियों के साथ अपभ्रंश कवियों के बैठने की व्यवस्था का भी उसने काव्यमीमांसा में उल्लेख किया है जिससे प्रमाणित होता है कि उस समय अपभ्रंश के कवि और कविता राज-सभाओं में आदृत होने लगे थे। उसी प्रकरण में भिन्न-भिन्न कवियों के बैठने की व्यवस्था का उल्लेख करते हुए राजशेखर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों के स्थान का भी उल्लेख किया है।⁶

अपभ्रंश के कवियों को जीहरी, चित्रकार, सुनार और बढ़ई आदि समाज के मध्यम श्रेणी के पुरुषों के साथ बैठाने की व्यवस्था थी। इससे दो बातों का पता चलता है। एक तो यह कि संस्कृत और प्राकृत भाषा के कवियों का आदर अब भी अधिक था और दूसरी यह कि संस्कृत जानने वालों का क्षेत्र संकुचित था, प्राकृत जानने वालों का अपेक्षाकृत कुछ विस्तृत और अपभ्रंश जानने वालों का सर्वाधिक विशाल था। उसका सम्बन्ध जन-साधारण से था। राजा के परिवारक वर्ग का अपभ्रंश-भाषा-प्रवण होना भी इसी बात की ओर संकेत करता है। श्रीमुनि

1. आभीरादिगिरिः काव्येऽपभ्रंश इति स्मृता ।

शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥ काव्यादर्श १।६

तदेवैवाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।

अपभ्रंशश्च मिथं ज्ञेयादुराव्यञ्जितुर्विधम् ॥ नदी १।३२

2. कीध, हिस्ट्री आफ् सं०, पृष्ठ ३२ ।

3. संस्कृत प्राकृतापभ्रंशभाषाप्रवर्तिष्वप्रबन्धरचना निपुणतन्त्राःकरण ।

(बलमी के धरसेन द्वितीय का दानपत्र)

इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग १०, अक्टूबर १८८१, पृष्ठ २८४ ।

4. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ३२ ।

5. इस समय की उत्तरी भारत की वायव्य भाषा अपभ्रंश ही हो सकती है (राहुल सांकृत्यायन, अवन्तिका, अंक १, पृष्ठ ७४ ।

6. काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५४।५५।

जिनविजय द्वारा सम्पादित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अनेक अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। इस ग्रन्थ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनेक राजाओं की सभाओं में अपभ्रंश का चिरकाल तक प्रचार रहा। राजा भोज और उनके पूर्ववर्ती कितने ही राजा अपभ्रंश कविताओं का सम्मान ही नहीं करते थे अपितु स्वयं भी अपभ्रंश में रचनाएँ करते थे। अपभ्रंश के स्वर्ण युग में स्वयंभू, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनन्दी कनकामर, धाहिल आदि अनेक अपभ्रंश कवि हुए जिन्होंने महापुराण, पुराण और चरित-काव्यों के अतिरिक्त रूपक काव्य, कथात्मक ग्रन्थ, सन्धि काव्य, रासक, स्तोत्र आदि की भी रचना की। संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध का पर्यवसान आदान-प्रदान में होना स्वाभाविक ही था। अपभ्रंश को संस्कृत साहित्य की अत्यन्त पुष्ट एवं समृद्ध परम्पराएँ अधिगत हुई थीं। जैन कवियों ने संस्कृत के अनुकरण पर ही अपने पुराण, महापुराण और चरितकाव्य अपभ्रंश में लिखे। वे मानो प्रतिज्ञा करके चले थे कि किसी प्रकार के साहित्य के लिये वे परमुखापेक्षी न रहेंगे किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वर्ण-विषय, भाव और शैली की दृष्टि से प्रायः संस्कृत साहित्य ही उनका आदर्श रहा, फिर भी संस्कृत साहित्य को—विशेष रूप से संस्कृत के प्रगीत मुक्तकों अथवा गीति-काव्य को—भी अपभ्रंश साहित्य ने प्रभावित किया।

अपभ्रंश में चर्चरी नाम की रचना का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। चर्चरी, चाञ्चरी और चाचरि या चाँचर सब पर्यायवाची शब्द हैं। चर्चरी शब्द ताल एवं नृत्य के साथ विशेष रूप से उत्सव आदि में गायी जाने वाली रचना के बोधक है।^१ विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में इस प्रकार के बहुत से पद्य दिये गए हैं जिन्हें अधिकतर विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है। श्रीहर्ष की रत्नावली में भी चर्चरी का उल्लेख है—“अथ यथाहमभिह्वयमानमृदुभृङ्गानुगतगीतमधुरः पुरः पौराणां समुच्चरति चर्चरीष्वनिस्तथा तर्कयामि।”^२ हरि कवि (१०७६) के ‘जम्बसामिचरित’^३ में तथा नयनन्दी के ‘मुदंसणचरित’^४ में भी चर्चरी का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में सोलनकृत चर्चरी का व्याख्यान है। एक ‘बिलाडली’ राग में गेय ३६ पद्यों की चाचरि स्तुति और गुर्जरी राग में गेय १५ पद्यों की ‘गुरुस्तुति चाचरि’ का पाठण भण्डार की ग्रन्थ सूची में निर्देश मिलता है। रचना की बानगी लीजिये—

पहिउ भणइ पहि जंत अमंगलु नह म करिः ।

क्यवि क्यवि पुनरुत्त बाह संबेरवि घरि ॥

१. हरिवंश कोष्ठक, अपभ्रंशभाटक, सेठ गोविन्ददास अभिनन्दनग्रन्थ, पृष्ठ ६५२ ।

२. रत्नावली,

३. चण्णरिर्वि विरहउ सरसु, गाञ्जह संतिब ठाक जसु । जम्भ० १।४

४. श्रियहरेसु आठकिय मुचण्णरि, करवि ठरवि सविबारी चण्णरि । मुदंसण चरित ७।५

पहिय ! होउ तुह इच्छ अरुज सिञ्छउ वमण ॥

मह न रनु बिरहगि भूम लोयण सबण ॥^१

प्रस्थान करता हुआ पथिक कहता है—सुन्दरि ! रो रो कर मार्ग में जाते हुए मेरा अमङ्गल न करो, अपने इन आँसुओं को रोके रहो। इस पर विरहिणी उत्तर देती है पथिक तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, तुम्हारा गमन आज सिद्ध हो। मैं रो नहीं रही हूँ, हाँ विरहाग्नि के धूमाधिव्य से आँखों में जल आ गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्ण्य विषय और भावपक्ष की दृष्टि से अपभ्रंश की ये रचनाएँ प्राकृत और संस्कृत के साहित्य की परम्पराओं से अत्यन्त निकट का संबंध रखती हैं किन्तु शैली की दृष्टि से ये मौलिक परिवर्तन की सूचना देती हैं। तुक अथवा अन्त्यानुप्रास की परिपाटी के सर्वप्रथम दर्शन अपभ्रंश साहित्य में ही होते हैं। संस्कृत एवं प्राकृत के साहित्य में कही अनायास ही अन्त्य तुक आई होगी; जान-बूझ कर संगीत-सौन्दर्य उत्पन्न करने के उद्देश्य से उसके प्रयोग की प्रवृत्ति अपभ्रंश साहित्य की ही देन है जिसका उद्गम लोक-साहित्य के अतिरिक्त अन्य हो नहीं सकता। जिस प्रकार लावनी आदि अनेक हिन्दी छन्दों के जन्मदाता मूलतः लोक-कवि ही रहे हैं उसी प्रकार इस नयी प्रवृत्ति के प्रवर्तक भी तत्कालीन जन कवि ही रहे होंगे। जब अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के पद पर आरुढ़ हुई तो अपनी इस विशेषता को साथ लेकर ही आगे बढ़ी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत भी यही है। वे लिखते हैं—

“दोहा (दूहा) वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी ऐसी अपभ्रंश कविता नहीं लिखी गई जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश केवल नवीन छन्द लेकर ही नहीं आई, बल्कि नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर भी आविर्भूत हुई। छठी सातवीं शताब्दी तक भारतवर्ष में उत्तर-पश्चिम सीमान्त से अनेक नई जातियों का आगमन हुआ और उनके कारण इस देश की भाषा में भी नए-नए तत्त्व प्रविष्ट हुए और कविता भी नवीन कारीगरी से समृद्ध हुई। हो सकता है कि यह तुक मिलाने की नवीन प्रथा भी नवीन जातियों के सम्पर्क का फल हो।”^२ एक दूसरी विशेषता, जिसका इस प्रवृत्ति से बहुत कुछ सम्बन्ध है, राग रागिनियों का प्रादुर्भाव है। अपभ्रंश साहित्य के उपराल में ही हमें इन दोनों विशेषताओं के दर्शन होते हैं। पूर्ववर्ती साहित्य में इन परम्पराओं का सर्वथा अभाव इन्हें अपभ्रंश युग की ही विशेषताएँ मानने के लिये बाध्य करता है। छन्दःसंगीत के अतिरिक्त मार्गीय और देशी संगीत से भी साहित्य का प्रगाढ़ सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा इस युग में की गई। इन दोनों ही प्रवृत्तियों ने संस्कृत साहित्य को—विशेष रूप से गीतिकाव्य को—बहुत दूर तक प्रभावित किया।

१. पाटण भग्गार की ग्रन्थ सूची, पृष्ठ १६०।

२. हिन्दी साहित्य का आदि काल, पृष्ठ ६३।

ऊपर वलभी के राजा गुहसेन तथा बाण के परम मित्र भाषा कवि ईशान की चर्चा की गयी है जिन की कोई रचना आजकल उपलब्ध नहीं है। ईशान से लगभग एक शताब्दी बाद के सिद्ध कवि सरहपा की कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं। इसलिये जब तक किसी अन्य प्राचीन कवि अथवा कवियों की रचनाएँ प्राप्त नहीं हो जाती तब तक सरहपा ही अपभ्रंश के सर्वप्रथम कवि ठहरते हैं। सरहपा और उनके प्रधान शिष्य शबरपा राजा धर्मपाल (७६६-८१५ ई०) के समकालीन थे।^१ सरहपा ने ही राग-रागनियों की यह गीति-परम्परा साहित्य में चलायी जिसका प्रभाव और प्रचार आज तक भी चला आता है। राग गुजरी (गुजरी) में उनका गीत^२ देखिए—

अपणे रचि रचि भवनिबहाना, मिछें लोभ बंधावइ अपणा ।
अक्खें न जानहु अचिन्त जोई, जाम मरण भव कइसन होई ॥
जइसो जाम मरण बी तइसो, जीबते मइले नाहि विषोषो ।
जा एणु जामा मरणे वडा का, सो करउ रस रसाने रे कला ॥
जे सचराचर ति अस भमन्ति, जे अजरारजर किम्पि न होन्ति ।
जामे काम कि कामे जाम, सरइ भणइ अचिन्त सो घाम ॥

उनका एक अन्य गीत लीजिए जो गुह्य भावना से प्रोत-प्रोत है—

ऊँचा ऊँचा पावत तहि वसइ सबरो बाली ।
मोरझी पिच्छि पहिरहि सबरो गोवत गुजरी माला ॥
ऊमत सबरो पागल सबरो, माकर गुली गुहाडा ।
तोहारि निम्र घरणी सहज सुन्दरी ॥ ध्रु०
णणा तदवर मोलिल रे, गगणत लागेलि डाली ।
एकली सबरी ए बन हिण्डइ, कर्णकुण्डल वज्रधारी ॥
तिम्र घाउ खाइ पडिला सबरो, महासुह सेविज छाइली ।
सबरो भुजग जहरामणि वारी, वेक्ख (त) राति पोहाइली ।
हिए ताबोला महासुहे कापुर साई ।
सून निरामणि कण्ठे सहभा महासुहे राति पोहाई ॥
गुरु वाक पुछभा बिन्ध निम्र मणे वाणें ।
एके शरत्सन्धानें बिन्धहु, बिन्धहु परम निवानें ॥
उमर सबरो गरुभा रोवे ।

गिरिवर ब्रिहर सन्धि पइसन्ते, सबरो लोडिब कहते ॥

ऊँचे-ऊँचे पर्वत पर शबर बालिका बैठी है जिसके सिर पर मोर पल और

1. राहुल सांकृत्यायन, अवन्तिका १९५४, अंक १, पृष्ठ ७८ ।

2. वही, पृष्ठ ७८ ।

1. राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित दोहाकोश की भूमिका में उद्धृत, पृष्ठ २४।२५ ।

श्रीवा में गुंजा की माला है। उसका प्रिय शबर प्रेम में उन्मत्त है। 'ओ शबर ! तू हत्ला-गुत्ला मत कर। तेरी अपनी गृहिणी सहज सुन्दरी है। उस पर्वत पर नाना प्रकार के तख्तर फूले हुए हैं, जिनकी डालियाँ गगन से लगी हुई हैं। कान में कुण्डल वज्र धारे शबरी झकेली इस वन में घूम रही है। दीड़ कर जाट पर महासुख सेज पर शबर पड़ गया। शबर भुजग (विट) और नैरात्म्य (शून्यता) वेष्या (धारी) को देखते रात बीत गई। हृदय तांबूल को महासुख रूपी कपूर के साथ खा, शून्य नैरात्म्य को कण्ठ लगा महासुख में रात बीत गई। गुरु-वचन पूछ कर निज मन-रूपी बाण से बेंध एक ही शर-सन्धान में बेध-बेध परम निर्वाण को।

इस प्रकार के पदों को सरहपा ने 'गीति' नाम से ही अभिहित किया है। उन्होंने ने अनेक गीतियों की रचना की थी जिनके नाम हैं—कायकोष, अमूल-वज्र गीति, चित्तकोष, अज्र वज्र गीति, डाकिनी-गुह्य वज्रगीति, चर्वागीति और सरहपाद गीतिका। उनके गीतों के विषय हैं रहस्यवाद, सहज मार्ग, उपदेश काया-तीयं आदि। सरह के ये गीत पद शैली के प्रारम्भ की सूचना देते हैं। इनमें गीतों के सभी मूल तत्त्व निहित हैं। पद्य छोटे होते हैं, वर्णनात्मकता का प्रभाव है, चिन्तनशील साधु की सहज अनुभूतियाँ सरलता के साथ अभिव्यक्त हुई हैं। गीतों में रागदेशाज, राग-भैरवी, राग-मालवी, राग गुजरी आदि का संकेत भी है। सारे पद्य में एक ही भाव मिलता है और अन्तिम पंक्ति में 'सरह भणइ' की छाप भी प्राप्त होती है। पद्य की पंक्तियों में मात्रा आदि का कोई हिसाब नहीं है। धुन ही पद्य रचना का मूल आधार है, पद्य की पंक्तियाँ छोटी बड़ी हैं। कवि की आत्मा-भिव्यक्ति तीव्र है। सरहपा को इन रचनाओं में अन्त्यानुप्रास और गीत शैली के प्रथम बार दर्शन होते हैं। जैसा कि संकेत किया जा चुका है ये प्रवृत्तियाँ सम्भवतः लोक-साहित्य से ग्रहण की गयीं। सरहपा और उनकी परम्परा के सभी सिद्धों का सम्पर्क निम्न वर्ग के लोगों से ही अधिक था। उच्च वर्ग के व्यक्ति न तो उनके वज्रयानी धन्य को ही अच्छी दृष्टि से देखते थे और न ही इन सिद्धों को श्रद्धा समझते थे। जन साधारण में अपने मत का प्रचार करने और अपनी अलौकिकता का आतङ्क जमाने के उद्देश्य से सिद्धों ने जन-भाषा में लोक-शैली के माध्यम से ही अपना अभीष्ट साधन उचित समझा। भगवान् बुद्ध और महावीर के उदाहरण उन के सामने थे। यही कारण है कि सरहपा जैसे संस्कृत के विद्वान् ने भी अपभ्रंश में ही रचनाएँ कीं और उनमें भी सरलता और स्वाभाविकता का ध्यान रखा। उनकी गुह्य भावनामय रचनाएँ ही रहस्यमय होने के कारण कुछ दुरुद्ध हैं, अन्यत्र सर्वत्र प्रसाद शैली अपनाई गई है। इन कारणों से यही सिद्ध होता है कि साहित्य जगत् में ये नूतन विशेषताएँ (अन्त्यानुप्रास एवं गीत शैली) सरहपाद ने ही लोक-साहित्य से लेकर प्रवर्तित कीं। श्री शङ्कराचार्य के नाम से प्रचलित 'भजगोविन्दम्' स्तोत्र में भी ये विशेषताएँ लक्षित होती हैं—

भज गोविन्द भज गोविन्द गोविन्द भज मूढमते !
 विनमपि रजनी साय प्रातः, शिशिरवसन्तो पुनरायात ।
 कालः कीडति गच्छत्यायुः तवपि न मृच्छत्याशावायुः
 भज गोविन्द भज गोविन्दम् ॥
 बालस्तावत्कीडासक्तः, तरुणस्तावत्तद्वणीरक्तः ।
 बृद्धस्तावच्छिन्तामग्नः, पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लप्स्यते ॥
 भज गोविन्द भज गोविन्दम् ।

इस स्तोत्र को यदि शङ्कराचार्यकृत ही मान भी लिया जाये तो भी हमारे कथन की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती उलटे उस की पुष्टि ही होती है। शङ्कराचार्य और सरहपाद समकालीन ही थे। फिर भी यह सम्भावना नहीं कि शैली की दृष्टि से एक दूसरे की रचनाएँ परस्पर प्रभावित हुई हों। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों ने एक ही उद्गम से इन विशेषताओं को ग्रहण किया होगा और यह उद्गम लोक-साहित्य के प्रतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। संस्कृत में यह ग्रन्थानुप्रास की प्रवृत्ति शङ्कराचार्य के पश्चात् निरन्तर नहीं चली। छुट पुट रचनाएँ शायद हुई हों। स्वयं शङ्कराचार्य जो की रचनाओं में भी इसके प्रति आग्रह नहीं दिखाया गया। इसके प्रतिरिक्त उक्त स्तोत्र में उन्होंने जो शैली अपनायी है वह सरहपा द्वारा प्रचलित गीत शैली से संबंधा भिन्न है। इसलिये क्षमेन्द्र जयदेव आदि उत्तरवर्ती संस्कृत कवियों की रचनाओं में जिस तुकान्त गीत शैली के दशन होते हैं वह संस्कृत साहित्य में ही विकसित होती हुई उन तक नहीं पहुँची। उसका विकास अपभ्रंश में हुआ। यही स वह इनके द्वारा अपनाई गई क्योंकि शङ्कराचार्य की शैली की अपेक्षा वह सरहपा की शैली से अधिक सम्बद्ध प्रतीत होती है। लोक साहित्य का प्रभाव भी उन पर लक्षित किया जा सकता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि संस्कृत में तुक का निर्वाह गीत शैली में ही किया गया है। अन्यत्र उसका ध्यान नहीं रखा गया। यद्यपि घटखर्पर का नाम लेकर संस्कृत साहित्य में तुकान्त रचनाओं के आविर्भाव का समय शङ्कर अथवा सरहपा से पहले सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा सकता है तथापि दोनों में एक तात्त्विक अन्तर है। घटखर्पर का तात्पर्य ग्रन्थानुप्रास में नहीं है यमक में है (जीयय येन कविना यमकं परेण कह कर उसने स्पष्टतया इसी बात पर बल दिया है) जबकि सरहपा और शङ्कर का लक्ष्य तुक या ग्रन्थानुप्रास है।

एक अन्य महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य जो सरहपा के उक्त गीत में दीख पड़ता है, यह है कि निर्वाण की साधना का लौकिक प्रेम-व्यापारों के साथ रूपक बाँधा गया है। इसके अधिकांश में मनोहर पर्वत निवास में शबर बालिका एवं उसके तरुण प्रेमी की शृङ्गार खेष्टाएँ ही सुन्दर और स्वाभाविक रूप में वर्णित हैं, यदि कुछ विशेष साकेतिक शब्दों पर ध्यान न दिया जाये तो यह एक शृङ्गारी कविता है।

प्रत्येक पाठक इन सांकेतिक शब्दों को न तो समझ ही सकता है और न इन पर ध्यान देने के लिये बाध्य ही है। राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही कहा है कि इनके श्लेष परम-पदपरक होने पर भी साधारण कामुकता को भी प्रकट करते हैं जिसके कारण पीछे वह घोर बामाचार के सहायक बन गए।¹ सरहपा की ही नहीं, सभी सिद्धों की कविताएँ इसी ढंग की हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह निकला कि कालान्तर में संस्कृत में भी लौकिक भ्रूलौकिक प्रेम का एकीकरण कर धर्म के नाम पर उन्मुक्त शृङ्गारिक काव्य रचना का प्रचलन हुआ। जिन दिव्य पानों—देवी-देवताओं—की रति का वर्णन अनुचित समझा जाता था, जिसके लिये कदाचित् कालिदास की भी आलोचना हुई, वह एक साधारण वर्ण्य विषय के रूप में स्वीकृत हुई। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृत कवियों की इस प्रवृत्ति का एकमात्र कारण इनका ही प्रभाव है। इस प्रकार की रचनाएँ पहले के काव्यों में भी खोजी जा सकती हैं, फिर भी राधा कृष्ण या शिव-पार्वती जैसे उपास्य देवी-देवताओं को साधारण नायक नायिका के रूप में शृङ्गारिक रचनाओं के रंगमञ्च पर अवतरित कराने में इनका बहुत बड़ा हाथ है। सिद्धों के आचार और साधना के विलक्षण स्वरूप ने जिस सामाजिक वातावरण का प्रसार किया था वह भी इस प्रवृत्ति के अंकुरित होने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। इसका विवेचन आगे यथा-स्थान किया जायेगा।

सरहपा की परम्परा को अन्य सिद्ध भी बराबर पुष्ट करते रहे। शबरपा (६वीं शती) ने भी सरह की ही भाँति गीतियों की रचना की। उनकी गीतियाँ बिसुगुह्यगीति, गम्भीराद्यगीति, और महामुद्रावजगीति के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन की पद्य-रचना में भी छन्द योजना का कोई नियम नहीं। गीतियों में रागों के नाम भी उन्होंने दिये हैं और अन्त में नाम की छाप भी। इसी परम्परा में भसुकपा, लुहपा, विरूपा, डोम्बिपा, दारिकपा, भुंडरिपा, कमरिपा और कन्हा के गीत मिलते हैं जिनमें नये नये रागों—राग, पट मञ्जरी, मल्लारी, कामोद, राग बंगाल, राग धनसी, राग अरुण, राग देवश्री, राग रामश्री, राग शवरी आदि—का प्रयोग हुआ है। इन रागों का शास्त्रीय विवेचन शाङ्गदेव (१३ वीं शताब्दी) ने अपने संगीत रत्नाकर में किया है। तात्पर्य यह है कि जिन रागों का शास्त्रीय विवेचन बाद में हुआ है उनकी रूपरेखा सिद्धों ने ही प्रस्तुत कर दी थी। इस प्रकार उन्हें शास्त्रीय संगीत से आबद्ध गीतों का रचयिता माना जाना चाहिये।

नाथों का साहित्य

सिद्धों की एक शाखा नाथपंथ के रूप में प्रसिद्ध हुई जिसके आदि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ माने जाते हैं। गोरखबाणी की भाषा पुरानी हिन्दी कही जा सकती है जब कि सिद्धों की अपभ्रंश प्राकृत के अधिक निकट है। इससे

स्पष्ट है कि नाथों की रचनाएँ सिद्ध साहित्य के बाद और सन्तों के पहले हुईं। गोरख-वाणी में सबदी और पद संगृहीत हैं। सबदी में लोक गीतों की लय है। पद दो-दो पंक्तियों के हैं जिन्हें अपभ्रंश की दोवई (द्विपदी) का विकसित रूप कहा जा सकता है यथा—

वसती सुन्यं सुन्यं न वसती अगम अयोचर ऐसा ।

गगन सिंहर महि बालक बोले ताका नाम बरहुने कैसा ।¹

गोरख की पद शैली का भी एक उदाहरण लीजिए—

अवधू ऐसा ग्यान बिचारो ता में भिलमिल जोति उजाली । (टेक)

जरा खोप तहाँ रोग न ब्यापं, ऐसा परिस गुष करना ।

तन-मन सूं जे परचा नाहीं, तो काहे को पचिपरना ।

काल न मिट्या जंजाल न छूट्या, तपकरि हूवा न पूरा ।

कुल का नास करं मति कोई जं गुष मिले न पूरा ।

कंठप रूप काया का मंडण अविरथा काह् उलोचां ।

गोरख कहै सुनो रे भौड़ु अरठ अमी कत सौचां ।²

गोरख की यह पद शैली सिद्धों की गीति शैली से भिन्न है। सिद्धों के गीतों की राग-पद्धति का विकास इसमें नहीं है हाँ गीत की टेक नयी वस्तु है। शास्त्रीय स्वर-योजना के स्थान पर इसमें अपनी स्वतन्त्र धुन है। शास्त्रीय गीत में आरोह-अवरोह होता है किन्तु गोरख बानी के गीतों में टेक के पश्चात् के चरणों में अन्तरा का आरोह-विधान नहीं है अपितु मनमानी स्वर-योजना है। इससे प्रतीत होता है कि गोरख ने सिद्धों के चर्यागीतों का विकास नये ढंग से किया। गोरख के पद ही परवर्ती सन्त कवियों के गीतों के आदर्श रहे।

अपभ्रंश साहित्य के गीति साहित्य और संस्कृत गीति साहित्य पर उसके प्रभाव का उल्लेख करते समय यदि पुष्पदन्त की चर्चा न की गयी तो बात अधूरी ही रह जायेगी। महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार पुष्पदन्त का रचना-काल ६५६-६७२ ई० है।³ इसके जसहरि-चरिउ और महापुराण में कृष्ण लीला सम्बन्धी पद मिलते हैं। पद के आरम्भ में दोवई और अन्त में घत्ता प्राकृत के प्रसिद्ध मात्रिक छन्द हैं।⁴ कुछ पदों के आदि में दोवई नहीं मिलती और कुछ में घत्ता भी नहीं मिलता। दोवई और घत्ता के अतिरिक्त १६ मात्राओं के चरणों वाले भी पद हैं। चरणों की संख्या निश्चित नहीं है। चार से लेकर सोलह पंक्तियाँ तक हैं। प्रत्येक पद स्वतन्त्र और पूर्ण है। शब्द-योजना संगीतात्मक है। विधय और

1. गोरखबानी (पीतान्वरदत्त बडव्वाल); सबदी १ पृष्ठ १।

2. वही, पृष्ठ ३२।

3. हिन्दी काव्यभारत, पृष्ठ ११७।

4. प्राकृतपेक्कल, पृष्ठ ६६, १०१, १५२, १५३।

शैली को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पुष्पदन्त की रचनाओं में गीत-शैली-निबद्ध कृष्ण-चरित विषयक गीति काव्य का प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है। जिसका विकसित रूप एक ओर तो संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ गीतकार कवि जयदेव के गीत-गोविन्द में मिलता है और दूसरी ओर भक्ति युग के हिन्दी कवियों में। एक उदाहरण लीजिए—

धूलिधूसरेण वरमुक्तसरेण तिना मुरारिणा ।
कीला-रस-वसेन-गोपालय-गोपी-हियय-हारिणा ॥
रंगतेज रमंतरमंते । मंचड धरिउ भनंतु ग्रनंते ।
मंचरिउ तोडिबि आबट्टिउं । अद्ध विरोलिउं बहिउं पलोट्टिउं ॥
काबि गोबि गोविन्दहु लग्गी । एण महारी म्बाणि भग्गी ।
एयहि मोल्लु वेउ आलिगण । णं तो या मेल्लह में प्रंगण ॥

धत्ता प्रसरिय-कर-यलोहिसदंतिहि सुइ सुहकारिणिहि ।
भदिय गियडिबिए वरयम्मुण लग्गइ नारिणिहि ॥

प्रथम दो पंक्तियों का संस्कृत रूपान्तर यह होगा—

धूलि धूसरेण वरमुक्तसरेण तेन मुरारिणा ।
कीला-रसवसेन गोपालय-गोपी-हृदय-हारिणा ॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये पंक्तियाँ गीत गोविन्द की पंक्तियों से मेल खाती हैं। उक्त पद में द्विपदी टेक का कार्य करती है। धत्ता की तुक द्विपदी की तुक से मिल कर संगीतात्मक स्वरैक्य उत्पन्न करती है। गोपियों के काबि गोबि गोविन्दहुलग्गी। एयहि मोल्लु वेहु आलिगण, णं तो या मेल्लह में प्रंगण आदि अश्रमोद्गार गीतात्मक अभिव्यक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं।

पुष्पदन्त के लीला सम्बन्धी पदों से ज्ञात होता है कि दशवी शताब्दी में कृष्ण लीला विषयक स्फुट गीत उत्तरी भारत में प्रचलित थे। सम्भवतः कृष्ण के लीला क्षेत्र ब्रज भूमि में इन गीतों का प्रचलन विशेष रूप से था। पुष्पदन्त ब्रज प्रान्त के निकट के थे। अतः उनके बाल्यकाल में जो संस्कार उन पर पड़े वे कृष्ण लीला विषयक पदों में प्रस्फुटित हुए। यही कारण है कि जैन होते हुए भी उन्होंने कृष्ण लीलाओं का गान किया है।

इस प्रकार अषष्ठश साहित्य में अन्त्य तुक और गीति शैली की विशिष्ट परम्पराओं का जो विकास हुआ था उसका संस्कृत-गीति-साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा। गीतगोविन्द की शैली और शिल्प-विधान, जो बाद के अनेक कवियों के लिए आदर्श बने, इसी प्रभाव का परिणाम है जिसकी वर्धा भागे यथा-स्थान की जायेगी।

शृङ्गारिक-गीत-परम्परा

पृष्ठभूमि

पिछले अध्याय में हम यह सकेत कर आये हैं कि विक्रम सबत के लगभग भारतीय काव्यधारा में एक महत्वपूर्ण मोड़ उपस्थित हुआ जिसके परिणाम स्वरूप कवियों की रुचि बाह्य प्रकृति की ओर से हटकर मानवीय प्रकृति की ओर विशेषतया सचेष्ट होती हुई रसात्मक काव्य की सृष्टि में रमने लगी, परलोक से हटकर कवि की सरस्वती ने इसी लोक में विचरण करना प्रारम्भ किया साहित्य के क्षेत्र में नयी गतिविधि, नयी शैली, नये विषय और नयी परम्पराओं ने पदार्पण किया कविता नारायण की ओर से नर की ओर, प्रकृति की ओर से नारी की ओर मुड़ी राज-धरानो का वैभव उसे अच्छा लगा, ग्राम-वधुओं की लीला भूमि शस्य श्यामला विभवम्भरा में उसकी मनोवृत्ति लीन हुई और मानव समाज के बीच में रहकर गृहिणी का सा जीवन व्यतीत करने को उसका जी चाहा। वीरभावो की अभिव्यक्ति में अब उसे उतना आकर्षण न रह गया था और वह नवयौवना की भाँति कौशोर्य की सरलता का त्याग कर शृंगार के क्षेत्र में सपुलक प्रविष्ट हुई। उस उसका लक्ष्य बन गया, ललित वचनों से सहृदय-मन को मोहने में और लचीली गति से श्रोतुव्य सञ्चार करने में वह प्रवृत्त हुई। कोमल शब्दों के भीने से कौशेय-प्रवणुठन में लिपटी हुई वह कुछ ऐसी ध्वनि में बातें करने लगी जिसमें हृदय को गुदगुदाने की अप्रतिहत शक्ति लक्षित होती है ऐसी शक्ति जिसके समक्ष मनुष्य का तिर भुकता नहीं भ्रूम उठता है। फिर भला 'केषां नैया कथय कविता-कामिनी कौतुकम्'। आगे चलकर सातवाहन नृप हाल ने इस कामिनी के उस अवस्था में विभिन्न मुद्राओं को, विभिन्न ध्वनियों को, विभिन्न भलङ्कारों को और विविध वक्तियों को स्पष्ट अभिव्यक्त करने वाले जो सात सौ चित्र इकट्ठे किये वे उसके सौम्य का पर्याप्त दर्शन करा देते हैं। इस परिवर्तित परम्परा के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझने के लिये हमें उस काल की भाँकी का अवलोकन करना होगा, इसकी पृष्ठ भूमि को समझने के लिए तत्कालीन भारत भूमि का निरीक्षण करना होगा और इसकी आत्मा को जानने के लिए तत्कालीन समाज से परिचय करना

पड़ेगा। अतएव यहाँ उस समय की राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने का प्रयास किया जायेगा।

राजनैतिक स्थिति—भारत एक महान् देश है जो सदा से ही छोटे-छोटे राज्यों में बँटा बला भा रहा था। अपनी-अपनी महत्ता और एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने के प्रयास में इन राज्यों का पारस्परिक संघर्ष ही भारतीय इतिहास का मूलसूत्र है। दूसरी ओर इस सोने की बिड़िया के पर उल्लाड़ कर ले जाने के लिए या इस पर पूर्णतया अपना अधिकार करने के लिए चिर अतीत से विदेशीय जातियों का मन लालायित होता रहा है किन्तु हमारे आलोच्यकाल में इस प्रकार के अन्त कलह और बाह्य आक्रमणों से जनित विक्षोभ जन-जीवन में प्रायः नहीं दिख पड़ता, छुट-पुट घटनाएँ अवश्य हुईं जिनकी इस दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। शक, कुशाण और यूनान के लोगों का आक्रमण एक अतीत की बात हो गई थी और हूणों का आक्रमण अभी कई शताब्दी बाद होने वाला था। शक, कुशाण और यूनानियों ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में छोटे छोटे राज्य अवश्य स्थापित कर लिये थे, पर ये इतने से ही सन्तुष्ट थे। हूण लोग भी भारतीय सीमा तक आ गए थे पर इन्होंने भारत में अभी तक प्रवेश नहीं किया था।^१

ये आक्रामक जातियाँ किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर भारत नहीं आई थीं, किसी विशेष प्रकार की धार्मिक मनोवृत्ति भी इनकी नहीं थी। सब से मुख्य बात यह थी कि इन जातियों ने भारत में जम जाने के पश्चात् अपने मूल देश से कोई सम्बन्ध नहीं रखा, बाह्य देशों के गीत नहीं गाए, ये लोग पूर्णतया भारतीय बन गए और भारत को ही अपना देश समझते थे। इनके मूल देश वाले भी इनकी प्रायः भूल ही गए थे। भारतीय रीति-नीति और आचार-विचार का अनुसरण करने में ये अपना गौरव समझते थे और भारतीय ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल के विकास में योग देना ये अपना परम कर्तव्य समझते थे। इन लोगों की भारतीय मनोवृत्ति का परिचय इसी से स्पष्ट है कि इन्होंने अपनी सत्ति के नाम भारतीय ही रखने प्रारम्भ कर दिये। भारतीय विद्वानों को इन्होंने आदर दिया। यूनानी शासक मिनेण्डर (१६०-१४० ई० पू०) बौद्ध हो गया था और उसने अपना नाम बदल कर मिलिन्द रख लिया था। तक्षशिला के राजा अर्नातिलित के राजदूत हेलियो पोरस द्वारा दूसरी शती ई० पू० के मध्य में बेसनगर (बिदिता) में स्थापित किया गया गरुडध्वज उसके वैष्णव धर्म की अङ्गीकार करने का प्रमाण है। पश्चिमी भारत के महाक्षत्रप नहुषान (लगभग ८२-७७ ई० पू०) का जामाता जयवदात कट्टर हिन्दू था। नासिक के एक गुहा लेख से ज्ञात होता है कि उसने तीन लाख गौएँ और सोलह गाँव ब्राह्मणों को दान किये थे। आठ ब्राह्मण-कन्याओं के विवाह में अपने व्यय से कन्या दान दिया और सात भर तक एक लाख ब्राह्मणों को

१. देखिए, मजूमदार द्वारा लिखित “ऐशियट इन्डिया”

भोजन कराया था। तक्षशिला के शक शासक पतिक के तथा मथुरा के शक क्षत्रप रज्जुल (लगभग ६०-८५ ई० पू०) की पटरानी के बौद्ध संघारामों और स्तूपों के लिए दान के अभिलेख मिले हैं। सेलकरण के बेटे हरकरण ने, जो संभवतः पल्लव था— नौ मठों से सुसज्जित गुहा मन्दिर बौद्ध भिक्षुओं को दान दिये।^१ शकों के महाक्षत्रप खट्वाहमन् की पुत्री का विवाह भ्रान्ध नरेश वासिष्ठि के पुत्र सात्कर्णी से हुआ था। ये सब तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि ये विदेशी आक्रान्ता अपने विदेशीपन को भूलकर भारतीय बनते जा रहे थे, न तो भारतीय ही इनसे उद्भिन्न होते थे और न ये ही अपने आपको भारत में विदेशी समझते थे। न तो यहाँ के मूल निवासियों को इनसे ही कुछ भय था और न ये ही उन्हें शङ्का की दृष्टि से देखते थे।^२ इन जातियों की सम्मति और सांस्कृतिक परम्पराओं का भारतीय सम्मति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। मौर्य युग तक भारत की मुद्राएँ धातु की पीट कर बनाई जाती थी और उन पर सूर्य 'चन्द्र' चक्र आदि के चिह्न ठप्पे में ठोक कर अंकित किये जाते थे। ये सिक्के पुराण या कार्षापण कहलाते थे। इन पर राजा की मूर्ति या कोई लेख नहीं होता था। यूनानी शासकों ने सर्वप्रथम राजा की मूर्ति और नाम वाले सिक्के चलाये। प्रारम्भ में इनकी तोल और लिपि यूनानी ही होती थी किन्तु बाद में इन पर लेख खरोष्ठी प्राकृत में लिखे जाने लगे। इसके बाद भारतीय सिक्के भी इसी शैली पर बनने लगे। यूनानी सिक्के द्रुचम (Druchm) का नाम संस्कृत में द्रम्म तथा बाद में दाम के रूप में अपना लिया गया।^३ कुशाणों ने रोम के सोने के सिक्कों के अनुकरण पर अपने सोने के सिक्के चलाये। संस्कृत का स्वर्णमुद्रावाची दीनार शब्द भी मल्लः रोमन है। ज्योतिष् के पाँच सिद्धान्त में से रोमन सिद्धान्त भारत में रोम से ही आया प्रतीत होता है। और जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, ऐहिक जीवन के प्रति भुकाव, बासकृष्ण की पूजा आदि आभीर जाति की देन हैं।

यह तो हुई विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण, शासन और व्यवहार की बात, देशी नरेशों में भी किसी प्रकार का भारी संघर्ष नहीं था, बड़े राज्यों में सातवाहन, शक, कुषाण और कलिङ्ग के ही राज्य थे। इनके अतिरिक्त छोटे-छोटे राज्य भी स्थापित थे। इनमें भ्रान्ध का राज्य सबसे शक्तिशाली था और यह सातवाहन या शालिवाहन वंश के आधिपत्य में था। यह राज्य सारे दक्षिण पथ के विस्तृत भू-भाग में फैला हुआ था जिसकी पूर्वी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठन) थी और पश्चिम में कृष्णा नदी के तट पर धान्यकटक में दूसरी राजधानी थी। यह एक प्रत्यन्त शक्तिशाली राज्य था^४ जिसकी शक्ति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि दिग्विजय करने वाले सम्राट् भी भ्रान्ध में प्रवेश करने का सहास नहीं

१. हरिदत्त वेदाल् कार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १२०।

२. एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १२१-१२२।

३. भारत का सांस्कृतिक इतिहास पृष्ठ, १३८-१३९।

४. इम्पीरियल गजेटियर, २८६।

जुटा पाते थे। अतः विशेष रूप से इस भू-भाग में और सामान्य रूप से समूचे देश में कोई महत्वपूर्ण सचय नहीं हुआ। हाँ, सातवाहन और शकों के घास में छोटे मोटे युद्ध हुए जिनमें जीत कभी एक पक्ष की रहती और कभी दूसरे की, किन्तु इनका प्रभाव इतना व्यापक नहीं था जो जन-जीवन को आक्रान्त करता। एक बात और थी वह यह कि जिस प्रकार विदेशी आक्रान्ताओं ने स्वविजित प्रदेशों पर आधिपत्य जमा कर भारत से ममता का सम्बन्ध जोड़ लिया था उसी प्रकार यहाँ के मूल राजाओं ने भी मिथ्याभिमानवश लड़ बैठने की प्रवृत्ति को त्याग दिया था। यही इस समय के इतिहास की विशेषता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस युग में युद्ध हुए ही नहीं, युद्ध हुए किन्तु छोट-पुट। महत्वाकाङ्क्षी सम्राट् भी जब विनिवर्धन के लिए प्रस्थान करते थे तो उन्हें विशेष प्रतिरोध का सामना करना नहीं पड़ता था क्योंकि उसका मन्तव्य छोटे-छोटे राज्यों को नष्ट करना नहीं होता था अपितु केवल अश्वमेध यज्ञ के लिए पृष्ठ भूमि तैयार करना था। अतएव राजनैतिक दृष्टि से इस युग को शान्ति और सुव्यवस्था का युग कहा जा सकता है जिसमें साहित्य और कला के विकास की पूरी गुरुजाइश थी।

आर्थिक वसा—जिस प्रकार राजनैतिक दशा ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला-कौशल आदि के लिए उपयुक्त थी उसी प्रकार आर्थिक स्थिति भी सतोषजनक थी जिसका मूल कारण था भारतीय उद्योग-धन्धों का पर्याप्त विकास और प्रसार जिससे जन-जीवन आर्थिक विन्ताओं से प्रायः मुक्त था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज-सत्ता के अन्न विभागों का वर्णन मिलता है वे इस बात का प्रमाण हैं। उद्योग-धन्धों की दृष्टि से भारत एक सुसम्पन्न देश था और व्यापार की दृष्टि से सबसे अधिक समृद्ध। भारत की समृद्धि विदेशों में लोकोक्ति का बाना पहन कर लोगों के ओठों पर बिछामान थी। अनेक प्राचीन प्रसकारों के आधार पर प्राचीन भारतीय सम्पत्ति का अनुमान किया जा सकता है।

जैन साहित्य के एक कथानक में भानन्द नामक एक व्यक्ति द्वारा जैन धर्म प्रज्झीकार करने की घटना का वर्णन आया है। इस अवसर पर उसने चार करोड़ स्वर्ण भार एक सुरक्षित स्थान पर, चार करोड़ व्याज पर इतने ही मूल्य की एक समृद्ध सम्पत्ति तथा पशुओं का समूह, जिनमें प्रत्येक में दस-दस सहस्र पशु बिद्यमान थे, छोड़े थे। हो सकता है कि इन कथानकों में अत्युक्ति से काम लिया गया हो किन्तु इनसे तत्कालीन भारतीय सम्पत्ति का अनुमान तो लगाया ही जा सकता है।

समुद्री व्यापार के कारण भारत की प्रायः उन दिनों बहुत बड़ गई थी। हाथी दाँत का सामान, कई प्रकार के गन्ध, मोती, वैदूर्य आदि रत्न, काली मिर्च, लौंग, मसाले, सूती और रेशमी कपड़े के निर्यात से भारत को प्रचुर धन प्राप्त होता था। रोम में भारतीय काली मिर्चों और मलमल की बड़ी माँग थी। काली मिर्च दो अशक्तिशाली की एक सेर बिकती थी। रोमन सुन्दरियाँ भारतीय मलमल पहनने की शौकीन थीं। पेत्रोनी नामक रोमन लेखक ने इन सुन्दरियों की जेपर्सों की शिकायत करते

हुए लिखा है कि वे 'बुनी हुई हवा के जाले पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती हैं।'^१ ई० पू० प्रथम शती में पेरिप्लस ने गङ्गा की घाटी में बनी हुई मलमल को सर्वश्रेष्ठ बताया था। सन् ७९ ई० में प्लीनी ने यह रोना रोया था कि देश से भारत को बहुत सा धन चला जाता है।^२ उसका कथन था कि भारतीय माल रोम में आकर सौगुनी कीमत पर बिकता है जिससे भारत रोम से प्रतिवर्ष साढ़े पाँच करोड़ सेस्टस का सोना खींच लेता है और यह कीमत हमें अपनी विलासिता और अपनी स्त्रियों के कारण देनी पड़ती है। व्यापारियों के गिल्ड्स (श्रेणियाँ) बने हुए थे। जिनकी आर्थिक दशा बड़ी अच्छी थी। ये गिल्ड्स बैंक का कार्य भी करते थे। उपवदात ने नासिक के बौद्ध भिक्षुओं के लिए जो अतुल धनराशि दान में दी थी वह 'मलयनीवी' जुलाहों की दो श्रेणियों के पास धरोहर के रूप में रखी थी।^३ इससे ज्ञात होता है कि देश में धन-धान्य की कमी नहीं थी। विदेशों में भारतीय सम्पत्ति की चर्चा तथा उसके लिये विदेशियों के मूँह में पानी भर आने की बात सभी इतिहास ग्रन्थ एक स्वर से कह रहे हैं। इस प्रकार एक ओर तो राजनैतिक सुस्थवस्था के कारण किसी प्रकार के बाह्य अथवा आन्तरिक संघर्षों की हलचल का प्रायः अभाव था और दूसरी ओर उद्योग धर्मों एवं विदेशीय-व्यापार द्वारा अतुल सम्पत्ति भारत में चली आ रही थी जिसकी प्रचुरता में लोगों में विविध प्रकार के उपभोगों को एकत्र कर उनका आस्वादन करने की ओर प्रेरित कर दिया था। बाद में भर्तृहरि ने जो धन की तीन गति—दान, भोग और विनाश बताई हैं उनमें से दान और भोग दोनों ही तत्कालीन समाज के यथेष्ट अभीष्ट रहे।

सामाजिक स्थिति

रहन-सहन—राजनैतिक तथा आर्थिक उत्थान-पतन किसी भी देश के समाज के अभ्युदय-अवनय के द्योतक होते हैं। अतः उपर्युक्त परिस्थितियों में समाज का उत्कर्ष अवश्यम्भावी था। किसी प्रकार का संघर्ष न होने के कारण उसकी रुचि विलास की ओर बढ़ रही थी। मेगास्थनीज ने अपने भारतीय विवरण में लिखा है कि भारतीय जन सौन्दर्य तथा आभूषणों के प्रेमी होते हैं, उनके वस्त्र स्वर्ण-सूचित तथा रत्नों से जड़े हुए होते हैं, इनकी पोशाक भड़कीली और रेशमी होती है। यहाँ के निवासियों के पास जीवनयापन के साधन आवश्यकता से अधिक हैं जिसके कारण जीवन-यापन की संवसाधारण सीमा का अतिक्रमण कर ये विलास की प्रतियोगिता में उतर पड़ते हैं। इनके व्यवहार में इसी कारण एक विशिष्ट प्रकार के आभिजात्य की झलक व्याप्त रहती है। ये कलाओं में पूर्णतया निपुण होते हैं, श्रेष्ठतम जलवायु

१. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १३०-१३१।

२. नज़्मदार, एन् एडवॉल्फ़ हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, पृष्ठ १३७।

३. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १३१।

का सेवन करने वालों से इस प्रकार की ही आशा की जाती है ।^१ विलास के साधनों का विदेश से पर्याप्त मात्रा में आयात होता था । ई० पू० तीसरी शती का एक मौर्य राजा रोम से सुरा और सूखे अंजीर मंगाया करता था । ईसा की प्रथम शती में आयात की अन्य वस्तुएँ थी; गाने वाले लड़के, चाँदी के बर्तन और राजाओं के अन्त पुरों के लिए रूपवती दासियाँ ।^२

धार्मिक स्थिति—सातवाहन युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता है हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान जिसे समझने के लिए पिछली शताब्दियों में हुए धार्मिक परिवर्तनों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है । छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में एक जबरदस्त धार्मिक क्रान्ति हुई थी । ब्राह्मण-प्रधान जटिल यज्ञों और उनमें होने वाली प्राणी-हिंसा के विरुद्ध बौद्ध तथा जैन धर्म की प्रतिष्ठा हुई, यद्यपि उपनिषदों में ही पुराने यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म के विरोध में निर्गुण ब्रह्म, मुक्ति, कर्मवाद आदि सिद्धान्तों का विकास (evolution) तथा ज्ञान मार्ग की स्थापना हो चुकी थी किन्तु उसके पात्र बुद्धिजीवी व्यक्ति ही हो सकते थे । ज्ञान की गूढ़ बातों को समझना स्थूल बुद्धि साधारण मनुष्य के बस की बात नहीं थी । इसलिए यह पन्थ इने-गिने लोगों को ही आकृष्ट कर सका ।

इस धार्मिक क्रान्ति के मूल में निम्नलिखित विचार प्रमुख थे :—

१. ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित यज्ञों का विरोध ।

२. पशु बलि का विरोध और अहिंसा का प्रचार ।

३. आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी गूढ़ प्रश्नों की उपेक्षा, लभ, दम, इन्द्रियनिग्रह, आचार-शुद्धि पर बल और आध्यात्मिक की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण की प्रधानता ।

बौद्ध और जैन धर्म इन्हीं विचारों को लेकर प्रवृत्त हुए । ये निरीश्वरवादी होने के कारण नास्तिक कहलाए । इनके अतिरिक्त एक आस्तिक आन्दोलन भी हुआ जो उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त निराकार ब्रह्म के स्थान पर भक्तिपूर्वक सगुण ईश्वर की उपासना में भी विश्वास रखता था । बाद में यह भक्ति-आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

आज नास्तिक पन्थों के उद्भव और प्रवर्तकों का इतिहास तो भली प्रकार ज्ञात है किन्तु आस्तिक आन्दोलन के आरम्भ की अस्पष्ट सी झलक उपनिषदों में मिलती है 'छान्दोग्योपनिषद्' के अनुसार घोर आंगिरस ने अपने शिष्य देवकी-पुत्र कृष्ण को एक नये आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी । इस यज्ञ की दक्षिणा थी तपस्वयर्षा, दान, ऋजुमात्र, अहिंसा और सत्यवचन^३ । ये ही देवकी पुत्र कृष्ण भागवत सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे जाते हैं । इसी धर्म के एक अन्य प्रतिष्ठापक राजा वसु ने यज्ञों में

१. 'मेगास्थनीज का भारत' पृष्ठ ३२-३५ ।

२. मज्जिमक्ख, पडर्वास्व हिस्ती आक इण्डिया, पृष्ठ १३७ ।

३. छान्दोग्योपनिषद् ३/१७/४-६ ।

पशु-बलि का निषेध कर हरि की उपासना पर बल दिया। भागवतो के अतिरिक्त ईश्वरवादी शैव सम्प्रदायों का सकेत भी श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है।^१

श्री रामकृष्ण भण्डारकर इसे प्राचीन धनार्य जाति का प्रभाव मानते हैं। इस प्रकार उपनिषदों के अत्यन्त ब्रह्म के साथ साकार ईश्वर की भक्ति-प्रधान पूजा का भी श्रियणेश हुआ। प्रचार के लिए लोक-भाषा का आश्रय, जाति-पाति के बन्धन का अभाव, संबन्ध-व्यवस्था आदि कारणों के साथ-साथ राजाधो का भी आश्रय पहले पाने के कारण शुरु में बौद्ध और जैन धर्म की उन्नति अधिक हुई। मौर्य राजाधो से इन धर्मों की प्रोत्साहन मिला। नास्तिक धर्मों की सफलता से हिन्दू धर्म के समर्थकों ने भी बहुत कुछ सीखा। विरोधियों के प्रबल होने पर इन्होंने अपने घर की व्यवस्था करना उचित समझा और उनके आक्षेपों के उत्तर देने के लिए अपने मन्त्रियों को तर्क-संगत रूप दिया, धर्म एवं दर्शन विषयक विचारों की स्मृतियों, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में व्यवस्थित रूप से उपनिबद्ध किया। इसके दो परिणाम हुए —

१ दर्शनों के मूलभूत प्राचीन सिद्धान्तों को शास्त्र का रूप दिया गया।

२ हिन्दू धर्म को बौद्ध धर्म से भी अधिक जन-धर्म बनाने के प्रयत्न किये गए।

यद्यपि पुष्यमित्र आदि राजाधो ने अश्वमेध आदि यज्ञों को पुनर्जीवित किया तथापि वैदिक धर्म अपने प्राचीन रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता था क्योंकि प्रबल समाज की स्थिति बदल चुकी थी और वैदिक समाज वापिस नहीं लाया जा सकता था। बुद्ध ने जनता को धर्म-ज्योति का दर्शन कराते हुए कहा था कि सदाचार और सम्यक् जीवन ही वास्तविक धर्म है। इससे जनता में जो जागृति हुई थी उसी के प्रकाश में हिन्दू धर्म का पुनः संगठन आवश्यक हो उठा था।

आर्यों के निम्न वर्ग तथा धनार्य जाति में प्रचलित यज्ञ, भूत-प्रेत और देवी-देवताओं की भी हिन्दू धर्म ने अपना लिया। मथुरा में वासुदेव की पूजा प्रचलित थी उसे वैदिक देवता विष्णु के साथ मिलाकर कट्टर वेदानुयायियों के लिए भी ग्राह्य बना दिया। वैदिक धर्म के पुनराहरण की लहर ने उस समय पूजे जाने वाले प्रत्येक जड़ और मनुष्य देवता में किसी न किसी वैदिक देवता की आत्मा प्रतिष्ठित कर दी। समूचे भारतवर्ष के देवता शिव, विष्णु, सूर्य, स्कन्द आदि देवताओं की विभिन्न शक्तियों के सूचक बने। प्रत्येक वर्ग में पूज्य पदार्थों को किसी न किसी देव शक्ति का प्रतीक बना ढाला गया और कालान्तर में स्वयं बुद्ध को भी भगवान् का अवतार मान कर पूजा जाने लगा। इस पुनरुत्थान ने देवज्योति को मानो ऊँचे स्वर्ग से और वैदिक ऋषियों के कल्पना जगत् से उतार कर भारतवर्ष के कोने-कोने में पहुँचा दिया जिससे जनसाधारण की सभी पूजाओं में धार्मिक-जीवन का संचार होने लगा और उनके जड़ देवता भी वैदिक देवताओं की भावमय आत्माओं से अनुप्राणित हो उठे।

१. श्वेताश्वतर ३/२/४/१६-१७।

मीरों के पतन के साथ भारत में बौद्ध धर्म का भी पतन होने लगा। अन्तिम मौर्य शासक यवनों के आक्रमणों से देश की रक्षा न कर सके। जनता ने उनकी अहिंसा-पोषित दुर्बलता को इसका कारण समझा और बौद्ध तथा जैन धर्म कम से कम उस समय उसकी दृष्टि से गिर गए। ई० पू० दूसरी शताब्दी के अन्तिम चरण में पुनः प्रतिष्ठा के प्रयत्न किये गए। वैदिक धर्म को राज-धर्म बनाया गया और बौद्ध धर्म का दमन किया गया। इस समय में लिखी गई मनुस्मृति में बौद्धों और जैनों के निर्वासन का भी उपदेश है।

आगे चलकर हिन्दू धर्म के इस नये रूप में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियों के स्वरूप विशाल स्तोत्र साहित्य की सृष्टि के लिए अवसर मिला बौद्ध और जैन कवियों ने भी स्तोत्र लिखे जिनकी चर्चा आगे यथास्थान की जायेगी।

स्त्रियों की स्थिति—कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्ययुग में स्त्रियों की स्थिति बड़ी अच्छी थी। घर में उन्हें पूरा अधिकार था। कुछ अवस्था में वे तलाक भी दे सकती थीं और पुनर्विवाह कर सकती थीं। विधवाओं को भी पुनर्विवाह करने का अधिकार था। पति यदि स्त्री को तीन बार से अधिक पीटे तो वह उसके विरुद्ध अभियोग चला सकती थी। सातवाहन युग में मनु ने पिछली व्यवस्थाओं में कुछ परिष्कार किया। मौर्ययुग तक विवाह एक समझौता-मात्र था। मनु ने उसे पवित्र संस्कार द्वारा अविच्छेद्य बनाया। विधवा-विवाह का निषेध किया और स्त्री-स्वतन्त्रता का विरोध किया फिर भी उन्होंने स्त्रियों को सम्मान देते हुए कहा है—यत्र स्त्रियस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। बहुविवाह प्रथा अब भी प्रचलित थी। प्रतीत होता है कि सामाजिक जीवन में स्त्रियों की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता को देखकर ही मनु ने 'न स्त्री स्वातन्त्र्य महति' की व्यवस्था दी, फिर भी क्रियात्मक रूप में स्त्रियों को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। राजवंश की महिलाओं द्वारा अपने अल्पवयस्क बालकों की ओर से शासन करने के उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं।¹

संक्षेप में कालिदास और हाल के आविर्भाव से पहले भारत में राजनैतिक संघर्ष अधिक नहीं था। देश का व्यापार बढ़ा-पड़ा था। जनता की आर्थिक दशा बहुत अच्छी थी। विदेशी आक्रान्ता अपनी अनेक परम्पराओं और प्रवृत्तियों के साथ यहाँ के समाज में घुल-मिल गये थे। हिन्दू धर्म और समाज में समन्वय की भावना को प्रोत्साहन मिल रहा था तथा भक्ति-भाव-प्रधान पद्धति प्रचलित हो चुकी थी। तात्पर्य यह है कि समाज में एक ओर तो सुख-शान्ति के साधन मौजूद थे जिससे जनता उपभोग-वृत्ति अपना रही थी और हिन्दू-धर्म का नया स्वरूप हृदय की वृत्तियों को उदात्त बनाने और समन्वय का पाठ पढ़ाने की ओर अपसर हो रहा था। कालिदास की रचनाओं में भी ये विशेषताएँ 'पामी में का लौनु' बन कर समाविष्ट हो गई हैं। संस्कृत-गीति-काव्य को धर्म-निरपेक्ष और धार्मिक भेद से दो बड़े भागों

में विभक्त किया जा सकता है। धर्म-निरपेक्ष गीतिकाव्य में शृङ्गारिक रचनाएँ बहुत अधिक मात्रा में हैं। वैराग्यपरक शान्त रस की रचनाएँ भी इसी के अन्तर्गत हैं। नीतिविषयक शुष्क कथनों को, चाहे वे गेय छन्दों में निबद्ध पद्य ही क्यों न हों, हम गीति नहीं मानते क्योंकि अनुभूति की सखनता उनमें प्रायः नहीं होती, जिनमें होती है वे अवश्य ही गीति-काव्य की परिधि में आ सकते हैं। शृङ्गारिक रचनाओं का प्राधान्य होने के कारण इस अध्याय में शृङ्गारिक गीति-काव्य के विकास पर ही प्रकाश डाला गया है।

कालिदास से जयदेव तक संस्कृत गीति साहित्य में विकास के तीन स्तर स्पष्ट दीख पड़ते हैं। हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्ध के कवि का लक्ष्य मानवीय भावों की गम्भीरता और व्यापकता को प्रकृति के व्यापक पटल पर चित्रित करना था दूसरे स्तर पर व्यापकता जाती रही परन्तु गम्भीरता बहुत कुछ बनी रही। आठवीं शताब्दी के पश्चात् गम्भीरता का भी ह्रास होने लगा। प्रथम उन्मेष में कवियों पर प्रकृति का प्रभाव अधिक था, दूसरे में कामशास्त्र का और तीसरे में अलङ्कारशास्त्र का।

प्रथम उन्मेष

कालिदास और हाल—कालिदास के अनेक काव्य प्रचलित हैं। किन्तु उनमें से केवल ऋतुसंहार और मेघदूत को ही हम “महाकवि कालिदास की रचना मानते हैं। ऋतुसंहार का प्रारम्भ प्रौढ ऋतु से हुआ है। अभिज्ञान शकुन्तल का प्रारम्भ भी नदी द्वारा प्रौढ विषयक गायन से हुआ है। ऋतुसंहार के एक श्लोक का पूरा-पूरा भाव परिष्कृत करके अभिज्ञान शकुन्तल में ग्रहण किया है।^१ अन्य कारणों के साथ-साथ उपर्युक्त साम्य ऋतुसंहार को कविकुल गुरु कालिदास की ही रचना प्रमाणित करता है।

कालिदास के गीतिकाव्य—आदि कवि वाल्मीकि ने लौकिक संस्कृत में काव्य की अवतारणा करते समय जिन आदर्शों की प्रतिष्ठा की थी, कालिदास की रचनाओं में उनका विकसित रूप दृग्गोचर होता है। तीसरे अध्याय में रामायण में गीतितत्त्व की चर्चा करते हुए वाल्मीकि-काव्य की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है—१ प्रकृति के प्रति आकर्षण जो वैदिक युग से ही चला आ रहा था। २ मनोभावों को काव्य का प्रवृत्तिनिमित्त बनाना और ३ स्वाभाविक सरस प्रसाद पूर्ण शैली। उन्हीं पृष्ठों में यह भी अभिव्यक्त किया गया है कि वाल्मीकि ने ही कदाचित् सर्वप्रथम जान-बूझ कर मानवीय भावों को काव्य का प्रमुख लक्ष्य बनाया और प्रकृति के साथ उनका सामञ्जस्य स्थापित किया। प्रकृति को उन्होंने वैदिक ऋषियों के समान स्वतन्त्ररूप में भी चित्रित किया है किन्तु मानवभावों की पृष्ठभूमि के रूप में उसका उपयोग करने की प्रणाली का सूत्रपात भी उन्होंने किया। काममोहित कौञ्च के दाह्य अवसान से उद्बुद्ध शोक ही वाल्मीकि की काव्यवाणी के बिनास का

प्रेरक बना और, जैसा कि हम कह आये हैं, उनके समूचे काव्य में कवणा की धारा कहीं सूखने नहीं पाई है। कविवर भवभूति रामायण को पूर्णतया हृदयङ्गम करके ही “एको रसः कवण एव” के निष्कर्ष पर पहुँचे थे। कालिदास प्रमुखतया शृङ्गार के कवि माने जाते हैं किन्तु उनका कवणरस भी कुछ कम मार्मिक नहीं है। सत्य तो यह है कि उनका संयोग शृङ्गार जितना सम्पन्न है विप्रलम्भ भी उतना ही हृदय-द्रावक है जिसमें कवणा की छाया पूर्णतया छाई रहती है।

वाल्मीकि जिस रसमय शैली के जन्मदाता हैं कालिदास उसके उदात्त उत्कर्ष-मय रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों महाकवियों की मध्यवर्ती रचनाएँ लुप्त अवश्य हो गई हैं किन्तु जो कुछ भी सूत्र यत्र तत्र बिखरे हुए अधिगत होते हैं, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय का विषय रहा है, उनसे आदि कवि द्वारा प्रवर्तित सुकुमार मार्ग की लम्बी परम्परा का पता तो चलता ही है साथ ही उसे किन्हीं अंशों में परिष्कृत और झलझल करने की प्रवृत्ति का भी भान होता है। सारांश यह है कि कालिदास को एक पुष्ट परम्परा का अवलम्ब मिला था। वाल्मीकि की कला से उन्होंने स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण की थी। यह कहना असंगत नहीं होगा कि वाल्मीकि के अध्ययन के बिना कालिदास का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। कालिदास के काव्य में वाल्मीकि की मनोरम पदावली और मञ्जुल भाव भरे पङ्क्तियाँ हैं जो एक पृथक् निबन्ध का विषय है।

विश्वकवि कालिदास ने बाह्य प्रकृति एवं अन्तःप्रकृति का इतना सुन्दर समन्वय किया कि वे कविकुल गुरु की उपाधि से विभूषित हुए। यदि वाल्मीकि-संस्कृत के आदि कवि हैं तो कालिदास आदि गीतिकार। कालिदास के नाम से प्रसिद्ध अनेक रचनाएँ आज उपलब्ध हैं। परम्परा के आधार पर उनके तीन नाटकों, दो महाकाव्यों और दो गीतिकाव्यों (ऋतुसंहार और मेघदूत) के अतिरिक्त निम्न-लिखित पुस्तकें भी कालिदास के द्वारा रचित बताई जाती हैं।

अम्बास्तव, कालीस्तोत्र, काव्यनाटकालकार, गङ्गाष्टक, घटकपूर, ऋषि-कादण्डकस्तोत्र, ज्योतिर्विदाभरण, दुर्घटकाव्य, नलोदय, नवरत्नमाला, पुष्पबाणविलास मञ्जुलाष्टक रत्नकोष, राक्षसकाव्य, लघुस्तव, विद्वद्विनोद काव्य, वृन्दावन काव्य, शृङ्गारतिलक, शृङ्गारसार, व्यामलादण्डक, श्रुतबोध, सेतुबन्ध और रावणबध। किन्तु किन्हीं का मत है कि ये पुस्तकें रघुवंश के यशस्वी प्रणेता कालिदास से भिन्न किसी कालिदास नामक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के द्वारा प्रणीत हुईं। राजशेखर ने कालिदास नाम के तीन कवियों का उल्लेख किया है और ये तीनों ही शृङ्गारिक कवि थे—

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।

शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासप्रयी किमु ॥

‘एकः’ से राजशेखर का तात्पर्य रघुवंश प्रणेता कालिदास से है। संभवतः उपर्युक्त पुस्तकें अन्य कालिदासों की रचनाएँ हैं।

ऋतुसंहार—ऋतुसंहार के प्रणयन के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। उसके कालिदास द्वारा प्रणीत न होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित बताए जाते हैं:—

१—इसमें कालिदास की प्रौढ़कला के दर्शन नहीं होते। स्थान-स्थान पर भावों और शब्दों की पुनरुक्ति हुई है।^१

२—मल्लिनाथ ने कालिदास के अन्य तीन काव्यों पर तो टीकाएँ की हैं ऋतुसंहार पर नहीं, उन्होंने स्वयं लिखा है—

मल्लिनाथकविः सौम्यं मन्वात्मानुविद्युक्षया ।

व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥

(३) वर्ष की ऋतुओं के वर्णन का प्रारम्भ ग्रीष्म से किया है जबकि वर्ष ऋतु से प्रारम्भ होता है।

(४) हंसों की गति को सुन्दरियों की गति से श्रेष्ठ बताना और इसी प्रकार लताओं द्वारा उनके बाहुसौन्दर्य का हरना भी परम्परा के विरुद्ध बात है। कालिदास के अन्य ग्रन्थों में यह बात नहीं मिलती।^२

(५) काव्य शास्त्रियों ने ऋतुसंहार से कहीं कोई उदाहरण नहीं दिये। इन युक्तियों के विरुद्ध कहा जा सकता है कि:—

(१) ऋतुसंहार में कालिदास की प्रौढ़कला के दर्शन इसलिये नहीं होते कि यह संभवतः उनकी प्रारम्भिक रचना है। भाव और भाषा की यत्र-तत्र पुनरुक्ति का कारण भी यही है।

(२) ऋतुसंहार जैसी सरल कृति की व्याख्या की आवश्यकता भी मल्लिनाथ ने नहीं समझी।

(३) कालिदास लकीर के फकीर न थे। इसलिए ऋतुवर्णन उन्होंने ग्रीष्म से ही प्रारम्भ किया। शायद वे ग्रीष्म ऋतु से अधिक प्रभावित भी थे। अग्निज्ञान वाङ्मन्तल के प्रारम्भ में भी जब नटी सूत्रधार से पूछती है कि किस ऋतु का मान किया जाये? तो सूत्रधार कहता है कि इसी ग्रीष्म ऋतु को लेकर। इसके पश्चात् नटी ग्रीष्म ऋतु के विषय में ही गीति प्रस्तुत करती है।

(४) हंसों द्वारा अङ्गनाओं की गति के जीतने का और प्रियङ्गु-लताओं द्वारा उनकी बाहुकान्ति हरने आदि का उल्लेख कवि ने शरद् ऋतु के वर्णन में किया है। हंस और प्रियङ्गुलता के उत्कर्ष द्वारा शरद् ऋतु का महत्त्व स्थापित करना कवि का लक्ष्य है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इन पक्षों में कवि ने प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित किया है नारी को नहीं। इस श्लोक के भूविभ्रमावच शिबिरास्तमुन्मिस्तरङ्गः की तुलना मेघदूत के 'उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीथिषु

१. तुलना कीजिए ऋतुसंहार १-१, १-१० । १-४, १६ । १-७, ६-४ । २-२८, ४-१८ । ५-१७, ६-२२ आदि।

‘अधिलासात्’ से की सकती है ।’

(५) जैसा कि कीय महोदय ने कहा है काव्यशास्त्रियों की प्रकृति सीधी सरल रचनाओं को उदाहृत करने की ओर नहीं थी ।’

प्रो० कीय के अनुसार वत्सभट्टि ने ऋतुसंहार के दो श्लोकों की छाया ग्रहण की है तथा कुछ प्रयोग भी अपनाए हैं जिससे इस कृति की प्राचीनता और कालिदास द्वारा रचित होने की संभावना सबसे अधिक है । वत्सभट्टि में ही यहाँ ऋतुसंहार एक श्लोक का परिष्कृत अनुवाद अभिज्ञान साकुन्तल के भी एक पद्य में मिलता है ।

सुलना कीजिए :—

निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्

प्रवृद्धबेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।

स्त्रियः सुवृष्टा इव जातिविभ्रमाः

प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥ ऋतु २/७

व्यपदेशमिव भाविलयितुं किमीहसे जनमिव च पातायितुम् ।

कूलंकलेष सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतर्हं च ॥ अभिज्ञान साकु० ५/२१

दोनों श्लोकों में भाव एक ही है केवल अभिव्यक्ति का अन्तर है । प्रथम श्लोक में कला का प्रारम्भिक और दूसरे में परिपुष्ट रूप द्रष्टव्य है । प्रतीत होता है कि द्वितीय पद प्रथम का ही प्रसङ्गानुसार संगृहीत सुसंस्कृत रूप है । अतः प्रो० कीय के उक्त मत से हम सर्वथा सहमत हैं । वाल्टर^१, हिलेब्राण्ड^२, कीलहार्न, वूल्सर, वान ओडर आदि का भी मत यही है ।’

ऋतुसंहार छः सर्गों और १४४ पद्यों में निबन्धात्मक शैली में लिखा हुआ एक काव्य है । इसका प्रत्येक सर्ग वर्ष की किसी ऋतुविशेष का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करता है । बहुत से श्लोक स्वतःपूर्ण हैं किन्तु पूरे सर्ग के श्लोक मिलकर एक पूर्ण इकाई के रूप में दीख पड़ते हैं । प्रकृति के प्रति कवि की सहानुभूति और सूक्ष्म निरीक्षण आद्योपान्त प्रतिबिम्बित है^३ । और इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृतिविषयक

१. हंसेजिता सुललिता गतिरङ्गनानाम्मोखैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः ।

नीलोत्पलैर्मदकलानि किलोचनानि भ्रूविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तारकैः,

रथामालताः कुसुममारनतप्रबालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम् ।

दन्तावमासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं कंकेलपुष्पसचिः नवपालिका च ऋतुसंहार २--१७-१८ ।

२. मेघवृत्त श्लोक, १०६

३. हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८३ ।

४. बड्डी, पृ० ८३, सुलना वत्सभट्टि ५।३-१ और ऋतु० सं० ५।२-३ ।

५. इतिदका, ३, पृष्ठ ६ ।

५. कालिदास, पृष्ठ ६६ ।

. जे न्द्रगदकर द्वारा संपादित ऋतुसंहार की भूमिका ।

७. देखिये प्रथम सर्ग श्लोक १, १३, १४, १५, १६, १७, १८ ।

द्वितीय सर्ग, ३, ५, ६, आदि ।

तृतीय सर्ग, १२, १३, १४, १५, १६ आदि ।

रागात्मकता की दृष्टि से इसके बहुत से पथ ऋग्वेद की अनेक कथाओं और भाद्वि कवि के ऋतुचर्चन से टक्कर ले सकते हैं।

किन्तु ऋतुसंहार ऋतुओं का केवल विवरणात्मक वर्णन ही नहीं है। कवि की प्रकृतिविषयक रति ही इसमें प्रस्फुटित नहीं हुई अपितु भारतीय प्रेमभाव को भी स्थान मिला है और कवि ने दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है। विभिन्न ऋतुओं में प्रकृति के विविध रूप-परिवर्तन की दाम्पत्य रति पर क्या क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण ऋतुसंहार की विशेषता है। प्राकृतिक वातावरण से प्रान्दोलित मानव-हृदय के ऋत्जारिक व्यापारों का इसमें मनोरम चित्रण हुआ है जिसके झिलमिले आवरण में कालिदास के जीवनमत्त हृदय की भावनाएँ झँकती प्रतीत होती हैं। तभी तो डा० कीष ने राइडर के 'ऋतुसंहार कालिदास की प्रतिष्ठा में न तो वृद्धि करता है और न कमी ही' कथन से सहमत न होते हुये लिखा है कि यदि कालिदास को इसके प्रणेतृत्व से वञ्चित कर दिया गया तो उसकी प्रतिष्ठा को वास्तविक धक्का लगेगा।^१ और मैकडानल ने कहा है कि शायद कालिदास की अन्य कोई रचना प्रकृति के प्रति उसकी गहरी तन्मयता, तीव्र निरीक्षण-शक्ति और भारतीय प्राकृतिक दृश्यों के रंगीन चित्रण का इतना मार्मिक उद्घाटन नहीं करती।^२

मेघदूत

जैसा कि कहा जा चुका है, कालिदास ने वाल्मीकि से प्रेरणा ग्रहण की। मेघदूत का थीम उन्होंने वाल्मीकि से ही लिया है। वियोगी यक्ष की व्यथा सीताहरण से दुःखी राम की व्यथा की स्मृति दिलाती है। पूर्वमेघ ने वर्षाऋतु का वर्णन रामायण के अरण्यकाण्ड में २८ वें सर्ग में आये हुये वर्षा-वर्णन से बहुत कुछ मिलता जुलता है। मेघ को दूत बनाकर भेजना भी कदाचित् हनुमान को सीता के पास भेजने के उल्लेख से प्रभावित हो। उन्होंने स्वयं यक्षपत्नी की उपमा सीता से और मेघ की उपमा हनुमान से दी है—

इत्पाहयाते वचनतनयं मंडिलीबोन्मुखी सा (उत्तर मेघ, ३७)

हनुमान् को राम ने सीता के प्रत्ययहेतु अपनी मुद्रिका जिन्हू स्वरूप दी थी। कालिदास के यक्ष ने मेघ को कोई ऐसा भूत पदार्थ तो नहीं दिया जिसे देखकर यक्षिणी विश्वास कर लेती कि वह उसके प्रियतम का ही प्रेषित दूत है, किन्तु उसे अपने अनन्य-ज्ञात रति-विलास-रहस्य अवश्य बताएँ जिन्हें कह कर मेघ अपनी संदेशवाहकता का प्रमाण दे सके। इस प्रकार कथा वस्तु का थीम रामायण से लेकर भी कालिदास ने उसमें अपनी निजी छाप लगाकर सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत किया है।

यह कहा जा चुका है कि कालिदास की सबसे बड़ी विशेषता है उनका प्रकृति के प्रति अनुराग जिसकी छाया हमें उनकी किसी भी रचना में दिखाई दे सकती है।

१. डिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८३।

२. काले द्वारा संपादित ऋतुसंहार की भूमिका, पृष्ठ ६।

मेघदूत के विषय में तो यह बात और भी बल के साथ कही जा सकती है। पूर्व मेघ प्रकृति के एक से एक सुन्दर चित्रों से भरा पड़ा है। उनका नायक यक्ष घपनी प्रेयसी तक संदेश पहुंचाने के लिये दूत का चयन भी प्रकृति से ही करता है जो भले ही किसी वैज्ञानिक के लिए धूमज्योतिःसलिलमयतां सम्मिपातः हो किन्तु कालिदास की सूक्ष्मदर्शिनी मनीषा तो उसके विषय में यही घोषणा करती है कि “जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।” प्रकृति में उन्होंने वास्मीकिक के ही समान चैतन्य का अनुभव किया है और उसके साथ चेतन मानव का तादात्म्य स्थापित किया है। चेतन और अचेतन के भेद को विद्योगी यक्ष सर्वथा भूल जाता है।

कालिदास प्रकृति की चेतनता में विश्वास रखते थे तभी तो उनकी कविता में प्रकृति के प्रति सच्चा प्रेम पाया जाता है। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के प्रति जिस अनुभूति का परिचय दिया है वह कालिदास के लिये अपरिचित नहीं थी। वैदिक ऋषि को उषा शोभन शाटिका में लिपटी हुई युवति के समान प्रतीत होती है तो कालिदास को मेघ इन्द्र धनुष की सतरङ्गी आभा में मोरशिखाधारी इयामवर्ण कुण्ड के सदृश प्रतीत होता है—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्

वल्मीकाप्राप्तमभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।

येन इयामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते

वह्णेव स्फुरितरश्मिना गोपवेशस्य विष्णोः । पूर्वं मेघ ५१ ॥

वर्षा प्रारम्भ होते ही घघपके हरे-पीले कदम्ब के फूलों पर भौरे भंडराने लगते हैं, कछारों में नयी फूटी हुई कदली की कोपलों को चरते हुए हरिण और जगल की चरती की तीली सुगन्ध को सूँघते हुए हाथी उस मार्ग से मेघ के गुजरने की सूचना देते हैं—

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरेरवंकटं-

राबिर्भूतप्रचममुकुलाः कन्दलीपद्यानुकण्ठम् ।

जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभि गन्धमाप्राय बोध्याः

सारङ्गास्ते जललघमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ २१ ॥

वन के कुञ्जों पर बहुराए हुए मेघ का बरसना स्वामाविक ही है और बरसने के पश्चात् हलका होने के कारण उसकी गति में तीव्रता का भा जाना भी उतना ही स्वामाविक है। इस प्राकृतिक तथ्य की अभिव्यक्ति के साथ-साथ विन्ध्य पर्वत के ऊबड़-खाबड़ भू भाग पर फैली हुई रेवा का चित्र निम्नलिखित श्लोक में कितने सौन्दर्य के साथ अंकित हुआ है :—

स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभूक्तकुञ्जे मुहूर्तम् ।

तोयोत्सर्गद्रुततरगतस्तत्परं वर्त्म तीर्णः ।

रेवां प्रक्ष्यस्पुपसविषमे विन्ध्यपादे विशीर्षा

भक्तिच्छंदेरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ १६ ॥

पके हुए फलों से लदे हुए आम के जंगलों से शोभित तल प्रदेश वाले आम्रकूट पर्वत के ऊपर जब काला बादल छा जाता है तो उसकी शोभा कैसी हो जाती है ? यह इस श्लोक में देखिए—

छन्नोवाप्तः परिणतफलस्रोतिभिः काननास्रं-

स्वय्यारुढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णः ।

नूनं यास्यश्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां

मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ १८ ॥

स्फटिक-निर्मल जल में पड़ते हुए तिरछे झुके हुए मेघ के प्रतिबिम्ब से गंगा की जो शोभा हो जाती है वह भी निरख लीजिए—

तस्याः पातुं सुरगज इव श्योम्नि पश्चाद्वलम्बी ।

त्वं चेदच्छस्फटिकविशवं तर्कयेस्तिर्यग्ममः ।

संसर्पन्त्या सपवि भवतः स्रोतसि च्छाययासी

स्यावस्थानोपगतयमुनासंगमेताभिरामा ॥ ५१ ॥

एक अन्य उदाहरण लीजिए—

रत्नस्रव्यम्बोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्य-

स्रोतोरध्रश्चनितसुभगं दग्धिभिः पीयमानः ।

नीर्धर्वास्त्यप्युपजिगमिषोर्ध्वपूर्वं गिरि ते

शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बरानाम् ॥ ५० मे० ४२ ॥

अर्थात् जब तुम देवगिरि पहाड़ की ओर चलोगे तब वहाँ धीरे-धीरे बहुत ही धीमा वह शीतल पवन तुम्हारी सेवा करेगा जिससे तुम्हारे बरसाए हुए जल से आर्द्रता की साँस लेती हुई धरती की गंध भरी होगी और जिसे गर्जन करते हुए हाथी अपनी सूँड़ से पी रहे होंगे तथा जिसके चलने से बन के गूलर पकने लगेंगे ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बरानाम् ।' कवि के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का साक्षी है । सचमुच कालिदास का प्रकृति चित्रण प्रकृति की मौलिक ताज़गी से ओत-प्रोत है । परम्पराभुक्तता की बासी गन्ध उसमें है ही नहीं ।¹

मेघदूत के इस पहलू को छोड़कर यदि स्थूल रूप से समग्र वस्तु को देखा जाये तो प्रतीत होता है कि वह आदि से अन्त तक यौवन के विलासों की कल्पना से रञ्जित है । पश्चादावां बिरहगुणितं तं तमास्माभिलाषं निर्वक्ष्यावः परिणत-शरच्छन्दिक्कामु क्षपासु' की मधुर आशा के सहारे ही वियोग के लम्बे लम्बे महीने 'लोचने मीलयित्वा' काटे जा सकते हैं । मानववृत्ति का यही शाश्वत आधार मेघदूत की बिरहस्यायिता का कारण है । केवल शृङ्गारी रूप ही उसे सहृदयों का सर्वस्व बनाने की क्षमता रखता है किन्तु भारतीय धरा पर अच्युत विषयकवि मानव जाति

1. He never allowed his love for nature to descend to the level of the conventional but retained it in all its original freshness (Prof. M. Hiriyanna, in his article on Kalidasa, the Maha raja's college Magazine Mysore, sept. 1913).

के लिये यही उपभोग-प्रधान सदेश लेकर नहीं आया था। वैदिक ऋषियों की गरिमा-मयी भावनाओं का संस्कार उसके हृदय में रमा हुआ था और प्रकृति के विशाल आँगन में प्रतिदिन होने वाले परिवर्तन और प्रतिक्षण होने वाले स्पन्दन उसके हृदय की धड़कन के साथ बोलते थे। अतः मानवीय भावों की अभिव्यक्ति को प्रमुख ध्येय बनाकर भी चिरयौवना प्रकृति की इस सनातन रमणीयता की झलक को भी शब्दों में बाँधने का प्रयत्न प्रयास उसने किया है। ऊपर उद्धृत कतिपय श्लोक इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह सत्य है कि उसमें भी स्थान स्थान पर शृङ्गार की उदात्त रंगीनी अपनी आभा छिटकाये हुए हैं। विद्युत् को मेघ की प्रिया के रूप में देखा गया है और अन्त में यक्ष उसके चिरमिलन की शुभकामना करता हुआ उसे आशीर्वाद देता है—“मा भूदेव क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग, किन्तु महाकवि की यह कल्पना वैदिक ऋषियों की ‘जायेव पश्य उषाती सुवाता.’ और सूर्यो देवीमुखस रोचमानामयौ न घोषामभ्येति पश्चात्, जैसी उक्तियों की परम्परा के अनुकूल ही तो है। इसी प्रकार नदी के रोधोनितम्ब से प्रवाहवसन का खिसकना “उषा निरणीते वक्ष.” में व्यक्त भावना का ही विकसित रूप है। मानव हृदय की छाया में प्रकृति के अवलोकन की जो परिपाटी आदि कवि ने चलाई थी उसका उदात्त विकास मेघदूत में लक्षित होता है। प्रकृति और मानव का यह चेतन सामञ्जस्य—उनके व्यापारों की बिम्ब प्रति-बिम्ब रूप में स्थिति—अभूतपूर्व ही नहीं अद्वितीय भी है। कालिदास के बाद के कवियों का प्रकृति चित्रण प्रायः यान्त्रिक प्रवृत्ति जैसा है, उसमें चेतनता का अभाव है।

प्रावर्त रूप नाभि का सविलास प्रदर्शन करने वाली निर्विन्ध्या नदी के प्रणय-निवेदन को स्वीकार कर उसका रस ग्रहण करने की मित्रोचित मन्त्रणा देता हुआ यक्ष मेघ से कहता है—

बोचि क्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्जनगुणायाम्

संसर्पन्त्या स्खलितमुभय दक्षितावर्तनामे ।

निर्विन्ध्याय पथि भव रसाभ्यन्तर सन्निपत्य

स्त्रीणामाद्य प्रणयवचन विश्रमो हि प्रियेषु ॥ प्र० मे० २८ ।

अर्थात् मार्ग में रुक कर लहरो के विक्षोभ से (उत्तेजित होकर) कूजती हुई विहगालि रूपी स्वर्णकाञ्ची से झलकून एवं सुघराई के साथ स्खलित गति से मन्द मन्द चलते हुए अपनी प्रावर्त-नाभि का प्रदर्शन करती हुई निर्विन्ध्या का रस ग्रहण करना। रमणियों का हाव-भाव ही प्रिय के प्रति उनका प्रथम प्रणय-वचन होता है।

यहाँ नदी और मेघ पर नायिका और नायक का आरोप कर मानवीकरण किया गया है। यक्ष के हृदय के विरहगुणित अभिलाष की छाया इसमें स्पष्ट अभिव्यक्त हुई है। यक्षवाजित विरहिणी निर्विन्ध्या की दशा भी देखिये।

वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धु

पाण्डुच्छायातटवृक्षवर्जं शिभिर्जीर्णपर्व ॥ प्र० मे० २९ ॥

अपनी प्रियतमा की दशा भी वह ऐसी ही बतलाता है ।

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णकपाइवा

प्राचीमूले तनुमिष कलामात्रशेषां हिमांशोः । उ० मे० २६ ॥

निविन्ध्या की यह दशा यक्ष की दृष्टि में मेघनायक के सौभाग्य का चिन्ह है—

सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती

यक्षिणी की विरहविधुरता से वह अपने आपकी भी सुभग मानता है—

वाचासं मां न ललु सुभगमम्यभावः करोति

प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुस्त मया यत् ॥ उ० मे० ३१ ॥

विद्युत्प्रियतमा के साथ उज्जयिनी के किसी महल की छटारी में रात्रि बिताने के पश्चात् जिसमें वह चिरबिलास के कारण थक भी जायेगी^१, मेघ से आगे बढ़ने और मार्ग में मछलियों के उद्वर्तनरूप गम्भीरा नदी के कटाक्षों को सार्थक करने का आग्रह किया है ।^२ शिथिलनितम्बवसन नायिका की मादकता का क्या कहना ! विषवामित्र भी उसके वश में आ सकते हैं तो और की तो बात ही क्या, विशेषतया काम रूप पुरुष को उसका आकर्षण किसी को भी विस्मृतकर्तव्य ही नहीं आत्मविस्मृत भी कर सकता है । यक्ष स्वयं इसका भुक्तभोगी है । प्रेम ही की रतिमादकता के कारण वह अपने दैनिक नियोग के अनुष्ठान में शिथिलता कर गया जिसके कारण उसे सुदीर्घ वर्णभोग्य शापविरह का शिकार होना पड़ा । इसीलिये वह मेघ को सावधान करता है कि गम्भीरा के सलिल रूपी नीलवसन को जिसे वह अपने तट रूपी नितम्ब से खिसकता देखकर बेट के शाखा रूपी हाथों से सम्भालती ही दीख पड़ेगी, हटाकर विलम्ब से ही वह आगे जा सकेगा । भला कौन रसज्ञ निर्वसन-जघना कामिनी को छोड़ सकता है ?

तस्याः किञ्चित्करतुमिव प्राप्तवानिरशास्त्रं

नीत्वा नीलं सलिलवसनं भुक्तरोधोनितम्बम् ।

प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि

ज्ञातास्वाद्यो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥ पू० मे० ५०

गङ्गा का यह स्वाधीनपतिका का रूप भी देखिये जो अपने फेन के रूप में हँसकर गौरी के भ्रूभङ्ग की परबाह न करती हुई लहरों के हाथों से शम्भु के केश पकड़े हुए है—

१. तां कस्यांच द्रवमवलभो मुत्तपारावतायां

नीत्वा रात्रि चिरविलसन्तिखन्निविद्युत्कलत्रः ॥

२. गम्भीराद्याः पयसि सरितश्चेतसीष प्रसन्ने

छायात्मापि प्रकृतिमुमगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।

तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यहंसि त्वं न पैयी—

म्नोधीकतुं चट्टलराफरोद्वर्तनमेक्षितानि

पू० मे० ५०

तस्माद्यगच्छेरमुद्धनखलं शंखराजावतीर्णा

जङ्गोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपवितम् ।

गौरीवधत्रभ्रकुटिरचनां या बिहस्येव फेनैः

शभोः केशप्रहणमकरोविन्दुलम्बोमिहस्ता ॥ पु० मे० ५०

कैलास की गोद में पड़ी हुई भलका का यह कामिनी-रूप भी कुछ कम दर्शनीय नहीं—

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव खस्तयङ्गावुकुलां

न स्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां श्लास्यसे कामचारिन् ।

या वः काले बहति सलिलोदगारमुच्छ्विमाना

मुक्ताजालप्रचितमलकं कामिनीवाभ्रबुम्बम् ॥

‘कैलाश रूपी प्रेमी की गोद में पड़ी हुई भलका को, जिसका गङ्गा रूपी दुपट्टा खिसका हुआ होगा और जो वर्षा ऋतु में सलिल बरसाते मेघवृन्द को वैसे ही धारण करती है जैसे कामिनी मोतियों के जालों से ग्रथित अपने भलकों को, तुम देखते ही पहचान लोगे ।

मानवीय भावों और प्राकृतिक व्यापारों का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव इस श्लोक में कितनी सुन्दरता से व्यक्त हुआ है—

तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानाम्

शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो बन्धं भानोस्त्वजाशु ।

प्राप्तेयात्त्रं कमलबदनास्तोऽपि हर्तुं नलिन्याः

प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादवस्थाभ्यसूयः ॥ पु० मे० ३६ ॥

उस समय प्रेमियों को खण्डिता नारियों के अश्रु शाश्वत करने होंगे । अतः तुम तत्काल सूर्य के मार्ग से हट जाना क्योंकि वह भी (रात्रि में कहीं अभ्यस्य रह कर) लौटने पर नलिनी के कमलमुख में घोररूपी धाँसुधों को पोंछता हुआ तुमसे अपने करों (किरणों) का अवरोध पाकर अत्यन्त कुपित हो जायेगा ।

इस प्रकार कालिदास के प्रकृति-चित्रण में एक और प्रकृति का स्वतन्त्र रूप में वर्णन मिलता है जो ऋग्वेद के वर्णनों के समान ही शुद्ध एवं स्वतः पूर्ण है और दूसरी और वाल्मीकि द्वारा प्रकृति को प्रदत्त मानवीय मनोभावों की अभिव्यक्ति के साधन-रूप का भी निष्कार प्राप्त होता है । इतना ही नहीं, एक अन्य बिलक्षणता यह है कि प्राकृतिक पदार्थों का प्रतीकरूप में जैसा सशक्त और सुव्यवस्थित रूप कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है वैसा वाल्मीकि की रामायण में नहीं है । परबर्ती साहित्य में इन प्रतीकों का रुडिरूप में बहुत प्रयोग हुआ है । यह कहना कठिन ही नहीं असंभव है कि कालिदास ने ही इनका प्रचलन किया । संभव है यह कालिदास के उन पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव हो जिनके नाम और रचनाएँ आज सुप्त हो चुके हैं । कालिदास की शैली के सभी तत्त्व उनकी प्रतिभा और अभ्यास से ही प्रसूत हैं यह कहना असंभव

है। पूर्ववर्ती^१ सुरियों द्वारा प्रचालित परम्पराओं का बल भी उन्हें अवश्य प्राप्त था। इन प्रतीकों का एक उदाहरण लीजिए।

इवामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणं दृष्टिपातं

वक्षत्रच्छायां क्षशिनि क्षिप्तिनां बह्विधैरेषु केशान् ।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्

हृत्कस्मिन् वक्षचिदपि न ते क्षण्ड सादृश्यमस्ति ॥ ३० मे० ४१ ॥

अपनी पत्नी को संदेश भेजता हुआ यक्ष कहता है—मैं तुम्हारे शृंग का प्रियङ्गु लताओं में, चितवन का चकित हिरनियों के दृष्टिपात में, मुख की कान्ति का चन्द्रमा में, केशों का मोर के पिच्छ में और भ्रूविलास का सरिता की लघु लहरियों में दर्शन करता हूँ। ओह! मानिनि! किसी एक में तुम्हारी समूची समता नहीं दिखती।

नायक-नायिका के हृदय में काम का सञ्चार करने के लिये प्रकृति का उद्दीपन रूप कालिदास के चित्रण में बड़े ही सयत रूप में चित्रित हुआ है। उत्तरवर्ती कवियों ने तो इसकी अति ही कर दी है। कालिदास ने उद्दीपन के अतिरिक्त सुरतजन्य बलान्ति को शान्त करने के लिये भी प्रकृति को साधन बनाया है।^२ इसी प्रकार मनोभावों की अभिव्यक्ति में भी कालिदास वाल्मीकि द्वारा प्रदर्शित दिशा में बहुत दूर तक चले गए हैं। यहाँ हम प्रसङ्ग के अनुसार दोनों के केवल प्रेमपक्ष पर विचार करेंगे। वाल्मीकि ने प्रेम का एक अत्यन्त उदात्त स्वरूप सामने रखा है जिसमें आदर्श और कर्तव्य-भावना का ही उत्कर्ष है। सभोग पक्ष को उन्होंने उसका चरम उद्देश्य नहीं माना है इसीलिये रामायण के राम आदर्श और कर्तव्य की बेदी पर प्रेम की बलि देकर सीता का त्याग करते हुए दिखाई देते हैं। कालिदास ने भी आसक्तिरहित भोग का संकेत रघुवंश में प्रजायै गृहमेधिनाम् कह कर किया है, फिर भी उन्होंने सभोग शृङ्गार का भी पर्याप्त वर्णन किया है जिससे विलासिता की गन्ध आ सकती है। किन्तु इस मार्ग का प्रदर्शन भी आदिकवि बालि-वध के पश्चात् सुग्रीव और तारा के विलास का संकेत देते हुए कर चुके थे। यह कोई नयी बात नहीं थी। वैदिक ऋषि की “मय्यो न योषामभ्येति पश्चात्” उक्ति भी कुछ कुछ ऐसी ही व्यञ्जना प्रस्तुत करती है। धीरे धीरे कवियों ने भोगप्रधान प्रेम को काव्य का लक्ष्य बनाना प्रारम्भ किया। कालिदास के परवर्ती कवियों में तो शारीरिक भूख का उद्दाम रूप दिखाई पड़ता है किन्तु कालिदास प्रेम और शृङ्गार के कवि होते हुए भी भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। शृङ्गार का सभोग-प्रधान स्वरूप उन्होंने चित्रित अवश्य किया है किन्तु उसे आदर्श ग्रन्थवा कर्तव्य-भावना के ऊपर मान्यता कभी नहीं दी। जैसा कि कहा गया है मेघदूत में सभोगपक्ष के अनेक ऐसे चित्र हैं जिन्हें देखकर कालिदास के हृदय में भी शारीरिक भूख की आन्ति लोगों को हो गई है। इसीलिए एक किंवदन्ती

१ अथवा कृतवाग्दारे वशोऽस्मिन् पूर्वसुरिभिः ।

मणौ वज्रसमुत्कीर्णं सत्रस्येवास्ति मे गतिः, रघुवंशः प्रथम सर्ग ।

२ पूर्वमेव ३ ।

के अनुसार उन्हें निरंकुश विलासी और कुम्भीपाक से न डरने वाला भी बताया गया है। ऊपर संभोगव्यञ्जक प्राकृतिक व्यापारों का चित्रण उपस्थित करने वाले कतिपय श्लोक उद्धृत किये गये हैं। उज्जयिनी के नागरों की संभोगप्रवणता देखिए—

नीचैराण्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतोः

स्वसंपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुरुषैः कदम्बैः ।

यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिनयिराणा-

मुहामानि प्रथयति शिलावेदमभिर्योवनानि ॥ पू० से० २५

यक्ष मेघ से कहता है कि 'यहाँ विश्राम के लिये तुम 'नीचे' नाम के पर्वत पर रुकना जो अपने पूर्णतया विकसित कदम्बों के कारण तुम्हारे संपर्क-जन्य हर्ष से पुलकित-सा लगेगा। यह शैल सुगन्ध उड़ाते हुए अपने शिला-सदनों से उज्जयिनी वासियों के उद्दाम यौवन की सूचना देता रहता है। और भलकापुरी की ये लोकोत्तर रंगरेलियाँ जहाँ नक्षत्रों की कान्ति के फूलों से भलकृत महलों की स्फटिक निमित्त स्थली पर अपनी भलबेली कामिनियों के साथ बैठे हुए यक्ष लोग धीरे-धीरे बजते हुए मृदंग जैसे गम्भीर मेघ-गर्जन मे कल्प-वृक्ष से प्रसूत रति-सर्वस्व मधु का पान किया करते हैं—

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हृष्यंस्थलानि

ज्योतिश्छायामकुसुमरचितान्मृतमस्त्रीसहायाः

आसेवन्ते मधुरतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं

स्वगम्भीरध्वनिषु शनैः पुष्करेष्वाहतेषु ७० मे० ३ ॥

कालिदास ने मधु को 'रतिफल' कहा है। मधुपान के पश्चात् रागाधिक्य से शिथिलबन्ध कौशेय अधोवस्त्र को प्रियतम के चञ्चल हाथों की लपेट में पाकर लज्जा-मूढ रमणियाँ सुगन्धित द्रव्यों का चूर्ण मणि-प्रदीपों पर व्यर्थ ही फेंकती हैं।

नीवीदग्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां

शौभं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।

अक्षिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्तरत्नप्रदीपान्

ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ ७० मे० ५ ॥

सुरत-ग्लानि के अपसारण के संभार भी देखिये—

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजांसिगनोच्छ्वासिताना-

मङ्गलानि सुरतजनितानि तन्तुजालाबलम्बाः

रत्नसंरोधापगमविशदेवचन्द्रवादेनिशीथे

व्यालुप्यन्ति स्फुटजलजलस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ ७० मे ७ ॥

वहाँ, मेघों का अवरोध हट जाने से चन्द्रमा की निर्मल किरणों का स्पष्ट पाकर जलकण टपकाती हुई चन्द्रकान्त मणियों की झालरें, निशीथ-समय में, प्रियतम के गाढ़-भालिगन के कारण हाँफती हुई भंगनाओं की सुरत-जनित ग्लानि को दूर किया

करती हैं। जिनके घरों में अक्षय्य निधि मौजूद हों उनका सदा बिलासरस रहना स्वाभाविक ही है—

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-

रुगायद्भिर्बन्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम् ।

वैभ्राजास्यं विबुधवनितावारमुखाः सहाया

बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निबिडमिति ॥ ८०॥

तभी तो अभिसारिकाओं के अभिसरण मार्ग की यह दशा है—

गत्पुटकम्पाबलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः

पत्रच्छद्वैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिमिश्रं ।

सुकताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः—

नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥

जहाँ अभिसारिकाओं के झलकों से गिरे हुए मन्दार के पुष्पो, कानों से गिरे हुए स्वर्णकमलों और उरोजों से टकरा कर टूटे हुए हारों के बिखरे हुए मोतियों से सूर्योदय के बाद उनके रात के मार्ग का पता चलता है। इस प्रकार के वर्णनों पर दृष्टिपात करने से मेषदूत भोग-प्रधान काव्य प्रतीत होता है किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर उसके मूल में संयम का जो सूत्र आरम्भ से अन्त तक फैला हुआ है वह भारतीय अध्यात्मवाद और साधना के प्रति कवि की पूर्ण सजगता का द्योतक है। संसार में सबसे महनीय वस्तु है आत्म-नियोग अथवा स्वकस्तंभ्य। यक्ष ने प्रेमभाव में अधिक आसक्त होने के कारण उसमें शिथिलता दिखाई। विषयासक्तिजन्य प्रमाद का फल उसे भोगना पड़ा और जिसके कारण वह कस्तंभ्यव्युत हुआ आकर्षण के उस केन्द्र-बिन्दु से बहुत दूर रहकर उसे एक वर्ष त्याग और तपस्या का जीवन बिताने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस एक वर्ष में उसने बहुत कुछ सीखा, उसका जीवन-दर्शन ही बदल गया। सबसे बड़ी बात जो उसने सीखी वह यह थी कि जीवन में काम का स्थान क्या है? वह आत्म-कल्याण का साधन किस रूप में बन सकता है। निविचल सीमा से अधिक बढ़ने पर वह मनुष्य को नीचे गिरा देता है। झलका के वासी को भी रामगिरि पर ला पटकता है। इस एक वर्ष में उसने यह भी देखा कि काम भी सृष्टि का एक अनिवार्य तत्त्व है। उसकी निमित्तान्त उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। उसने रामगिरि पर रहते हुए चारों ओर की प्रकृति को देखा जिसमें सर्वत्र द्वैत था, किन्तु इस द्वैत को अभिभूत कर एकत्व और सामिप्य की लालसा का पारस्परिक आकर्षण भी कुछ कम नहीं था। इसके बिना प्रकृति का काम चल भी नहीं सकता था। यही आकर्षण साहित्यिक क्षेत्र में कामपद से अभिधेय है और इसके चित्रों से सारा पूर्वमेव भरा पड़ा है जिसके कुछ उदाहरण हम ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं। किन्तु काम स्वयं साध्य नहीं है वह शिव से संगत होने पर ही स्पृहणीय है। शिव (कल्याण) का प्रतिद्वन्द्वी होने पर तो उसका जलकर खाक हो जाना ही श्रेयस्कर है और शिव के अनुकूल बनकर वह विसक्षण जीवन चरण का सेता है। यक्ष ने

शिव के अनुकूल न पड़ने वाले काम के बश में होकर एक वर्ष का कठिन प्रवास भोग कर यह सीखा था और इसीलिए वह अपने कामरूप प्रकृतिपुरुष को उसकी उत्तर-यात्रा में सर्वत्र शिव के सामने नत होने का उपदेश देता है। काम कालिदास का दृष्ट भवस्व है किन्तु स्वच्छन्द अथवा धर्मव्यतिरिक्त एवं साधनाहीन काम उनकी दृष्टि में हेय है। 'दृष्टं धर्मेण योजयेत्' के अनुसार उन्होंने अपने काम को धर्म से युक्त ही रखा है जो उन्हें भोगप्रधान उत्तरवर्ती कवियों की श्रेणी से उठाकर वात्सीकी द्वारा अधिष्ठित प्रथमकोण कविपंक्ति के अन्तिम छोर पर बैठा देता है। संयोग में खोये हुए सन्तुलन को यक्ष ने विरहावस्था में पाया तभी तो वह सरिरप्रेयसियों का रस-ग्रहण करने और विद्युत् के साथ विरविलास करने का उपदेश देता हुआ भी मेघ से स्पष्ट शब्दों में देव-सेना के रक्षक शिव के तेजःस्वरूप स्कन्द पर आकाशगङ्गा के जल से आर्द्र पुष्पों की वर्षा करने के लिए कहता है।^१ शिव के तेजःस्वरूप स्कन्द की ही पूजा नहीं अपितु स्कन्द के मोर की भी, जिसका बर्ह भवानी भी पुत्र-प्रेम के कारण अपने नीलकमल से सुशोभित कान में धारण करती हैं^२; प्रसन्न करना आवश्यक है।

मेघ के गर्जन का चरम फल धरती को उपजाऊ बनाने^३ अथवा स्तनितसुभग वेत्रवती के मुखरस का पान^४ करने में ही नहीं है अपितु स्कन्द के मोर को नृत्य-मुख-प्रदान करने और शिव की आरती के वाद्यों में सहयोग देने में है^५ और उसके शरीर का चरम उपयोग शिव की इच्छापूर्ति में है—

पदबावुर्ध्वभुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः

सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परसतं दधानः ।

नृत्यारम्भे हर पक्षपतेराङ्गनागाजिनेच्छां

शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्वाः ॥ ३६ ॥

शिव के चरणचिह्न की भक्तिपूर्वक परिक्रमा भी उतनी ही आवश्यक है —

तत्र वक्षतं बुधवि चरणग्यासमर्भोऽधुमीलेः

सहवसिद्धंरुपचितर्बलि भक्तिमन्त्रः परीयाः ॥ ५५ ॥

किन्नरियों द्वारा गीयमान त्रिपुरविजय-गीतों में अपने गर्जन से गिरि-कन्दराओं को मृदंग के समान गुंजाता हुआ मेघ संगीत को पूर्णता प्रदान करे तो अच्छा है —

निह्नादिस्ते मुरज इव चेत्कम्बरेषु ध्वनिः स्या—

संगीतार्थो ननु पक्षपतेस्तत्र भाषी समग्रः ॥ ५६ ॥

इस कामरूप पुरुष की कृतार्थता इसमें है कि अपने अन्तस् की समूची

१. पूर्वमेघ ४३ ।

२. „ ४४ ।

३. पूर्वमेघ ११ ।

४. „ २४ ।

५. „ ३४ ।

रसमयता और चपलता को स्तम्भित कर शिव-पार्वती के चरणों में जा पड़े —

हित्वा तस्मिन् भुजगवलय शभुना बलहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी ।

भङ्गीभक्त्या विरचितघपुस्तम्भिताग्नजलोद्य

सोपानत्वं कुरु मणितटारोह्यायाप्रयायी ॥ पू० मे० ६० ॥

इन सब बातों में अध्यात्मभाव की स्पष्ट झलक मिलती है जो काम के कर्मण को जलाती हुई उसके सुवर्णरूप को सामने रखती है। कालिदास के कामरूप मेघ की यात्रा का लक्ष्य झलकापुरी है जहाँ एक ओर तो कामी जन मुख्य अप्सराओं के साथ वार्तालाप करत हुए 'वैभ्राज' नाम के बहि स्थित उपवन में प्रवेश करते हैं^१ और दूसरी ओर भगवान् शिव को वहाँ साक्षात् बसते देखकर कामदेव अपना धनुष ही धारण नहीं करता।^२ शिव के मस्तक के चन्द्र की चाँदनी इस भोगपुरी झलका के भवनों को धवलित करती रहती है और यह झलका शिव के निवास कैलाश के उत्सङ्ग में ही तो विद्यमान है। जैसा कि डा० वासुदेव शरण ने मेघदूत के अपने अनुवाद की भूमिका में दिखाया है, शिव के स्वरूप का पूरा पूरा सन्निवेश कालिदास ने इस रचना में कर दिया है। उज्जयिनी में महाकाल शिव के पवित्र धाम का उल्लेख, उनके गणों का कण्ठ के नीले होने का, नृत्य का और गजामुर के चर्म-परिधान का उल्लेख है।^३ शूली कह कर उनके त्रिशूल की ओर भी संकेत किया गया है, चण्डी भवानी और गौरी के नाम, शिव के घट्टहास^४, उनके वृषभ^५, जटाओं में बहती हुई गङ्गा और पार्वती के साथ उसके सपत्नीभाव का वर्णन भी है।^६ पार्वती के साथ उनके विहार का^७ उनके सपर्वलयों का, कुबेर के साथ मंत्री का, त्रिपुरविजय और किन्नरियों द्वारा उसके गान का उल्लेख भी किया गया है। शिवजी त्रिनयन (१/५६) हैं, उनके ललाट पर स्थित द्वितीयाचन्द्र (१/५६) मदन-दहन, कैलास-निवास १/६०, और पशुपति (१/६०) होने का भी वर्णन है। शिव के चरणन्यास की परिक्रमा स्थिर पद प्रदान करने वाली है। स्कन्द के जन्म का और उनके मोर का भी वर्णन है। शिव का तेज सूर्य से भी अधिक तेजस्वी है जो अग्नि के मुख में संचित होकर कुमार के जन्म का कारण बना — अत्यादित्यं हुतबहुमुखे सभूत तद्वि तेजः। (पू० मे० ५७)। मेघदूत के अध्ययन से प्रमूत उक्त निष्कर्षों की छाया में प्रो० हिरियमा का

१ वैभ्राजस्य विबुधवनितावारमुग्यामहाया

वदालापा बहिरुपवन कामिनो निविशन्ति ॥ उ० मे० ८ ॥

२ मन्वा दद धनपत्तिमय यत्र मात्ताहमन्त

प्रायश्चाप न वक्ति भवात्ममथ पदपदज्यम् ॥ उ० मे० १० ॥

३ पू० मेघ ४० ।

४ वहा, ६४ ।

५. ,, १ ।

६. ,, ५४ ।

७. ,, ६४ ।

यह कथन कुछ विरुद्ध सा प्रतीत होता है कि— Here the poet describes the frustrated love between a yaksha and his consort and his thoughts are so much engrossed with that feeling that he ignores almost everything else.¹

किन्तु बात वास्तव में ऐसी है नहीं, उनके इस कथन का तात्पर्य यही है कि प्रेमभाव की अनुभूति कवि में इतनी सघन हो उठी है कि अन्य अनुभूतियाँ उसमें विलीन हुईं सी प्रतीत होती हैं। भारतीय आदर्श, विश्वास और मान्यताएँ—एक शब्द में भारतीय संस्कृति—उनके विचार और भावों में रमी हुई है। वहाँ द्वैत भावना का प्रश्न ही नहीं। इसलिए वह उनके प्रेममत्त्व के परमाणुओं में घनायास ही समाविष्ट है जिनके कारण उनका प्रेमविषयक आदर्श अपने वर्तमान रूप को पा सका। अस्तु, संभोग और साधना का, श्रेय और प्रेय का, आदर्श और यथार्थ का जैसा सुन्दर समन्वय कालिदास ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वे वाल्मीकि की आध्यात्मिकता और आदर्श तथा परवर्ती कवियों के उद्दाम-शृङ्गार वर्णन की प्रवृत्ति के बीचों बीच खड़े हैं। शृङ्गार का उन्मुक्त स्वरूप—प्रेमपथ पर अविवारित पदव्यास—उन्हे पसन्द नहीं था और उसके लिये यक्ष से, शकुन्तला से और पुरुरवा से उन्होंने पूरा-पूरा प्रायश्चित्त कराया है। इस क्षेत्र में असावधानी का फल मनुष्य को भोगना पड़ता ही है यह एक प्राकृतिक व्यवस्था है और कालिदास ने मानवजाति के सामने ऐसे पात्रों की अवतारणा कर इस और से सजग रहने का सन्देश दिया है। प्रायश्चित्त के रूप में विप्रलम्भ की जो योजना कालिदास करते हैं वह भी अभूतपूर्व है। वियोग का कारण इतना बलिष्ठ होता है कि उससे बचकर निकला ही नहीं जा सकता। यह कारण किसी दैवी बिभूति के शाप के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शाप-विप्रलम्भ की अवश्य-भोक्तृभ्यता के कारण ही भरत ने उसे करुण के ही अन्तर्गत माना है।² यक्ष-यक्षिणी कुबेर के शाप के कारण, दुष्यन्त-शकुन्तला दुर्वास के शाप के कारण और पुरुरवा-उर्वशी स्कन्द के शाप के कारण वियुक्त होते हैं। शापहेतुक विप्रलम्भ की यह योजना कालिदास का अपना आविष्कार है जिसे परवर्ती कवियों ने भी अपनाया और आचार्यों की काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसे स्वतन्त्र स्थान देना पड़ा। शाप के कारण वियोग की बात आज के आलोचक की रूचि के अनुकूल चाहे न बैठे किन्तु उसके मूल में जो भावना निहित है वह सब को मान्य है। उसे नया आलोचक चाहे (Poetic Justice) कह ले और चाहे आदर्शवाद। अलौकिकता का यह समावेश लौकिक व्यवस्था को दुर्गता प्रदान करने के लिए ही है। इसी को आप चाहें तो स्वर्ग और मर्त्यलोक का एकत्र मिलाप भी कह लीजिये। इस प्रसंग में एक बात और है, वह यह कि कालिदास का प्रेमदर्शन सवासोलह आने अपना है; आर्य-मार्ग

1. संस्कृत स्टडीज, पृष्ठ ८।

2. कुरुक्षेत्र शापकलेशविनिपातनेष्टजनविप्रयोगविभवनाराधनवन्धनसमुत्थो निरपेक्षभाव औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः। नाट्यशास्त्र अ० ६, पृष्ठ ७३।

पर अवधारित है। वह बास्मीकि द्वारा चित्रित सीता-राम के प्रेम का स्वतः सिद्ध विकास है। उस पर घाभीर जाति के उन्मुक्त जीवन-दर्शन और प्रेम-विधान की छाप नहीं है। इसके लिये अलग प्रमाण की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उसी से यह भली-भाँति समर्थित हो जाता है।

कालिदास की एक अन्य विशेषता, जो परवर्ती संस्कृत गीतिकारों और कवियों में प्रायः नहीं मिलती है अथवा अपवाद रूप में ही मिलती है, यह है कि उनकी दृष्टि सर्वदा जीवन के विस्तृत क्षेत्र में विचरण करती रही है। नागर जीवन का कृत्रिम चाकचक्य उसके प्रसार को घागे बढने से कही नहीं रोक सका है। लोक-निरीक्षण और विविध जीवन व्यापारों के वे धनी हैं। प्रकृति से उनका अव्यवच्छिन्न लगाव है। इसलिये उनके इस छोटे से गीतिकाव्य में वे सभी गुण समाविष्ट हो गए हैं जिनके कारण गाथासप्तशती का भाज भी इतना आदर है। उत्तरी भारत के समग्र प्रसार में पढ़ने वाले नदी-नद, वन-पर्वत, वृक्ष-लताएँ, पशु-पक्षी, ग्राम-नगर, जल-वायु, आदि के स्वभाव और व्यापारों की बानगी इसमें संगृहीत हैं। अलका की मणिमय-भवनविहारिणी दिव्य नायिकाओं से लेकर कुञ्जविहारिणी वनचरवधुओं तक के विहार का वर्णन मेघदूत में मिलता है। आकाश में उड़ते हुए मेघ को देखकर प्रोषितपतिकाएँ प्रियतम के आने की आशा से टकटकी लगा कर देखने लगती हैं।¹ वही पर्वत के ऊपर उड़ता हुआ मुग्ध सिद्धाङ्गनाओं को विस्मय में डाल देता है उन्हें ऐसा लगता है जैसे पहाड़ की चोटियों को पवन उड़ा ले जा रहा है।² भ्रूसंचालन के रहस्य को न जानने वाली ग्रामीण वधूटियाँ उसे कृषि-सर्वस्व मानकर प्रेमभरे नयनों में भर लेना चाहती हैं।³ पर्वतीय कुञ्जों में रमण करने⁴ वाली वनचरवधुएँ, पुष्प-चयन करती हुई मालिन, जिनके कानों के फूल कपोल के स्वेद को पोंछने में रगड़ खाने से कुम्हला गए हैं।⁵ विद्युत्-प्रभा से चकाचौंध नारियों की चंचल चितवन, जल-विहाररत आवन्तिकाएँ,⁶ चरणों की ठुमक से रुन्मुन करती हुई मेखला वाली तथा चामर-संचालन से विधिल हाथों वाली कटाक्ष-निपुण वेश्याएँ⁷ भ्रूविभ्रमों से परिचित दशपुर की स्त्रियाँ जिनके ऊपर उठते हुए श्वेत श्यामल नेत्र सघन और दीर्घ बरुनियों के कारण वायु से दोलायमान कुन्द पुष्पों से पीछे हट जाने वाले भ्रमरों की शोभा को चुराते से प्रतीत होते हैं।⁸ अपने कंकणों के रत्नों के आधान से मेघ को भेद कर फव्वारा बना लेने वाली केलि-चपल सुर-ललनाएँ⁹ और तिरछी भौंहों के कटाक्षों से काम के धनुष-बाण का कार्य करने वाली अलका की यक्षिणियाँ, सभी उस भ्रमर कवि के प्रतिभा-पीयूष से शब्दचित्रों में भी मानो सजीव हो उठी हैं। मेघदूत के कथानक जैसे

1. मेघदूत १-१०।

6. वही १-३३।

2. „ १-१४।

7. „ १-३५।

3. „ १-२६।

8. „ १-४७।

4. „ १-२६।

9. „ १-६१।

5. „ १-३३।

छोटे से कैनवैस पर चित्रों का यह विचित्र वैविध्य सचमुच काव्य-कला के असाधारण उत्कर्ष का परिचायक है।

कालिदास की एक अन्य विशेषता, जिसके कारण वे दूसरे कवियों से ऊपर उठे दिखाई देते हैं, यह है कि रुद्रियों के प्रति उनके मन में मोह नहीं है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। यक्षपत्नी के वर्णन में उनका एक श्लोक है जिसके अनुसार वह तन्वी, श्यामा, शिखर युक्त दातों वाली, पके हुए विम्बफल जैसे अघर वाली तथा कुशोदरी है। उसकी चितवन हरिणी जैसी है और नाभि गहरी जघन-स्थल के भारी होने के कारण वह मन्द-मन्द चलती है और उरोजों के भार से कुछ झुकी-सी लगती है।¹

इस पद्य में स्थूल रूप से नख-शिख वर्णन किया गया प्रतीत होता है किन्तु कवि का उद्देश्य नखशिख वर्णन ही नहीं है। उसका प्रमुख लक्ष्य है सन्देश वाहक को उसकी पहिचान बताना जिससे उसे चीन्ह कर वह सन्देश कह सके। यक्ष ने अपनी प्रेयसी का नाम तो बताया ही नहीं है। धर्मशास्त्र के अनुसार अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को अपना, गुरु का, अत्यन्त कृपण का, ज्येष्ठ सन्तान का और पत्नी का नाम नहीं लेना चाहिए।² इसलिए वह उसके आकार-प्रकार से ही उसे मेघ के लिये सहज अभिज्ञेय बना देना चाहता है। उसके शृङ्गों की विशेषताओं द्वारा मेघ उसे पहिचान लेगा, किन्तु सहसा यक्ष को ध्यान आया कि ये विशेषताएँ भलका की अन्य युक्तियों में भी हो सकती हैं। अतः वह उसके अनिवर्चनीय लावण्य को ही उसकी सहज पहिचान का चिह्न बतलाता हुआ कहता है—

‘या तत्र स्वाद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः’

हमारे कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि कालिदास की रचना में शृङ्गार-जगत् की कविसिद्ध प्रौढ़ियों का सर्वथा अभाव है। अपने घर की पहिचान के लिये यक्ष कहता है कि उसके उपवन में एक बावड़ी होगी जिसमें मरकत की सीढ़ियाँ बनी हुई होंगी और चिकने वैदूर्य के मृणाल वाले कमल खिल रहे होंगे। उसके विमल आस में रहने वाले हंस वर्षा में भी मानसरोवर की ओर जाने की बात नहीं सोचते। उसके किनारे पर इन्द्रनील मणियों से बना हुआ कृत्रिम कीड़ा लाल है जो सुनहली कदलियों से चिरा है। उस केलिसाल पर कुसुम के वृक्षों से घिरा माघधी लताओं का कुञ्ज है जिसके समीप एक लाल अशोक का और एक भोलसिरी का वृक्ष है।³ यहाँ तक तो कोई विशेष बात नहीं कुछ अतिरञ्जन के साथ सम्पन्न वर्ग के ऐश्वर्य का यह चित्रण तत्कालीन सामाजिक दशा पर प्रकाश डालता है। सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक ह्रास में पिछले लेख के कवियों ने कुछ तो परम्परा-पालन के आग्रहवश

1. तन्वी श्यामा शिखरिदराना पक्वविम्बाश्रोष्टी
मध्ये धामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रीलोकानन्दसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्
या तत्र स्वाद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ १६ ॥
2. आत्मनाम युरो नाम नामाति कृद्व्यस्य च
अवस्कामो न गृहीत्याज्येष्टापत्यकलत्रयोः ॥
3. उज्ज मेघ, १३, १४, १५ ।

और कुछ अपनी कुंठित वासनाओं की सन्तुष्टि के लिये भले ही यह अपनाया हो किन्तु कालिदास के समृद्ध युग में यह वर्णन स्वाभाविक ही था, परन्तु प्रागे चलकर जब कालिदास कहते हैं कि उन रक्ताशोक और मौलसिरी के वृक्षों में एक तो तुम्हारी सखी के वामपाद का तथा दूसरा उसकी मुखमदिरा का इच्छुक है ।

(एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी

काङ्क्षस्यन्वो बदनमदिरां बोहवच्छद्मनाऽस्याः) ॥ उ० मे० १५ ॥

तो रुडिपालन के अतिरिक्त इसका कोई अन्य उद्देश्य दीख नहीं पड़ता । इसी प्रकार कैलास की गोद में पड़ी खस्तगङ्गादूकला भ्रका^१ में स्वाधीनपतिका के रूप का आधान चाहे कवि का इष्ट न रहा हो और वह मल्लिनाथ आदि टीकाकारों की प्रतिभा का ही परिणाम हो किन्तु अभिसारिकाओं^२ का विशद वर्णन और खण्डिता^३ का स्पष्ट उल्लेख जान-बूझकर उनके समावेश का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं । इस से यह पता चलता है कि कालिदास से पहले से ही एक पर्याप्त पृष्ठ नायिका-भेद-वर्णन-परम्परा चली आ रही थी और कालिदास ने परम्परा-प्राप्त कतिपय रुडियों का पालन करने के अतिरिक्त कुछ ऐसी मौलिक कल्पनाओं का वर्णन भी है जो स्वयं प्रागे के कवियों और आचार्यों को रुढ़ि के रूप में आकृष्ट कर सकी ।

मेघदूत का भावपक्ष बड़ा है प्रबल और इस बात का स्वयं साक्षी है कि वह वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत मार्ग का अत्यन्त परिमार्जित रूप है । उनकी सभी रचनाओं में भावनाओं की गहराई में इतिवृत्त प्रायः डूब सा गया है । इसीलिए उनके प्रबन्धकाव्य भी गीति काव्य के अधिक निकट आ गये हैं । विरहिणी यक्षपत्नी का यह स्वरूप कितना मार्मिक है—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिभ्याकुला वा

मत्सावश्यं विरहन्तु वा भावगम्यं लिखन्ती ।

पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां

कच्चिदूर्ध्वं स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥ उ० मे० २२ ॥

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां

मङ्गोत्राङ्कं विरचितपद्मं गेयमुद्यातुकामा ।

तन्म्रीमाश्रौ नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चित्

भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥ २३ ॥

मित्र मेघ ! ज्यों ही तुम्हारी दृष्टि पड़ेगी तुम उसे मान-मनौती करती हुई पाओगे या फिर वह अपनी कल्पना से मेरा विरह-क्षीण चित्र बनाती हुई मिलेगी अथवा पित्रे में स्थिति मधुर-वचना सारिका से पूछ रही होगी कि क्या तुम स्वामी का स्मरण करती हो ? तुम तो उन्हें बहुत प्यारी हो । यह भी हो सकता है कि वह मेरे नाम से अंकित गीतबद्ध पदावली के गान की इच्छा से अपनी मलिन गोद में

1. प० मे०, ६३ ।

2. वही, ३७ ।

3. वही, २६ ।

धीना को डाल कर आसुओं से भीगे हुए तारों पर जैसे-तैसे मिजराब लगाकर बार-बार स्वयं ही उठायी हुई मूर्च्छना को भूलती हुई दीख पड़े ?

और यक्ष की यह विवशता जो दैन्य, स्मृति, विषाद और जड़ता के साथ कृतान्त के प्रति असूया के पञ्चामृत से अनुप्राणित हो उठी है—

त्वामालिख्य प्रणयकुशितां धातुरागैः शिलायाम्

आत्मानं ते चरणपतितं यावद्विच्छामि कर्तुम्

अश्रंस्तावन्मुहुरपचित्तं दृष्टिरालप्यते मे

कूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नो कृतान्तः ॥३० मे॥

शिला पर गेरू आदि से तुम्हारा प्रणय-मान की अवस्था का चित्र बनाकर मैं ज्यों ही तुम्हारे चरणों में गिरना चाहता हूँ मेरी दृष्टि फिर उमड़ते हुए आसुओं में लुप्त हो जाती है। हाय ! कूर काल को उसमें भी हमारा मिलन नहीं सुहाता।

वियोग की प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय दशाएँ, मेघदूत में मिल जाती हैं। यक्षपत्नी मधुपान आदि बाह्यभोगों से विरक्त होकर अन्तर्मुखी हो उठी है। अभिलाष और विन्ता से वह अभिभूत है। मत्संगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती^१ मे गिने खुने शब्दों द्वारा इन दोनों भावों की व्यञ्जना हुई है। 'संगमेच्छा अभिलाषः' के अनुसार संगम का हृदयनिहित होना अभिलाषा का सूचक है और मिसनरात्रि के संयोग की कल्पना करके उसका आनन्दास्वादन करना चिन्ता^२ है। 'कञ्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रिया, में स्मरण की व्यञ्जना है।' "मद्गोत्राङ्गं विरचित-पदं येयमुदगायुकामा मे गुणकथन का संकेत है। वह प्रियतम के गुणगान से मन को बहलाना चाहती है किन्तु आसुओं की व्याधि उसे यह भी नहीं करने देती। जड़ता उसे घेर लेती है और वह मूर्च्छना के स्थान में मूर्च्छा ही पाती है।^३

ये उदाहरण इस तथ्य के साक्षी हैं कि एक-एक पंक्ति में भावों का प्रवाह सागर भर देने की शक्ति कालिदास में है। मेघदूत के इस भाव सागर में कथानक दीख ही नहीं पड़ता। प्रो० हिरियन्ना का यह मत समीचीन ही है—

The plot all but reaches the vanishing point. There is only the faintest allusion to the incidents that leap upto the bitter disappointment, and the poet does not care even mention the names of the hero and heroine.

(Sanskrit studies pp. 8)

डा० रामखेलावन पाण्डेय का यह कथन कि "इसके आधार रूप में आख्यान का अप्रग्रह भी कम नहीं इस कारण इसमें गीतिकाव्य और आख्यानकाव्य के तत्त्वों का सम्मिश्रण है" ठीक नहीं जँचता। आख्यान काव्य में कथा का प्रवाह प्रमुख लक्ष्य

१. मेघदूत २/५४

२. दर्शनसंगोपगोः प्रकारभावना चिन्ता।

३. विस्मरणं यत्र दधितगुणस्मृतिजनितमूर्च्छाविरादेव, मल्लिनाथ, उच्छ्र मेघ २३।

रहता है। भाव के लिए उसका बलिदान करना अभीष्ट नहीं होता जबकि गीति-काव्य में इसके विपरीत कथानक का आग्रह नहीं होता और वह भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र समझा जाता है। यदि मेघदूत में कथानक का आग्रह होता तो उसके प्रवाह को बनाये रखने के लिए कवि सर्वत्र प्रयत्नशील रहता किन्तु उस ओर से वह पूर्णतया उदासीन है। पाण्डेय जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि “मन्दाक्रान्ता में एक ओर विषाद की जहाँ गम्भीर व्यञ्जना हुई वहीं कथानक के विकास में विरोधी भी उत्पन्न हुआ” इस आधार पर उनका कहना है कि इसमें प्रगीतगाथा का आग्रह अधिक है किन्तु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि “मेघदूत का गीतिकाव्यत्व देखने योग्य है”। (गीतिकाव्य, पृष्ठ ७)

मैकडालन ने इसे गीतिरत्न¹ तथा प्रो० हिरियन्ना ने महत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्यों में से एक बताया² है।

वियोग-दशाओं का यह चित्रण परिपाटी का पालन करने के लिए ही नहीं है। इसकी स्वाभाविकता इन अनुभूतियों के प्रति कवि के हृदय की सच्चाई का प्रमाण है। परम्परा के पालन की प्रवृत्ति ही जहाँ प्रमुख बन जाती है वहाँ वर्णन ऊपर से थोपा हुआ सा प्रतीत होता है। कवि के मानस का मुक्तानिमल मधुर रस उसमें घा नहीं पाता। मेघदूत में व्यक्त स्वतः उच्छ्वसित भावनाओं के कारण ही विद्वानों का अनुमान है कि यह कालिदास की वैयक्तिक अनुभूतियों, तथा उनके द्वारा स्वयंमुक्त प्रणय-अनुभवों से अनुप्राणित है। कीथ का कथन है कि कदाचित् अपना ही अनुभव उनकी इस रचना में व्यक्त हुआ है क्योंकि यज्ञ के निवास का जैसा वर्णन उन्होंने किया है वह वास्तविक जीवन से लिया गया प्रतीत होता है।³ डा० रामखेलावन पाण्डेय का कहना है कि कालिदास ने वैयक्तिक हृष्य शोक व्यञ्जना की है।⁴ किन्तु किसी रचना में उसके प्रणेता की जीवन-घटनाओं का समावेश केवल इसलिये मान लेना कि वह जीवन के यथार्थ एवं स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करती है, असमीचीन और भ्रामक दृष्टिकोण का परिचायक है। कवि का दृष्टिकोण किन्हीं अंशों में व्यापक होता है उसकी अनुभूति जगत् की अनुभूति होती है। और जगत् की अनुभूति उसकी अनुभूति होती है। वैयक्तिकता की यह खोज गीतिकाव्य में कवि की वैयक्तिक अनुभूति को अनिवार्य मानने वाले पाश्चात्य दृष्टिकोण के आग्रह स्वरूप ही है। इस सम्बन्ध में साधारणीकरण का भारतीय सिद्धान्त ही हमें माननीय है जिसके अनुसार काव्य-गत भाव व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से व्यवच्छिन्न रहता है और प्रत्येक व्यक्ति से

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३३५।

2. 'मेघ संदेशपदावली' की भूमिका।

3. Perhaps Kalidasa had some experience of his own which the poet indicates for the vivid colours in which he describes the Yaksha's abode seem to be drawn from real life (*Hist. of sans. Lit.*, p. 86).

4. गीतिकाव्य, पृष्ठ ७।

सम्बन्धित भी हो सकता है, भूत-लोक का कोई भी अनुभव अपने कवि का स्वभाव अनुभव भी होता है। उसकी अभिव्यक्ति में भी वही भाविकता स्वतः व्यक्तित्व ही जाती है जो उसकी व्यक्तित्व अनुभूति की अभिव्यक्ति में होती।

जैसा कि कहा जा चुका है, रस की समाहित सर्वप्रथम नाटक में ही पायी गई थी। बहुत दिनों तक काव्य का सम्बन्ध रस से व्यवच्छिन्न रहा। बाद में जब काव्य शास्त्र के व्युत्पादकों के सम्मुख काव्य के अन्य अङ्ग भी स्थापना करने में सक्षम पाए गए तो रस का सम्बन्ध काव्य से भी जोड़ने के प्रयत्न हुए। इससे पूर्व काव्य में अलङ्कार अथवा वाग्वैदग्ध्य को ही प्रमुखता प्राप्त थी। जब कुछ भावार्थों के प्रयत्नों से रस ने भी काव्य के क्षेत्र में वाग्वैदग्ध्य प्राप्त करनी चाही तब पहले से ही घलावा जमाए हुए अलङ्कारवाद एवं उसके समर्थकों ने इस नवागन्तुक का विरोध किया। कुछ सीधे तान चलती रही तो अभिपुराण के रचयिता मुनि के समन्वय किया कि "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्"। रस की यह विजय कालिदास के काव्य की विजय थी जो उसे वाल्मीकि द्वारा प्रवर्णित भावप्रधान सुकुमार मार्ग पर चल कर प्राप्त हुई। इस रस-व्यक्ति का सूत्रपात अत्यन्त रूप से कालिदास ने ही किया और इसकी सफलता का अधिकार्य श्रेय भी इन्हीं को है।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी कालिदास का अपना विशिष्ट स्थान है। वे वैदर्भी रीति के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। शैली की दृष्टि से जो सबसे बड़ी विशेषता उनमें पाई जाती है वह है उसकी ध्वन्यात्मकता। बोझा कहकर बहुत कुछ छिपा लेना, और इस ढग से छिपा लेना कि सहृदय-हृदय के प्रतिरिक्त ध्वन्य उसकी छाया भी न पड़े, कालिदास का सबसे बड़ा गुण है। वे बहुत बोझा कहते हैं फिर भी सब कुछ व्यक्त हो जाता है। वाल्मीकि ने सब कुछ कह डालने की—एक समग्रतापूर्ण मूर्त चित्र उत्पन्न देने की प्रवृत्ति है। कालिदास की कला में नबोडा के समान कुछ ध्वनियों में ही अन्त समाप्त कर देने और एक अलक भर दिखा देने का बिलास-विश्रय है जो भाविक कारगर है। एक उदाहरण लीजिए, यज्ञपत्नी का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

आविलामा विरहस्यने समिवर्णकपाश्या

प्रचीदुते तनुमिव कलामात्राशेषा हिमांशो ॥३०॥ मे० २५१॥

विरह-वर्णित कृशता सूचित करने के लिए आविलामा शब्द का प्रयोग किया गया है भूत "तनुमिवकलामात्राशेषा हिमांशो" का प्रयोग केवल कृशता-व्योक्त करने के लिए नहीं है। कवि का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा की एक कला (१५वाँ अंश) बुझती ही भाजा मिले होती है उसी प्रकार यज्ञपत्नी भी विरह-वर्णित अवस्था से युक्त है। विरह-धन्य शब्द का अर्थ अस्तिनाय ने विरह-वस्था में उपयुक्त व्योक्त पञ्चादिनिर्मित समय बताया है, किन्तु इस रुढ़ि को जोड़कर हम विरह-धन्य का अर्थ (विरह-प्रभाव धन्यम्) विरह-प्रभाव समय लेते हैं। यह धन्य बड़ी है जिस पर वह व्योक्तवस्था में अपने प्रति के साथ समय करता है। अन्तर्विरोधात्मकता में विरह बने की वशा और धन्य ही वस्तु वस्तुवशा है किन्तु अन्तर्विरोध के कारण विरह की अवस्था के अन्तर्गत ही ही वही अभिव्यक्ति

के बढ़ जाने के कारण वह और भी सबल (प्रधान) हो जाता है। इससे आधि (मानसिक व्यथा) भी बढ़ जाती है और आधिक्षामा विशेषण की उपयोगिता स्पष्ट दीख जाती है। यक्षपत्नी एक करबट (सन्निपण्णेकपाश्वरी) लेटी हुई बताई गई है जिससे उसके समक्ष शयन का दूसरा पार्श्व जो प्रियतम द्वारा अधिष्ठित रहा करता था, खाली पड़ा हुआ वेदना को और भी असह्य बना रहा है। कलामाधशेषा में शेष शब्द विशेषतया लक्ष्य करने योग्य है जो इस बात का सूचक है कि यक्ष पत्नी की तुलना अमावस्या के पश्चात् दिखाई पड़ने वाली चन्द्रकला से नहीं की गई है अपितु कृष्णपक्ष की चतुर्दशी में दाखने वाली कला से। कारण स्पष्ट है शुक्लपक्ष में अकेली दीख पड़ने वाली कला उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है किन्तु कृष्णपक्ष में घटने-घटते वह (चतुर्दशी को) एकाकिनी रह जाती है और दूसरे दिन बिलकुल नुप्त हो जाती है। यक्षपत्नी भी कुछ हाता होती इतनी दुबली हो गई है कि उसका अनिष्ट कभी भी हो सकता है। इसे विरह की कौन-सी दशा माना जाये? मूर्छा तो यह है ही नहीं। आप चाहें तो प्रकारान्तर से मरण दशा की अभिव्यक्ति मान लीजिए। पर वस्तुतः यह मरणासन्नता है। गिने-चुने शब्दों में कवि न न जाने क्या-क्या कह दिया। कालिदास के शब्द अभ्रकशिलाखण्ड के समान व्यंग्यार्थों की तह जमाए हुए मिलते हैं। जिनकी ओर से उन्हें देखें, जितना अधिक देखें, वे उतना ही सौन्दर्य प्रकट करते हैं। क्षण-क्षण में नयता को प्राप्त होती हुई यह कविता-कामिनी सचमुच “कविकुलगुरु, कालिदासो विलास” उक्ति को चरितार्थ करती है—“ज्यो ज्यो नीके देखिये रूप अगाध अपार”।

कालिदास की शैली में स्वाभाविकता और सरलता है। वह सरल एवं प्रसाद पूर्ण है, परन्तु रामायण अथवा महाभारत की प्रासादिकता से मेघदूत की प्रासादिकता भिन्न कोटि का है। रामायण की प्रासादिकता में कथा-प्रवाह को बनाये रखने का आग्रह भी बहुत कुछ कारण रहा है। अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग इस दृष्टि में उत्प्रेक्षणीय है। वास्तव में विवरण मात्र देने वाली शैली की प्रासादिकता और एक कलाकृति की प्रासादिकता में जो अन्तर हो सकता है वही इन रचनाओं में भी है। दोनों की शैली मूलतः एक सी ही हैं। लम्बे-लम्बे समास, विलम्बित कल्पना और दुर्लभ शब्दों के प्रयोग से दोनों को बचाया गया है, फिर भी दोनों के ‘फिनिश’ में अन्तर है। वाल्मीकि की शैली में जो वन की लताओं जैसा स्वच्छन्द विलास दिखाई देता है वह कालिदास में व्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध रूप में परिणत हो गया है। खुरदरेपन के स्थान से एक प्रकार की स्निग्धता उसमें व्याप्त हो गई है। शब्दों के कौशलपूर्ण विन्यास के कारण कालिदास की शैली में व्यञ्जकता और लालित्य दोनों चरम उत्कर्ष पर हैं। अलङ्कार की प्रवृत्ति कालिदास में वाल्मीकि की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक है फिर भी उनके अलङ्कार-उपकरण कृत्रिमता का आभास नहीं देते। उनकी सादगी अभिव्यक्ति को एक विशेष सौन्दर्य प्रदान करती है। एक शब्द में हम कह सकते हैं कि कालिदास की शैली अधिक ‘साहित्यिक’ है। उसमें वाल्मीकि की शैली के मूल तत्त्वों—स्वाभाविकता और सरलता—की पूर्ण रक्षा

करते हुए सुकुमारता, सरसता और रमणीयता का समावेश कर दिया गया है किमोरा-वस्था के उन्मुक्त हास्य और चपलता के स्थान में उसमें जीवन-प्रेरित मन्द स्मिति और तरलता की प्रतिष्ठा हो गई है। मेघदूत के शैली-सौन्दर्य पर प्रकाश डालते हुए प्रो० हिरियन्ना ने कहा है :—

“There is nothing that is archaic or abstruse in it, and it is also singularly free from out of the way derivations and ponderous compounds, which may easily disfigure the composition of a poet writing in a learned language like sanskrit. It shows, by the way, that the highest form of poetry can be fashioned out of the simplest words. The range of the vocabulary again is surprisingly wide, considering the short compass of the poem. To mention only the other striking feature . very few words and phrases are used in the work more than twice, and several only once.”

छन्दः प्रयोग की दृष्टि से भी मेघदूत एक आदर्श गीतिकाव्य कहा जा सकता है। परवर्ती गीतिकारों ने—विशेषतया मेघदूत के अनुकरण पर ही संदेशकाव्यों के रचयिताओं ने—इस छन्द को ही आदर्श मान कर अपनाया भी है। मन्दाक्रान्ता की मन्द एवं तरल गति भावों के साथ मानवीय हृदय में भी स्पन्दन करने में सहायक होती है। प्रत्येक चरण के प्रारम्भ में चार गुरु अक्षरों के उच्चारण से स्वर का जो मन्द चढ़ाव देखा जाता है वह भाव के धीरे-धीरे उठते हुए उफान का श्रवण-ग्राह्य चित्र उपस्थित करता है। इसके पश्चात् एक साथ छँ लघु अक्षरों का विन्यास, जिनका उच्चारण अपेक्षाकृत शीघ्र होता है, भाव के प्रभाव का स्वच्छन्द संचरण प्रकट करता हुआ अन्त में गुरु लघु अक्षरों के संयोग द्वारा तान के साथ भाव को भी उतारता हुआ सम पर ने आता है। स्वर के इस आरोह-अवरोह की प्रक्रिया में अमूर्त अनुभूति मूर्त रूप धारण कर लेती है। क्षेमेन्द्र ने कालिदास का मन्दाक्रान्ता पर असाधारण अधिकार स्वीकार किया है जिसे वे अपने भावों के अनुरूप प्रयोग में लाते हैं :—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते ।

सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ॥

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

१. मेघदूत में प्रकृति के स्वतः-सवेद्य चित्र मिलते हैं जो ऋग्वेद अथवा रामायण के प्रकृति-वर्णन की तुलना में रखे जा सकते हैं।

२. मानव भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए साधन रूप में प्रकृति का प्रयोग करने की जो प्रवृत्ति सर्व प्रथम वाल्मीकि ने दिखाई थी उसका भी अत्यन्त

विकसित रूप इस रचना में मिलता है।

३. कथानक का अस्तित्व इसमें अनुभूति की अभिव्यक्ति का आधार मात्र है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि वाल्मीकि ने मानव-भावों को ही काव्य का प्रवृत्तिनिमित्त मानने का श्री गणेश किया था तो कालिदास ने उसमें सक्रिय योग देकर पुण्यता की प्रतिष्ठा की।

४. वाल्मीकि ने शृंगार का गम्भीर एवं संयत रूप प्रस्तुत किया है जो भारतीय संस्कृति के नितान्त अनुकूल है। भावना के ऊपर उन्होंने कर्तव्य की विजय दिखाई है और भारतीय आदर्श को रक्षा करते हुए प्रेम के गम्भीर सागर में विक्षोभ की स्थिति का चित्रण भी किया है। अर्थात् मूलतः एक-प्रकृतिक होता हुआ भी कालिदास का प्रेम वाल्मीकि के प्रेम की अपेक्षा कुछ तरल अवश्य है।

५. शैली के क्षेत्र में कालिदास एकदम क्रान्तिकारी सिद्ध होते हैं। अभिधा तथा व्यास शैली के प्रचलित मार्ग को त्याग कर उन्होंने व्यञ्जना और समास-शैली को अपनाया है जो स्वयं गीतिकाव्य की एक विशेषता है।

६. शब्दों का कौशलपूर्ण चयन और कलात्मक प्रयोग कर उन्होंने भाषा को अधिकधिक माधुर्य, लालित्य और भावप्रेषणीयता प्रदान की तथा छन्दः कौशल द्वारा गेयता का ऐसा पुट दिया जो अभिव्यक्ति को तीव्र करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ।

ये तथ्य वाल्मीकि से कालिदास तक पाने में समुत्त विकास के परिचायक हैं : और मेघदूत में गीतिकाव्य के प्रायः सभी गुणों का समावेश सिद्ध करते हैं। एक वाक्य में हम यह कह सकते हैं कि कालिदास प्रकृति-चित्रण, भाव-सान्द्रता, शैलीगत चारुता, माधुर्य तथा गेयता आदि की दृष्टि से काव्य-हिमाचल के उस स्थान पर खड़े हैं जहाँ चढ़ाई का अवसान और उतराई का प्रारम्भ दोनों मिले हुए हैं। अतः हम मैकडानल के स्वर में स्वर मिलाते हुए मेघदूत को गीतिरत्न मानने का लोभ सवरण नहीं कर पाते।

घटकपर

कालिदास ने संस्कृत-गीति-काव्य को एक नया मोड़ दिया। बहुत से कवियों ने कथावस्तु, वर्ण्य-विषय, भाषा-शैली, छन्द आदि की दृष्टि से उनका सर्वाङ्गीण अनुकरण किया और मन्देष्काव्य की एक दीर्घ परम्परा का सूत्रपात हुआ। सबसे पहले घटकपर सामने आए। घटकपर काव्य २१ पदों का एक छोटा सा सन्देश-काव्य है। वर्षाकाल के प्रारम्भ में एक बियोगिनी द्वारा अपने प्रियतम के पास भेजे गए संदेश का इसमें वर्णन है। जाकोबी का अनुमान है कि यह मेघदूत से पहले लिखा गया होगा क्योंकि यदि बाद में लिखा गया होता तो लेखक को गर्वोक्ति करने का साहस नहीं होता, परन्तु यह कथन सर्वथा निराधार है। शैली की कृत्रिमता और शब्दिक भाङ्गम्वर का आग्रह इसे कालिदास के बाद की ही रचना सिद्ध करते हैं। जहाँ तक गर्वोक्ति का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में यह लक्ष्य करने की बात है कि कवि ने केवल यमक के विषय में गर्वोक्ति की है—जीवेय येन कविना यमकैः

परण तस्मै बहुयमुदकं घटकपरणे । यमक के समत्कार के प्रतिरिक्त घटकपर एक साधारण कोटि की रचना है । निःसन्देह यमक की योजना में रचयिता पर्याप्त दक्ष है, फिर भी अच्छा ही हुआ कि जगद्धर भट्ट उसके समकालीन नहीं थे अन्यथा सम्भव था उसे अपनी शक्त के अनुसार घटकपर से ही पानी भरना पड़ जाता । जगद्धर भट्ट १४ वीं शताब्दी के कवि हैं । इनकी स्तुति-कुसुमाञ्जली में यमक का अत्यन्त प्रौढ़ एवं उत्कृष्ट रूप पाया जाता है । एक उदाहरण लीजिए:—

स यस्य पादद्वयमिन्द्रशासनः

सदा समभ्यचति पाकशासनः ।

प्रभुः प्रसादाभलया दृशा स नः

क्रियाद् विषदभङ्गमनङ्गशासनः^१ ॥

अहो कृताचोऽस्मि मनोभिरामया,

गिरा गुणाङ्कसत्येह रामया ।

तनुः स्थिरेयं कियत् निरामया,

अवे च यदुक्तिरसङ्गरा मया^२ ॥

सारांश यह है कि घटकपर न तो कालिदास से पूर्व ही लिखा गया था और न कालिदास ही इसके रचयिता थे । यह कालिदास के बाद की ही रचना है जिसके लेखक ने सम्भवतः कालिदास के मेघदूत से ही प्रेरणा पाई है ।

आठवीं शताब्दी के जैनकवि जिनसेन ने मेघदूत की एक एक पंक्ति को समस्या पंक्ति मानकर समस्यापूर्ति के ढंग पर पार्श्वनाथ का जीवन-चरित लिखा जिसका एक तिब्बती तथा एक सिंहली रूपान्तर आज भी तजौर के पुस्तकालय में सुरक्षित है^३ । चरित्र सुन्दर का शीलदूत भी इसी प्रकार का काव्य है और अपभ्रंश-कवि अब्दुल रहमान का संदेश-रासक भी सम्भवतः मेघदूत से प्रभावित है । किन्तु मेघदूत के सर्वाङ्गीण अनुकरण पर प्रणीत सर्वप्रथम रचना, जो आज उपलब्ध है, जयदेव के समसामयिक कवि घोषी का पवनदूत है जिसमें मेघदूत के वर्ण्यविषय, कथानक भाषाशैली, छन्द आदि का अनुकरण पूरी तरह किया गया है । इस रचना पर आगे यथास्थान विचार किया जायगा । पवनदूत के पश्चात् तो संदेशकाव्यों की बाढ़ सी ही आ गई और ४-५ शताब्दियों के भीतर भीतर इसी ढंग के बहुत से संदेशकाव्य लिखे गये जिनमें कम से कम पैंतीस आज भी उपलब्ध हैं^४ । इनमें काव्यकला की दृष्टि से नेमिदूत का विशेष महत्त्व है । यह भी समस्यापूर्ति के ढंग पर ही लिखा गया है । नेमि आचार्य जैनों के तीर्थङ्कर थे । सर्वसाधारण हिन्दू को आकृष्ट करने के लिए जैनियों ने इनका सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से जोड़ा है और उन्हें भगवान् कृष्ण का बड़ा भाई बताया है । वे वैराग्य हो जाने के कारण घर-बार छोड़कर चित्रकूट पर चले जाते हैं । इनकी विरहिता पत्नी भी वही पहुँचती है और उन्हें लौटा लाने

१. स्तुति-कुसुमाञ्जली, ७।५ ।

२. वही, ६-३८ ।

३. कीथ का इतिहास, पृष्ठ ८६ ।

४. विन्दाहरण च४.वृत्ती, मेघदूत की भूमिका ।

का प्रयत्न करती है। वह अपनी व्यथा का वर्णन करती है और मेघदूत के समान ही प्रियतम को घर का मार्ग निदिष्ट करती है। कवि ने कालिदास की कला में अपनी कला को ऐसा मिला दिया है कि महसा अन्तर का ज्ञान ही नहीं होता। इन सभी संदेश-काव्यों में मेघदूत के आधार पर ही नायिका की विरह-व्यथा और नायक के प्रवासस्थान तक के मार्ग का वर्णन है जिसमें प्राकृतिक चित्रण को पर्याप्त स्थान मिला है। पिछले काल के कुछ कवियों ने शान्तरसपरक दूत-काव्य का भी प्रणयन किया। 'मनोदूत' एक ऐसा ही काव्य है। ये रचनाएँ हमारे आलोच्य युग की परिधि से बाहर है तथा स्वयं एक पृथक् निबन्ध का विषय है। अतः इनका विस्तृत परिचय न तो यहाँ सम्भव ही है और न अपेक्षित ही। इस संक्षिप्त उल्लेख से कालिदास के प्रभाव की व्यापकता का अनुमान लगाया जा सकता है। भारतवर्ष में वे युगप्रवर्तक ही नहीं अनेक युगों की प्रवृत्तियों में से छडाके के साथ अपना जन्म ले जाने वाली शैली के प्रवर्तक भी थे। यह लक्ष्य करने की बात है कि कालिदास के व्यापक अनुकरण पर आधुनिक रचनाओं का प्रादुर्भाव प्रायः १२ वीं शताब्दी के पश्चात् ही हुआ। ऊपर घटकपंख और पाठ्यार्थसुन्दर का उल्लेख अवश्य किया गया है किन्तु उन पर मेघदूत का प्रभाव अपेक्षाकृत आंशिक है। क्या पत्र आश्चर्य की बात नहीं कि अपने क्षेत्र में किसी अद्वितीय और सर्वप्रिय रचना का अनुकरण उसके प्रणयन के लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् तो धडाधडी से और उससे पहले नगों के बराबर हो? कौन जानता है कि इस महत्वाब्दी के समय में भी पवनदूत जैसी अनेक रचनाओं का प्रणयन मेघदूत के अनुकरण पर हुआ हो।

गाथा सप्तशती*

कालिदास के पश्चात् शृंगारिक गीति-रचनाओं की मूलभावना में भारी परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे प्रेम के क्षेत्र में समय तथा प्रादर्श के स्थान में उदात्तता और व्यभिचार के कदम बढ़ने लगे, आत्मिक अश्र का ज्ञान और भौतिक अश्र का विकास प्रारम्भ हुआ। प्रेमभाव विशेष में विरत या होकर सामान्य की दिशा में उन्मुख होता दीव्य पडा और उसका चैतन्य उत्तरोत्तर भोग की जडता से अभिभूत होता चला गया। ये लक्षण हाल की गाथासप्तशती में ही प्रकट होने लगे थे। मेघदूत और गाथासप्तशती ही उत्तरवर्ती संस्कृत गीतिकारों के उपजीव्य रहे। मेघदूत सर्वप्रथम प्रबन्ध-गीति है तो गाथासप्तशती मुक्तक गीतियों का सर्वप्रथम संग्रह। और जिस प्रकार प्रबन्ध शैली पर लिखे गए गीति काव्यों का नेतृत्व मेघदूत ने किया है उसी प्रकार मुक्तक गीतिकाव्यों का गाथासप्तशती ने।

गाथाओं में चित्रित प्राकृतिक सुषमा, ग्रामवधुओं की स्वाभाविक प्रणयकेलियाँ

1. चन्दाहरण चक्रवर्ती पवनदूत की भूमिका।

2. यद्यपि गाथासप्तशती प्राकृत भाषा का गीतिकाव्य है तथापि संस्कृत गीतिकाव्य के विकास में उसका बड़ा भारी योग है क्योंकि संस्कृत साहित्य को इस रचना ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। अतएव यहाँ उसका भी संक्षिप्त विवेचन परम आवश्यक प्रतीत होता है।

और मामिक अभिव्यक्ति हाल के काल में ही सहृदय आलोचकों के आकर्षण और प्रशंसा का केन्द्र रही है। स्वयं हाल ने उसे भ्रमृतकाव्य कहा है। विदेशी और स्वदेशी विद्वान् उसका गुणगान करते नहीं थकते और उत्तरवर्ती काव्यों के प्रेमचित्रण को उसकी तुलना में इसीलिए प्रश्रय नहीं देते कि वह अपेक्षाकृत असंयत, अस्वाभाविक और रूढ़िग्रस्त है। यह सच भी है किन्तु यह भी असत्य नहीं कि यह भ्रमृत भी विष का सहोदर है। अन्यान्य विशेषताओं के साथ परवर्ती शृंगारभावना और प्रेमचित्रण के स्वरूप-निर्धारण में भी इसका बड़ा भारी योग है। जिन प्रवृत्तियों के कारण बाद की रचनाओं की कटु आलोचना की जाती है उनका सूत्रपात गाथा-सप्तशती में ही स्पष्ट दिखाई देता है। परकीया-प्रेम का, जिसे आधुनिक समाज-शास्त्रीय शब्दावली में अनुचित यौन सम्बन्ध कह सकते हैं और जो मध्यकालीन कवियों का प्रमुख विषय रहा, गाथासप्तशती के अन्तर्गत चित्रण देखिए। यह ठीक है कि इस प्रकार की उक्तियाँ उसमें बहुत कम हैं किन्तु अपने उपजीवियों के लिए आदर्श स्थापित करने में तो समर्थ है ही। देव-प्रेम का चित्रण लीजिए—

सच्चं साहसु देव्र तह तह बहुप्रारण मुण्ण॥

निव्वतिअकज्जपरम्महत्तणं तिणिअं कत्तो ॥ गाथा० ७८८ ॥

देव ! सच कहो उस चाटुकार कुत्ते ने अपना उल्लू सीधा हो जाने पर प्राये चुराना किसमें सीखा ?

यहाँ नाना प्रकार की चाटुकारी करने वाले देव द्वारा दीर्घकाल तक भुक्त होने के पश्चात् उपेक्षित नायिका ने अन्योक्ति द्वारा अपनी खीझ प्रकट की है।

गोवर्धनाचार्य ने इस व्यञ्जित देवप्रेम का नग्न चित्र ही खड़ा कर दिया:—

दलिते पल्लवपुञ्जे बृभं परिभवति गृहपती कुरिते ।

निभृतनिभालितवदनो हलिकवधूदेवरो हसतः ॥ आर्या० ३०२ ॥

पुष्पल का ढेर रोदा हुआ पाक गृहपति बैल को पीटने लगा तो हलिक-वधू और उसका देव चुप मुँह फेर कर हँसने लगे ।

आर्याकार ने स्वर्गोत्तर आनन्ददायी मुरत की जो परिभाषा दी है—

श्रोणी भूमावज्जु प्रियो भय मनसि पतिभुजे मौलिः ।

गूढश्वासो वदने मुरतमिव चेतुणं त्रिविवम् ॥ आर्या० ५६८ ॥

क्या उसका बीज इस गाथा में छिपा हुआ नहीं है ?

पद्मपुराणो विषम निज्जइ विच्छुअवट्ठेति जारवेज्जहरं ।

निउणसहीकरधारिअभुअजुअलन्दोलिणी बाला ॥ गाथा० ३१३७ ॥

अर्थात् निपुण सखिया 'इसे बिच्छु ने काट लिया है' यह बहाना कर के दोनों बाहुओं को भटकती हुई बाला को उसके पति के समक्ष ही जार वैंध के घर ले जा रही हैं ।

आर्याकार ने तो अपनी नायिका को मन के लड्डू ही खिलाये है किन्तु गाथाकार ने कितनी सफाई का अभिनय उसे सिखाया है जो सबकी आँखों में धूँक

झोंककर उसके काम-बुद्धिक-वंश के चिकित्सक तक पहुँचाने में सहायक बना और स्त्रियों के प्रति इस धारणा का भी कि 'एता रुदन्ति च हसन्ति च कार्यहेतोः ।

आर्चा में पति की मुखा पर सिर रखकर उपपति के साथ सुरत की कल्पना का आनन्द लिया गया है किन्तु गाथा में चौर्यरत को छिपाने के लिये नायिका ने कितना वैवर्ण्यपूर्ण अभिनय किया है । उसने न केवल वर्तमान को ही बनाया अपितु भविष्य के लिये भी रास्ता साफ़ कर लिया—

अहं अम्ह आग्रवो अग्न कुलहराग्रो सि छेच्छई चारं ।

सहसागग्रस्त तुरिग्रं पद्मो कण्ठं मिलावेइ ॥ गाथा० ४।१ ॥

'यह मेरे माथे के से आया है' कह कर कुसटा ने अपने जार को अकस्मात् आगत पति से गले मिलवा दिया ।

आचार का परित्याग कर पुष्पवती से रति की प्रार्थना का मार्ग भी गाथा-कार ने ही दिखाया—

सोओ जूरइ जूरउ वअणिउजं होउ होउ न नाम ।

एहि निमज्जसु पासे पुक्कवइ ण एइ में णिहा ॥ गाथा० ६।२६ ॥

लोग तमतमाते हैं तो तमतमाया करें, निन्दा होती है तो हो । पुष्पवती ! तुम मेरे पास सो जाओ, मुझे नीद नहीं आ रही है ।

आर्याकार ने इसका अनुसरण यों किया है—

मा स्पृश मामिति सकुपितमिव भणितं व्यञ्जिता न च व्रीडा ।

आलिङ्गितया सस्मितमुक्तमनाचार कि कुरुवे ॥ आर्या ४२८ ॥

'मुझे मत छुओ' उसने कुपित सी होकर कहा किन्तु लज्जा व्यक्त नहीं की । जब मैंने आलिङ्गन किया तो बोली 'अनाचार ! यह क्या करते हो ?'

गाथा से अधिक मर्यादित और सरस तो अमरक का यह प्लोक है—

पुष्पोद्भूदमवाप्य केलिशयनाहूरस्थया चुम्बने ।

कान्तेन स्फुरिताचरेण निभृतं भ्रूसंज्ञया याचते ।

आच्छाद्य स्मितपूर्णगण्डफलकं चेलाञ्चलेनाननं ।

मन्दान्बोलितकुण्डलस्तत्रकया तन्व्यावधूतं शिरः । १०८ ॥

रजो-दर्शन के कारण तन्वी नायिका केलि-शयन से दूर स्थित थी । प्रियतम ने ओष्ठों को फटकाते हुए वृषचाप भ्रू-संकेत से चुम्बन की याचना की तो उसने अपने मुसकाते हुए कपोलों से युक्त मुख को आँचल से ढककर धीरे से हिलते हुए कुण्डलों के साथ सिर हिला दिया ।

देव-पात्रों को कामाग्नि जन के समान रस्यासक्त चित्रित करने की परिपाटी भी नायाकार ने ही भलाई—

विचरीधरए लच्छी बहू' बटूण णाहिकमज्जट्टम् ।

हरिणी दाहिणणधणं रसाउला भल्लि वनेति ॥ गाथा ५।५५ ॥

अर्थात् विपरीत रति के समय काम-रसाकुल लक्ष्मी ने नाभि-कमल में स्थित ब्रह्मा को देखकर अविलम्ब हरि का दाहिना नेत्र ढक दिया । (सूर्य विष्णु का दक्षिण नयन कहा गया है । उसके ढक जाने से सूर्य का घस्त होना, उससे कमलों का मुकुलित होना और इस प्रकार नाभिकमल के भी मुकुलित हो जाने पर ब्रह्मा का न चील पड़ना व्यञ्जित है)

इसी पद्य का अनुसरण करते हुए आर्याकार ने तो बेचारे ब्रह्मा को दो पाटों के बीच पिसवा ही दिया—

लक्ष्मीकृताहिरगणितगरुडो हाराभिहतविषिर्जयति ।

कणशतपीतश्वासो रागान्धवाः ध्रियः केलिः ॥ आर्या २४ ॥

अर्थात् कामान्ध लक्ष्मी की काम-क्रीड़ा का कोई जवाब नहीं जिसमें शेषनाग को शय्या बनाया गया, गरुड की परवाह न की गयी, श्रमजन्य श्वास की वायु को शेषनाग के फनों ने पी लिया और ब्रह्मा पर हार की मार पड़ी ।

कामसूत्र के अनुसार विविध प्रकार के रतिबन्धों का बड़ी रुचि के साथ परवर्ती कवियों ने वर्णन किया है । अमरक का एक श्लोक लीजिये—

स्वचित्ताम्बूलासक्तः स्वचिद्वयरूपकूङ्कुमलिनः

स्वचिच्छूर्णोद्गारी स्वचिदपि च सप्तसक्तपदः

बलीभङ्गाभोगैरसकपतितः शीर्षकुसुमैः

स्त्रियो नानावस्य प्रथयति रतं प्रच्छदपटः ॥ १०७ ॥

ताम्बूलासक्त द्वारा 'मार्जारकरण' अग्ररूपकूङ्कुमलिन से 'करिपद' चूर्णोद्गारी से 'घेनुक' और सप्तसक्तपद से 'पुरुषायित' बन्धों की अभिव्यक्ति हुई है इस दृष्टि से गाथा सप्तशती की १।१२, ४।६१, ५।८३, ७।१४ आदि गाथाएँ भी द्रष्टव्य है ।

इसीलिए कवि ने कहा है कि—

Much is from the life of the village, but we have also of the demi monde of the towns, whose presence Pischel found in the Rigveda and which certainly has marked Indian Literature since vedic age.

इन उद्धरणों का तात्पर्य सहृदयों के कण्ठहार गाथासप्तशती में छिद्रान्वेषण का प्रयास कदापि नहीं है । हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कालिदास के पश्चात् समय के तकाजे के अनुसार प्रेम भावना के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हो गया जिसका प्रथम दर्शन गाथासप्तशती में होता है । इस कोश में उत्तमोत्तम रत्नों के साथ कवि ने समाज से मूढीत नकली रत्नों में से भी कुछ संवृहीत कर लिये । उत्तरवर्ती कवि इन्हीं की बमक-दमक से चकित हो गए । असली और नकली की अन्तर्दृष्टि वे इसलिये भी नहीं कर सके कि समाज उनसे मड़कीली चीज माँग रहा था ।

फिर भी सब कुछ मिलाकर 'सप्तसई' अपने ढंग की बिलकुल नवीन रचना

है। इसमें जिस प्रकार की लौकिक रस-प्रधान कविता का दर्शन होता है वह संस्कृत साहित्य में अपरिचित सी थी। छोटे-मोटे नित्य घटने वाले जीवन-व्यापारों के साथ इसमें एक ऐसा निकट सम्पर्क पाया जाता है जो ग्रामुणिकता के आतंक से अस्त पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में बिल्कुल नहीं मिलता। प्रेम और करुणा के चुम्बने वाले भाव, प्रेमियों की सरस क्रीड़ाओं का बोलता हुआ चित्र और प्रेम के घात-प्रति-घात के मनोहर दृश्य इस ग्रन्थ में सजीव रूप में प्रकट हुए हैं। ग्रहीर और ग्रहीरनियों की प्रेमगाथाएँ, ग्रामवधूटियों की शृङ्गार चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पीये सींचती हुई ग्राम-ललनाओं के नयनाभिराम चित्र, विभिन्न श्रुतुओं के भावोद्दीपक व्यापार इस ग्रन्थ में बहुत ही मनोरम रूप में चित्रित हैं। लोकजीवन की उममें गहरी छाया मिलती है, लोककाव्य से भी वह अनुप्राणित है फिर भी 'इन प्राकृत गाथाओं को लोक-साहित्य नहीं कहा जा सकता। सतर्कता और सावधानी जो संस्कृत काव्य की जान है, इसमें भी है। अग्राम्य मनोहर भावों का चुनाव रचि के साथ किया गया है'^१ इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि ये गाथाएँ अपनी व्यङ्ग्यप्रधानता के कारण उत्तम काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से इनका स्थान बहुत ऊँचा है। शैली की सरलता इनकी स्वाभाविकता की पोषक है जिसके कारण ये गीतिकाव्य का उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करती हैं। अपनी इन विशेषताओं के कारण ये संस्कृत के प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों के आकर्षण का विषय रही हैं और उन्होंने ध्वनि के विविध भेदों के उदाहरण रूप में सैकड़ों गाथाएँ उद्धृत की हैं। अकेले भोजदेव ने ही लगभग डेढ़ सौ गाथाओं की अवतारणा की है।

गाथासप्तशती में प्रकृति के भी अत्यन्त मनोरम चित्र भरे पड़े हैं। वर्षा ऋतु में गिरिग्रामो (पर्वतीय गाँवों) का वर्णन देखिए—

पप्फुल्ल-धन-कलम्बा निद्रोद्यमिलग्रामा सुदृष-मोरा ।

पसरन्तोज्ज्वरमुहला ओसाहन्ते गिरिग्रामाः ॥ गाथा ७।३६ ॥

फूले हुए सघन कदम्ब वृक्षों में शोभित, धुले हुए शिला तल वाले, मुदित मोगों से युक्त तथा निर्भर-समूह से सुललित पर्वतीय गाँव बड़े उत्कण्ठावर्धक होते हैं।

वर्षा ऋतु में खेत के बागों और लगाई हुई बाड़ (कंटीली लकड़ियों के घेरे) पर बैठे हुए कौओं का स्वाभाविक वर्णन भी लीजिए—

धाराधध्वन्तमुहा सन्धिवसवकला निउञ्चिग्रामीबा ।

वदवेदनेसु काष्ठा सलाहिणा वव वीसन्ति ॥ गाथा ० ६।६३ ॥

गोदावरी के कछार और विन्ध्य पर्वतमालाओं का सुन्दर चित्रण यत्र-तत्र मिलता है। पशु-पक्षियों के स्वभाव, चेष्टाओं आदि का भी अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण हुआ है। आकाश से उतरती हुई शुक-पक्षि नभ के कण्ठ से गिरती हुई कण्ठी के समान प्रतीत होती है^२। मयूरनृत्य^३ और तुषारावर्ती वर्षा-जल-बिन्दुओं का मयूरो

१. कीथ, हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २२५ ।

२. देखिये हिन्दा साहित्य का आदिकाल (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ ८० ।

३. गाथासप्तशती, १।७७ ।

४. वही, ६।५६ ।

द्वारा आचमन^१ प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के प्रमाण हैं। शरद् ऋतु के मेघों की शोभा घुले हुए सन्धवपर्वत तथा धुली हुई रूई के ढेर के समान होती है^२। कमल-वन की स्वाभाविक शोभा^३, कमलों पर बैठे हुए भ्रमरो की छटा, शारद जल की स्वच्छता आदि का हृदयग्राही चित्रण है। सायंकाल में आवास-वक्ष पर आकर बैठते हुए पक्षियों की शोभा देखिए—

भरणमिध्रणीलसाहृगललिम्रबलणद्व विहृमवक्लउडा

तरुसिहरेसु बिहंगा कह कह पि सहन्ति संठाणं ॥ गाय० ७।६० ॥

अपने भार से झुकी हुई हरी शाखाओं के अग्रभाग से पंजों के अर्धभाग के स्पर्शित होने से पंखों को फड़फड़ाते हुए बिहग कठिनाई से वृक्षों के शिखरों पर बैठ पाते हैं।

ऊपर से उड़कर उतरते हुए पक्षी वृक्ष की लघुशाखा के अग्रभाग पर बैठते हैं परन्तु चरण रखते ही भार पड़ने के कारण वह नीचे झुक जाती है। अतः वे पूर्ण-तया पंरों के न जमने के कारण पंखों को फड़फड़ाते हुए जैसे तैसे बैठ पाते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रकृति-चित्रण का यह स्वरूप परवर्ती काव्य में प्रायः नहीं है। धीरे धीरे प्रकृति को कवियों ने उपवनों के प्राचीर में ही बन्द कर लिया। उसके उन्मत्त और व्यापक सौन्दर्य को निहारने का प्रयत्न नहीं किया। गायामप्तशती के नभोमण्डल में पंक्तिवद्ध उड़ते हुए शुक अब अमरुक के समक्ष नक आते आते 'पञ्जर-शुक' रह गए। पर्वत बीने बनकर श्रीडाशैल के रूप में स्थित हुए। नदियाँ और जलाशय उपवन-वापी के रूप में बदल गए। वन में स्वतन्त्रतापूर्वक फँसने वाली लताएँ उपवनों की रानी बनकर मिमटती मकुचती हुई गो स्थित हुईं। अर्थात् कवि की दुनियाँ का घेरा छोटा हो गया। यह सब कुछ कालिदास की रचना में भी है। यक्षपत्नी के यहाँ पली हुई सारिका हम देख चुके हैं। हस्तवलय की भनभनाहट से युक्त करताल के साथ उसके मोर को नाचते हुए हमने सुना है। श्रीडा-शैल, वापी, लता-कुञ्ज, हंस आदि सब वहाँ हैं, फिर भी हम कालिदास के प्रकृति चित्रण की प्रशंसा करते हैं क्योंकि वहाँ इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है और वही कालिदास के महत्त्व का कारण है। मध्यकालीन कवियों की रचना में जो कुछ है वह यही है। इसलिये उसका महत्त्व नहीं। गायामप्तशती में प्रकृति का नागर रूप न होकर ग्रामीण और जंगली रूप ही चित्रित हुआ है। इसका कारण यह है कि वह प्राकृतिक मानवों की प्रणयबेष्टाओं का चित्रण करती है जिन के साथ प्रकृति अपने घर की तरह सम्बद्ध है। वही उनकी श्रीडाभूमि है। उत्तरकालीन साहित्य में आभिजात्य का आधिपत्य हो गया। नागरता के आग्रह के साथ प्रकृति के भी ग्राम्य रूप का संस्कार कर लिया गया और वह विलासी मानव की चेरी बना ली गई जो उपेक्षित रह कर भी उसकी भावना को उद्दीप्त करने का कार्य

१. गायामप्तशती, ४।६४।

२. ,, ७।७६।

३. ,, ५।६५, ७।४।

करती थी। इस प्रकार गाथा-सप्तशती के भले-बुरे गुणों का परवर्ती साहित्यकारों पर कम-बेशी प्रभाव पड़ा जिससे संस्कृत के गीतिसाहित्य के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन अवश्यम्भावी हो उठा। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

- १— गाथासप्तशती से पूर्व शृङ्गार का मर्यादित रूप ही चित्रित हुआ है। इस गाथाकोश ने उग्युक्त प्रेम का वर्णन प्रस्तुत कर एक नवीन परम्परा को जन्म दिया जिसका संस्कृत के मुक्तक-गीतिकारों ने विशेष रूप से अनुकरण किया।
- २— देवस्तुति के साथ में शृङ्गारिक भावना का समावेश कर आगे के कवियों की एक नूतन दिशा में चलने की प्रेरणा भी दी जिसका चरम पर्यवसान राधाकृष्णविषयक गीतिकाव्यों के नग्न शृङ्गार-वर्णन में हुआ।
- ३— प्रकृति के अन्यान्य रूपों के साथ उद्दीपन रूप का भी सुरुचिपूर्ण चित्रण गाथाग्रो में मिलता है। ऊपर प्रकृति-चित्रण के उदाहरण स्वरूप जिन गाथाग्रो का उल्लेख किया गया है वे भी वक्तृ-बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से विविध प्रकार की शृङ्गारिक भावनाग्रो की व्यञ्जना करती हैं। गाथाकोशकार ने प्रारम्भ में ही 'कामतत्त्वचिन्ता' का उल्लेख किया भी है।
- ४— यद्यपि हाल ने इन गाथाग्रो के लिये 'मालङ्कार' विशेषण का प्रयोग किया है किन्तु अलङ्कारों के प्रति आग्रह कही दृष्टिगोचर नहीं होता। स्वाभाविक उक्ति की लपेट में अलङ्कार यत्र-तत्र आ ज़रूर गए हैं। प्रायः सभी गाथाएँ रस एवं भावध्वनि से श्रोत-प्रोत हैं।
- ५— नायिकाग्रो की दृष्टि से, यदि कोई चाहे तो, अनेक प्रकार की नायिकाग्रो के चित्र इस कोश में खोज सकता है किन्तु भावना का प्रवाह तथा अभिव्यक्ति का भोलापन इस बात के प्रमाण है कि नायिका-भेद के अनुसरण के प्रति रचयिताग्रो का अभिनिवेश नहीं रहा है फिर भी नागरता की छाप भी स्पष्ट दीख पड़ती है।
- ६— बाह्य चेष्टाग्रो, व्यापारों और मुद्राग्रो के चित्रण अथवा नल्लशिल-वर्णन की प्रवृत्ति गाथाग्रो में उतनी नहीं देखी जाती जितनी गिने-चुने शब्दों में भाव की गहरी अभिव्यञ्जना की। इसलिये यह बेलटके कहा जा सकता है कि गाथाकार 'रस एवात्र जीवितम्' को मानकर भी व्यापक रूप में 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' के सिद्धान्त को ही व्यावहारिक मानते हैं। वस्तु ध्वनि के उत्तमोत्तम उदाहरण मध्याग्रो में भरे पड़े हैं। कालिदास भी मूलतः ध्वनि को ही लक्ष्य मानते हैं किन्तु उनकी रचनाग्रो में रसध्वनि के प्रति अत्यन्त मोह पाया जाता है।

द्वितीय उन्मेष (भर्तृहरि, भयूर, अमरुक)

पृष्ठभूमि

पीछे कहा जा चुका है कि सातवाहन काल में भारतवर्ष की व्यापारिक उन्नति के कारण आर्थिक दशा अच्छी थी, समाज में सुख-शान्ति थी। विदेशी शासक भी भारतीय समाज में घुल मिल गए थे। १०० ई० के लगभग उत्तरी भारत में उत्तर प्रदेश तक और पश्चिमी भारत में उत्तरी महाराष्ट्र, काठियावाड़, गुजरात और अघिकांश राजपूताने में कुशाण और शकों का शासन था। सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय रंग में रंगे जाने पर भी जातीय दृष्टि से ये विदेशी ही समझे जाते थे। अतः उत्तर प्रदेश से मल्ल और नाग राजाओं ने तथा पूर्वी पञ्जाब से योधियों और कुणिन्दों ने कुशाणों को खदेड़ा। शकों की शक्ति को महाराष्ट्र में सातवाहनों ने और राजपूताने में मालवों ने उच्छिन्न कर दिया और तीसरी शताब्दी के अन्त तक समूचा भारत विदेशी दासता से मुक्त हो गया। किन्तु वह छोटे छोटे राज्यों में बँट गया था। चौथी और पाँचवी शताब्दी में गुप्तों ने देश के एक बड़े भूभाग पर एकच्छत्र शासन स्थापित किया।

सामाजिक स्थिति

आर्थिक स्थिति और रहन-सहन—गुप्त युग को इतिहासकार हिन्दू काल का स्वर्णयुग कहते हैं। इस युग में भारतवर्ष की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। व्यापार चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था। खुदाई में गुप्त युग के बहुत से सोने के सिक्के मिले हैं जिनसे प्रतीत होता है देश में धन की कमी नहीं थी^१। शासन-व्यवस्था और साधन-सम्पन्नता जहाँ कला कौशल की उन्नति का कारण होती है वहाँ आमोद-प्रमोद और विलासिता की पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत करती है। गुप्तयुग भी इसका अपवाद नहीं था। चीनी यात्री फाह्यान, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में भारत आया था, लिखता है कि लोग सुखी थे, उन्हें न तो मकानों का पञ्जीकरण (रजिस्ट्रेशन) कराना पड़ता था और न ही न्यायाधीश के समक्ष जाने की आवश्यकता पड़ती थी। विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों ने यात्रियों के लिए धर्मशालाएँ बनवा रखीं थी जहाँ यात्रियों के लिए छाट, बिस्तर और खाने-पीने का भी प्रबन्ध रहता था। धनी लोगों ने स्थान स्थान पर दान-क्षेत्र (सदाबत्त) और अस्पताल खुलवा रखे थे^२। फाह्यान के दो शताब्दी बाद ह्वेनसांग ने भारतीय लोगों के विषय में लिखा है कि वे किसी भी वस्तु को गलत ढंग से नहीं सोचते। वे उससे कहीं अधिक अच्छा व्यवहार करते हैं जितना भले आदमी से अपेक्षित है, घोड़ा नहीं चेंदे और अपने बच्चों को पूरा करते हैं^३।

नगर निवासी लोगों की सुख समृद्धि और विलास-प्रियता का पता वास्तव्यायन के कामगूत्र से भी चलता है जिसमें नागरिक की दैनिक चर्याओं और रहन-सहन का

१. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १४०, १४१।

२. अजूमदार, एन्सिक्लोपिडिया, पृष्ठ १६७।

३. वही, पृष्ठ १६८-१६९।

विस्तृत विवरण दिया गया है। प्रायः प्रत्येक भवन से लगी हुई एक केलि-वाटिका हुआ करती थी जिसमें यथास्थान लताकुञ्जों और शीतगृहों की व्यवस्था रहती थी। भवन में विविध कार्यों के लिए पृथक् पृथक् तदनुरूप कक्षों का निर्माण किया जाता था। यहाँ तक कि केलिभवन और शयनागार भी पृथक् पृथक् होते थे। केलिभवन में शय्या के शिरोभाग की ओर काष्ठवेदिका पर इष्टदेव की मूर्ति और एक पार्श्व में एक काष्ठपीठ पर सुरतोचित सामग्री—सुमन-माला, सुगन्धित लेप, अगाराग लाक्षारस आदि—के पात्र सजाकर रखे जाते थे। शयनागार के समीप ही एक छोटे से प्रकोष्ठ में काष्ठकला सम्बन्धी उपकरण प्रस्तुत रहते थे ताकि धीना आदि में कुछ खराबी हो जाने पर तत्काल ठीक की जा सके। मनोरञ्जन के अनेक साधन जुटाए गये थे। चित्रकला मनोरञ्जन का एक प्रमुख उपकरण था। भवन-भित्तियों पर चित्रित चित्रों के अतिरिक्त भवन के एक भाग में चित्रशाला भी होती थी जिसमें रंग, कूची, पात्र, चित्रपटल आदि की यथास्थान व्यवस्था थी। भवन-वाटिका में पालतू हंस, सारस, मयूर आदि विवरण करते रहते थे। लटकते हुए पिंजरों में तोता-मैना चहकते रहते थे। लता-कुञ्जों के समीप ही सघन वृक्षों के एक झरमुट में झूला भी पड़ा रहता था^१।

विलासिता के इन साधनों के साथ साथ कामशास्त्र का विकास पहले से ही चला आ रहा था। वात्स्यायन ने अपने पूर्ववर्ती बृहस्पति, श्वेतकेतु, बाध्वय्य, दत्तक आदि आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख किया है^२; किन्तु कामशास्त्रीय अध्ययन का व्यवस्थित रूप वात्स्यायन ने ही दिया। यह श्रीसम्पन्न और उपभोगोन्मुख युग की मांग के सर्वथा अनुरूप भी था। काम की अब धर्म और अर्थ के ही समान महत्त्व दिया जाने लगा था^३ और नवयुवकों तथा नवयुवतियों को कामशास्त्र की शिक्षा देना आवश्यक समझा जाने लगा था^४।

वात्स्यायन ने नागरिक की दिनचर्या की विस्तार से चर्चा की है जिसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि स्त्री पुरुषों का दैनिक जीवन आनन्द-प्रमोद से ओत-प्रोत था। भोजन के पश्चात् शुक, सारिकाओं को पढ़ाने के अतिरिक्त तीतर, कुक्कुट और मेढों का युद्ध देखना, गोष्ठी करना और सायंकाल संगीत, नृत्य, नाट्य आदि का आयोजन करना दैनिक चर्या में सम्मिलित थे। दैनिक चर्या के अतिरिक्त विशिष्ट पर्वों और उत्सवों की विलास-क्रीड़ाओं का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् रात्रि में अभिसारिकाओं की प्रतीक्षा, द्वीती-प्रेषण काम-क्रीड़ा आदि का

१. कामसूत्र, आदिकर्ण १ अध्याय ४।

२. वही, अधिपर १, अध्याय १, सूत्र ७-११।

३. परस्परस्यानुपपातक त्रिवर्गं संवेत, कामसूत्र १।२।१।

४. कामयुवं तदङ्गविचारश्च पुरुषोऽधीयोत, ,, १।३।१।
 आयौवदात स्त्री, ,, १।३।२।

आयोजन बताया गया है। देव-मन्दिरों की यात्रा और धार्मिक समारोहों में प्रेमी-युगल के मिलन की युक्ति भी बताई गयी है^१।

स्त्रियों का स्थान

यद्यपि वेदाध्ययन का अधिकार स्त्रियों में छीन लिया गया था तथापि अन्य क्षेत्रों में उनकी शिक्षा-दीक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। उच्च शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें ६४ बलाघो में दक्ष होना पड़ता था जिनमें गायन, वादन, आनेख्य (चित्रकला), प्रसाधन-विधि आदि पर अधिक बल दिया जाता था। वे प्रसाधन-कला में अत्यन्त निपुण होती थी और शरीर के विभिन्न अंगों का भाँति-भाँति से मजाना जानती थी। छोटी और चरणों को रमने के अतिरिक्त वे कपोल और उरोजो पर सुगन्धित पदार्थों के गाढ़े रस से पत्ररचना कर सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती थी। कर्पूर आदि पदार्थों से वस्त्रों को सुगन्धित रखती थी। प्रसाधन आदि की कला में पुष्प वर्ग भी सर्वथा बञ्चित नहीं था। उक्त कलाओं के अतिरिक्त स्त्रियों को जल-विहार, ऋतु अनुकूल दैनिक चर्चा, द्यूत-क्रीड़ा, पक्षि-विज्ञान, पाक-शास्त्र आदि की जानकारी भी प्राप्त करना पड़ती थी^२।

दश के कुछ भागों में स्त्रियाँ शासन में भी महत्त्वपूर्ण भाग लेती थी। गुप्त युग में सम्राज्ञी का पद बड़ा महत्त्वपूर्ण था। गुप्तों के बाद भी काश्मीर, उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेशों में अल्पवयस्क राजाओं की ओर से राज्य-प्रबन्ध करने वाली राजमाताओं के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। एक चीनी यात्री ने एक बहिन के अपने भाई के साथ-साथ शासन प्रबन्ध करने का उल्लेख किया है। हर्ष के साथ राज्यश्री भी दरबार में बैठती थी और कन्नड़ प्रान्त में तो स्त्रियाँ प्रान्त-शासक और ग्रामणी का कार्य भी करती थी। दक्षिण की कुछ राजमहिलाओं का न केवल गीत, नृत्य आदि कलाओं में दक्ष होने का उल्लेख ही समसामयिक उत्कीर्ण लेखों में मिला है अपितु उनके द्वारा जनता में अपनी कला का प्रदर्शन किये जाने का उल्लेख भी मिलता है। ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि स्त्रियों में पर्दा-प्रथा नहीं थी और उन्हें उदारता पूर्वक शिक्षा दी जाती थी तथा वे सांस्कृतिक समारोहों में सक्रिय भाग लेती थी और उन्हें एक सीमा तक पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी^३। स्त्रियों की उचित शिक्षा व्यवस्था ने ही शैलाभट्टारिका और विज्जका जैसी कवयित्रियों को जन्म दिया।

समाज में वेश्याओं का एक विशिष्ट स्थान था। वे राजाओं द्वारा सम्मानित होती थी। गुणज्ञ उनकी प्रशंसा करते थे और उन्हें प्राप्त करना चाहते थे^४। यह सम्मान उन्हीं वेश्याओं को प्राप्त था जो चौसठ कलाओं में निपुण होती थी^५।

१. कामसूत्र, अधिकरण १. अध्याय ४।

२. कामसूत्र, १-३-१६।

३. मजुन्दार, एनशिएण्ट इण्डिया, पृष्ठ १६६।१६७।

४. पूजिता सा सदा राधा गुणवन्दिश्च संस्तुता।

प्राथेनोयामिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते। कामसूत्र १-३-२१।

ललितविस्तर में शुद्धोदन सिद्धार्थ के लिए ऐसी पत्नी की इच्छा करते हैं जो गणिका के समान कलाप्रो में निपुण हो^१। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में गणिका के बहुत से गुण गिनाए हैं और उच्च पात्रों के समान नाटक में उसे भी संस्कृत-भाषी पात्र माना है^२। मृच्छकटिक में वसन्तसेना वेश्या से चारुदत्त जैसे चरित्रवान् ब्राह्मण के सम्बन्ध की प्रशंसा ही की गयी है, निन्दा नहीं। वाण की कादम्बरी में वेश्याओं का राजा की सेवा में रहने का अनेक स्थलों पर वर्णन है।

साहित्य पर इन सब परिस्थितियों का प्रभाव स्वाभाविक ही था। कामसूत्र के अनुसार मनुष्य को यौवनकाल में काम का उपार्जन करना चाहिए और नगर, पत्तन अथवा अन्य विशाल स्थान में रह कर नागरिक का आचरण करना चाहिए। इसके बाद तो संस्कृत कवियों के नायक मानो कामसूत्र के इस उपदेश को गांठ बाँध कर चले हैं। डा० एस० एन० दास गुप्त ने ठीक ही कहा है कि बाण के हर्षचरित के अध्ययन से पता चलता है कि इस समय तक नागरिक जीवन ग्रामीण जीवन से अलग हो चुका था और कवियों की गतिविधि का क्षेत्र प्रायः नगर और राजसभाएँ ही रह गई थी^३। फलतः कविता का क्षेत्र भी संकुचित होने लगा। धीरे धीरे प्रकृति से उसका साथ छूटता गया। मानवीय भावनाओं में से रतिभाव की ओर ही वह अधिक झुकी। कवियों को नगर का वातावरण ऐसा भाया कि कविता कामिनी के स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए उन्होंने उसके व्यापारों को प्रकृति की रमणीय गोद से उठाकर प्रासादों और उद्यानों तक ही सीमित कर दिया। प्रेमभाव के प्राकृतिक स्वरूप को उन्होंने कलात्मक रूप देना प्रारम्भ किया जिसके कारण एक ओर तो रूप-चित्रण और अनुभावों के वर्णन में बारीकी घायी और दूसरी ओर अभिव्यक्ति में सरलता का स्थान बिदग्धता ने ले लिया। कविता गाँव से आकर नगर में ही बस गई तो नये वातावरण में उसका आचरण ही नहीं, आदर्श, उद्देश्य, और स्वभाव भी बदल गया। उसने कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया, विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ सीखीं, सुरत के नये नये ढंगों से परिचय प्राप्त किया और वाग्बिदग्धता तथा अलङ्कारण की ओर अभिरुचि प्रकट की। नागरता का प्रभाव स्वभाव की अपेक्षा आच्छादन और बोलचाल पर पहले पड़ा, यह स्वाभाविक भी था। भर्तृहरि की रचनाओं में ही यह खलकर दिखाई पड़ने लगा था। उनके शृङ्गारशतक में प्रकृति-चित्रण के नाम पर षड्द्वय वर्णन के ११-१२ श्लोक हैं^४। वे सभी प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण करते हैं। भोगप्रधान दिनचर्या अथवा उषभोग-गणना—जिसके कारण हिन्दी के रीतिकालीन कवि बहुत बदनाम रहे और बघाकर का गुलगुलो

१. ललित विस्तर १२।१३६।

२. नाट्य शास्त्र २४।१०६-११३।

३. *Hist. of Sans. Lit.* p. IX.

४. दामोदर कोशाम्बी द्वारा सम्पादित शतकव्यादि सुभाषित, श्लोक ६८, ६९, १११, १३७, १४० से १४४।

गिलमें-गलीचा' वाला कवित्त आलोचकों को फूटी आँख न सुहाया—इनमें पूर्णतया देखी जा सकती है—

परिमलभूतो वाताः शाखा नवाङ्कुरकोटयो ।

मधुपविरुतोत्कण्ठाभाजः प्रियाः पिकपक्षिणाम् ।

धिरलसुरतस्वेषोद्गारा वधूवदनेन्ववः ।

प्रसरति घनाढ्यानां प्रीध्मे कुतोऽपि गुणोदयः ।^१

घनाढ्य लोगो के लिये तो प्रीध्मे ऋतु अद्भुत आनन्द का समय है जिसमें सुगन्धित वायु बहती है, शाखाओं में कोपलें कूटती हैं, भोरों की मादक गुञ्जार और उत्कण्ठित कोकिलों की कूक सुन पड़ती है और वधूजन के मुखचन्द्र सुरत-जन्म श्रम-जन से व्याप्त हो जाते हैं ।

हेमन्त ऋतु के उपभोग भी धनियों के ही हिस्से में आये है—

हेमन्ते दधिदुग्धसंपिरशना मञ्जिष्ठवासोभूतः ।

काशमीरद्रवसान्द्रविग्धवपुषः खिन्ना विचित्रै रतैः ।

वृत्तोदस्तनकामिनीजनकृताऽनेषा गृहाभ्यन्तरे ।

ताम्बूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुख शेरते ।^२

वे लोग धन्य हैं जो हेमन्त ऋतु में घी, दूध, दही खाते हैं, मञ्जिष्ठ-रञ्जित वस्त्र पहनते हैं और केसर के लेप से शरीर को सुशोभित कर वृत्त-उदय वाली कामिनियों के गाढ़ आलिङ्गन एवं विविध प्रकार की सुरत क्रीडाओं से थक कर पान मूँह में दबाये आनन्द से घर में सोते हैं ।

शृङ्गार शतक तथा समकालीन रचनाओं में एक ऐसा स्वर सुन पड़ता है जो प्रेम को आत्मिक मिलन से अलग करता हुआ शारीरिक अद्वैतता स्थापित करने तक के क्षेत्र में सीमित रखता है । आन्तरिकता के स्थान में बाह्यत्व की प्रतिष्ठा करता है और सूक्ष्म को स्थूल रूप में परिणत करता हुआ दृग्गोचर होता है ।^३ भर्तृहरि के अनेक श्लोको में नारी के शारीरिक उपभोग के प्रति जो ललक प्रकट की गई है, वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । यद्यपि अन्यत्र उन्होंने वैराग्यपरक उक्तियों में अध्यात्म की ओर मकेत किया है किन्तु वह सब कुछ मतुलन उपस्थित करने वाले व्यक्ति की वाणी से निकला हुआ प्रतीत नहीं होता जैसा कालिदास के प्रेमचित्रण में है । उसमें या तो असन्तुष्ट हृदय की प्रतिक्रियात्मक लोभ है अथवा सासारिकता की क्षणभङ्गुरता के विचार से प्रसूत ऊब । उनकी उपर्युक्त तथा ऐसी ही अन्य उक्तियों से तो यह प्रतीत होता है कि अभावग्रस्त प्रताडित जीवन का आक्रोश ही अन्यत्र स्त्री-निन्दा के रूप में प्रस्फुटित हुआ है । उनकी 'स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दति योऽलीकं पण्डितो युवतिः'^४ इस कथन की पुष्टि करती है । उस युग की चेतना इन उक्तियों में प्रतिबिम्बित है—

१. शतकत्रयादि सुभाषित, ६६

२. वही, श्लोक १४४ ।

३. अदराने दर्शनमात्रकामा एषौ परिष्वङ्गरतैकलोला ।

आलिक्रितायां पुनरायतात्पयामारासमहे विग्रहयोरभेदम् ॥ वही, १२२ ।

४. वही, १२०, शतकत्रयादि सुभाषित ।

उरसि निपतितानां त्वस्तर्षाम्मल्लकानां ।
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
उपरि-मुरसस्तेद-स्विन्न-गण्ड-स्थलीनाम् ।
अधरमधु बधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ।

विपरीत रति के श्रम में स्वेद-युक्त कपोलों वाली, अस्त व्यस्त केशों वाली धककर वक्षस्थल पर पड़ी हुई मुकुलितनयना बधुओं का अधरमधु भाग्यशाली व्यक्ति ही पीते है ।

प्राङ् मा मेति मनोरमागतगुणं जाताभिलाषं ततः ।
सक्रीडं तवन् इत्यधीकततम् प्रत्यस्तर्षयं पुनः ।
प्रेमाद्रं स्पृहणीयनिर्भरतक्रीडाप्रगल्भ ततो ।
निःसङ्गाङ्गविकर्षणाधिकमुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ।¹

कुलस्त्री का मुरत, जिसमें प्रारम्भ में नहीं, नहीं और उसके बाद क्रमशः अभिलाष, लज्जा, शरीर की शिथिलता, धैर्य का त्याग और प्रेम में शगबोर उद्दाम रति-क्रीडा की प्रगल्भता होती है, रमणीय होता है ।

नारी के शरीर के प्रति लालसा का फल यह हुआ कि उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य का चित्रण और बाह्य व्यापारों का वर्णन अधिक होने लगा और प्रेम के अन्तर्गत अनुभूति में आने वाले भावों की अभिव्यक्ति की ओर में कवि लोग अपेक्षा-कृत कुछ विच में चले । हमी को हमने मूढम की ओर में स्थल की ओर आने का प्रारम्भ कहा है । नारी-अवयवों का बिम्बग्रहण कराने के लिए उपमानों की योजना रुढिवद् सी हो चली और नख-शिव-वर्णन की उस पद्धति का मूलपान हुआ जो अपनी उद्देश्य आप थी —

वक्षश्च चन्द्रविडम्बि पङ्कजपरीहासभमे लोचने ।
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिह्वः कक्षानां चयः ।
वक्षोजाविभक्तम्भविभ्रमहरो गुर्वी नितम्बस्थली ।
वाचां हारि च मादक्युवतिषु स्वाभाविक मंडनम् ।²

चन्द्रमा को भी विडम्बित करने वाला मुख, कमल का मञ्जक उड़ाने में समर्थ लोचन, स्वर्ण को दूर बिठाने वाला वर्ण, भ्रमर-विजेता केशपाश, गजकुम्भ की शोभा हरने वाले कुक्ष, पुष्ट नितम्ब-स्थल और अवर्णनीय सौकुमार्य ही युवतियों के सहज प्रमाण होत है ।

माथानप्लवगती ने ऐहिकता का जो मार्ग दिखाया था वह इतना प्रिय हुआ कि नारी और स्वर्ग के मूल्य में कोई अन्तर न रह गया—

मालती शिरसि जम्भणोऽमुक्षी चन्दनं वपुषि कुङ्कुमाविसम् ।
वक्षसि प्रियतमा मदालसा स्वर्गं एष परिशिष्टे प्रागतः ॥³

मित्र पर विकासोन्मुख मालती, (की माला) शरीर पर केसर-मिश्रित चन्दन और वक्ष पर मदालसा प्रियतमा पड़ी हो तो अपनी समूची विशेषताओं के साथ स्वर्ग ही प्रा गया समझिये ।

1. शतकत्रयादि सुना पत १२३, १३६ ।

2. „ १० ।

3. „ ११६ ।

नगर-सम्भ्रता और दरबारी प्रभाव का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि कामशास्त्रीय तत्त्वों का अनुसरण और समावेश भी कविजन अपनी कृतियों में बड़ी ही रुचि के साथ करने लगे और यह बात बेधड़क कही जा सकती है कि गीतिकाव्य पर इसका जितना अधिक प्रभाव पड़ा उतना अन्य प्रकार के काव्यों पर नहीं। नायिकाओं के इतने भेद तथा उनकी सहायिकाओं, चेष्टाओं और व्यापारों का ऐसा वैविध्यपूर्ण चित्रण नाटकों में भी नहीं हो सका। नाटक दृश्य काव्य है और मुरतादि व्यापारों का प्रदर्शन इसमें निषिद्ध है किन्तु गीतिकाव्य में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं। इसीलिए उसमें विविध नायिकाओं की स्वानुकूल चेष्टाओं से लेकर अनेक प्रकार की केलियाँ, मुरतकालीन विभिन्न बन्ध, झालिझन चम्बन आदि के भेद-प्रभेद और नख-चिन्ह, दन्त-क्षत आदि उपभोग-चिन्हों का उन्मुक्त चित्रण हुआ है।^१ कालिदास की रचनाओं में नागरिक जीवन और राजसभाओं के प्रभाव के साथ-साथ वैदिक सम्भ्रता की जो गौरवपूर्ण गम्भीरता व्याप्त है, उसकी आभा बाण की कृतियों में बहुत धुंधली दिखाई देती है। उनमें उपभोग-प्रवणता का सबंध साम्राज्य है जिसकी तुलना में समय का चित्रण नगण्य है। यह तत्कालीन समाज की बदलती हुई मनोवृत्ति का लिखित प्रमाण है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मसूत्र अथवा धर्मसूत्रों के स्थान पर कामसूत्र का प्रभाव स्वाभाविक ही था। गुप्तयुग की समृद्धि के कारण कला और सौन्दर्य की उपासना की प्रवृत्ति ने भी समाज की इस मनोवृत्ति के विकास में पर्याप्त योग दिया था।

इसके अतिरिक्त गीतिकाव्य पर नायिका-भेद का प्रभाव भी उत्तरोत्तर अधिक होता गया। नायिकाभेद का स्थान मूलरूप में नाटक के अन्तर्गत माना गया था। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में आठ प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है। दूती के कर्तव्य और गुणों का विवेचन भी उन्होंने किया है। सम्भव है यह नाट्यशास्त्र पर भी कामसूत्र के प्रभाव के कारण हो। आगे चलकर नायिकाभेद ने संस्कृत के गीतिकारों को भी आकृष्ट किया और उन्होंने विविध प्रकार की नायिकाओं के व्यापारों और स्वरूपों का चित्रण किया।

वाग्बैदग्न्य, जिसमें अर्थ-चमत्कार और शब्द-चमत्कार दोनों आ जाते हैं, और धीरे धीरे संस्कृत काव्य शैली पर अधिकार जमाता जा रहा था। भारवि और बाण की बाणी ने महाकाव्य और गद्यशैली की प्रौढ़ता की सूचना दे दी थी। बाण की कादम्बरी अलंकृत गद्यशैली का चरमोत्कर्ष उदाहरण है। यद्यपि अधिक चमत्कार-पूर्ण शैली गीतिकाव्य की आत्मा के विरुद्ध है तथापि गीतिकाव्य का काव्यजगत् से विच्छेद तो था नहीं, अपितु जैसा कि तीसरे अध्याय में विचार किया जा चुका है, गीतिकाव्य महाकाव्य और नाटकों में भी घुल-मिल कर अपना पथ प्रशस्त करता रहा है, इसलिए इस अलंकृत शैली का प्रभाव उस पर भी पड़ना स्वाभाविक ही था।

बाण के सम्बन्धी मयूर के सूर्य शतक में आया हुआ यह श्लोक देखिए—

चक्री चकारपङ्क्ति हरिरपि च हरीन धूर्जटिर्धूध्वजाप्रा-
नक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः ।
रंहः संधः सुरार्णा जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य ।
स्तोति प्रीतिप्रसन्नोऽम्बहमहिमरुचेः सोऽवतात्स्यान्नो वः ॥

इस पद्य में कवि का सूर्यविषयक रतिभाव अनुप्रास के आग्रह की लपेट में दब कर रह गया है। कवि का प्रमुख उद्देश्य है अनुप्रास जिसके सम्पादन में वह अन्य सब कुछ भूल गया है। काव्यप्रकाशकार ने इसमें प्रसिद्धि-विरुद्ध दोष निकालते हुए कहा है—“अत्र कर्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिः अनुप्रासानुरोधेनैव कृता न पुराण-
तिहासाविधु तथा प्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः” । (काव्यप्रकाश १० मउत्सास)

इसी कवि का सद्य भुक्ता नायिका के वर्णन में यह श्लोक देखिये—

एषा का स्तन-पीन-भार-नमिता मध्ये वरिद्रावति ।

विभ्रान्ता हरिणीबिलोलनयना सत्रस्तपूषोद्गता ।

ग्रन्तःस्वेदगजेन्द्रगण्डगलिता संसीलया गच्छति ।

दृष्ट्वा रूपमिव प्रियाङ्गुगहनं दृष्टोऽपि कामायते ।¹

श्रीर भर्तृहरि की ये पक्तियाँ भी—

आवासः क्रियतां गंगे पापवारिणि वारिणि ।

स्तनमध्ये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणि ।²

इन उदाहरणों से कवियों की शब्दवैचित्र्य, समासभूयस्त्व, पाण्डित्य-प्रदर्शन आदि की श्रीर उन्मुख प्रवृत्ति का आभास मिलता है। भर्तृहरि जैसे वेदभीरी रीति के पक्षपाती की रचनाओं में भी अर्थ-चमत्कार तथा शब्द-चमत्कार की श्रीर झुकाव देखा जाता है।—

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः ।

पाणिभ्यां पङ्कुरागाभ्यां रेजे रत्नमयीव सा ।

गुहणा रत्नभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता ।

शर्नैश्वराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा ।³

प्रथम श्लोक में नायिका को रत्नों की माला का रूप दे दिया गया है और दूसरे में वह ग्रह-प्रस्त करा दी गई है। इन उक्तियों से हृदय चमत्कृत अवश्य हो जाता है किन्तु नायिका के सौन्दर्य की झलक, जिससे हृदय सत्त्वदशा की अनुभूति में डूब जाये, नहीं मिल पाती। रत्नों के झमेले में उसके स्वाभाविक लावण्य की आभा कहाँ रही? श्रीर पेरों पर शर्नैश्चर के चढ़ जाने से तो अनिष्ट ही हो गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन उक्तियों में विशुद्ध शब्द-वैचित्र्य ही कवि का लक्ष्य प्रतीत होता है। ‘गुण’ शब्द का यह श्लेष भी ऐसा ही है :—

1. मयूराटक ।

2. शतकत्रयादि श्लोक १३५ ।

3. शतकत्रयादि० १३१।१३२ ।

मुग्धे ! शानुष्कता केयमपूर्वा तव दृश्यते ।

यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकः ।^१

मुग्धे ! तुम्हारी धनुर्धरता अपूर्व है । तुम गुणों से ही चित्त वेधती हो बाणों से नहीं । क्या बिहारी का 'तिय कित कमनैती पढी' वाला दोहा भतृहरि की इसी उक्ति का वंशज नहीं है ? एक अन्य उदाहरण लीजिए :—

केशा संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते सोचने ।

अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गण-

मुक्तानां सतताधिवासरुचिरं वक्षोजकुम्भद्वयम् ।

इत्थं तन्वि ! वपुः प्रशान्तमपि ते रागं करोत्येव नः ।^२

तन्वि ! तुम्हारे केश समयी हैं, लोचन श्रुति के पार तक पहुँचे हैं, अन्तर्वक्त्र स्वभाव से ही शुचि द्विजगणों से और उरोज-कुम्भ निरन्तर मुक्ताधिवास से शोभित हैं । इस प्रकार (सयमी, श्रुति-पारङ्गत, मुक्त-संपर्क, शुचिद्विजगणशोभित) तुम्हारा वपु शान्त होकर भी हमारे मन में राग का ही संचार करता है ।

अर्थ-चित्र का भी एक उदाहरण लीजिए :—

नूनमात्राकरास्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः ।

यद्भुग्ननेत्रसंचारसूचितेऽपि प्रवर्तते ।^३

नायिका की बाँकी चितवन के प्रभाव की अनुभूति यह पद्य नहीं कराता क्योंकि कवि का तात्पर्य तो अनुमान और उत्प्रेक्षा प्रत्यकारों में ही है । अभिव्यक्ति को कलात्मक रूप देना बुरी बात नहीं यदि वह भाव के सहायक रूप में गृहीत हो । केवल चमत्कार खड़ा करना अवश्य अस्वाभाविकता का कारण बन जाता है जो अन्यत्र चाहे अरुचिकर प्रतीत न हो किन्तु गीतिकाव्य में एकदम खटकने लगता है । इसीलिये गीतिकारों पर इस नयी प्रवृत्ति का प्रभाव चमत्कार के रूप में उतना नहीं पड़ा जितना कलात्मक लालित्य की सृष्टि के रूप में । भतृहरि में ही यह विशेषता भी प्रकट हो गई थी । उदाहरणार्थ नीचे लिखे हुए पद्य में अनुप्रास का योग वासन्ती मादकता का नादात्मक बिन्न उपस्थित करने में समर्थ है :—

मधुरं मधुरंरपि कोकिलाकलकलेर्मल यस्य च वायुभिः ।

विरहिणः प्रणिहन्ति शरीरिणो विपदि हन्त सुषापि विषायते ।^४

अहो ! यह वसन्त, कोकिलों की मधुर काकली तथा दक्षिण की मलय-वायु द्वारा विरही जन के शरीर पर आघात ही करता है । खेद ! विपत्ति में अमृत भी विष बन जाता है ।

१. शतकत्रयदि ०१३३ ।

२. „ १३६ ।

३. „ १२७ ।

४. वही १११ ।

भारवि ने 'वर्णनियम'^१ के अनुसार एकाक्षर द्व्यक्षर आदि पद्यों की रचना का आदर्श प्रस्तुत किया था जिसका अनुकरण माघ ने अपने शिशुपालवध में बड़े मनोयोग के साथ किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की रचना कवि की शक्ति का द्योतन तो अवश्य करती है किन्तु आस्वाद्यता उसमें लेशमात्र भी नहीं रह जाती। फिर भी सच्चे गीतिकारों ने भावगाम्भीर्य को सुरक्षित रखते हुए इस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत की। उदाहरण के लिये शाश्वत नामक कवि का यह पद्य लीजिए :—

स मे समासमो मासः सा मे माससमा समा ।

यो यातया तथा याति या यास्यायातया तथा ॥

वह मास मेरे लिये वर्ष के समान और वर्ष मास के समान है जो (क्रमशः) उस (प्रिया) के जाने पर और आने पर (वियोग और सयोग में) बीतता है।

एक अन्य विशेषता जो भर्तृहरि के अनेक पद्यों में दीख पड़ती है यह है कि वे उनकी वैयक्तिक अनुभूति में अनुप्राणित हैं। यों तो किन्हीं भी कला-कृति में उसके कर्ता की रुचि-प्ररुचि आदि का प्रतिबिम्बन स्वाभाविक ही है किन्तु भर्तृहरि की उक्तियों में उनके जीवन की विषमताओं द्वारा उद्बुद्ध भावनार्थ अप्रत्यक्ष रूप से, किन्तु बड़ी ही मार्मिकता के साथ, अभिव्यक्त हुई हैं। कहो मानारिक भोगों का लालसापूर्ण वर्णन^२, कहो उनकी निन्दा, कहो राजाओं को लक्ष्य कर आत्माभिमान की मुद्रा में अपने कवित्व की प्रशंसा और उनके ऐश्वर्य की हीनता का प्रतिपादन^३ और कहो गरीबी का कष्ट चित्रण^४, कहो स्त्रियों की प्रशंसा और कहो निन्दा^५ इस बात के प्रमाण हैं कि कवि का अभाव-पीडित मन समय-समय पर अपनी आन्तरिक ग्रन्थि (complex) से प्रेरित भावों को सामान्य रूप में व्यक्त करता रहा है। यद्यपि, जैसा कि हम कह आए हैं, संस्कृत-गीति-काव्य में आत्माभिव्यक्ति का आत्मचरितात्मक रूप खोजना अनावश्यक है तो भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। कहो कहीं अनुभूति की गहनता के साथ परिस्थितियों और वातावरण का ऐसा चित्रण मिलता है जो कल्पित हो ही नहीं सकता। सच्चे कवि द्वारा अपबीती तथा जगबीती भावनार्यों की अभिव्यक्ति में आस्वाद्यता की दृष्टि से बाहे कोई अन्तर न रहता हो किन्तु स्वानुभूत विषय और भाव के चित्रण में एक विशेष प्रकार का सरस, विचित्र तथा अनन्य प्रभाव छाया रहता है जो अपनी साधारणीकृत दशा में भी विशिष्टता का प्रतिष्ठापक होता है। आत्मदर्शन का यही तत्त्व भर्तृहरि की इन उक्तियों में मिलता है। पुरुष की अपेक्षा नारी का हृदय अधिक भावुक तथा संवेदनशील होता है। अतः कवयित्रियों की उक्तियों में ऐसे तत्त्वों का अधिक समावेश पाया जाता है जिनसे उनके वैयक्तिक जीवन से सम्बद्ध होने की संभावना अपेक्षाकृत

१. देखिये, कव्यादर्श, ७।८३ ।

२. रातकथन्यादि, श्लोक ६६, १४४ ।

३. वही, ,, श्लोक १६३।१६५ ।

४. ,, ,, ,, १८३ ।

५. वही, ,, ,, ८१।८२।११५ ।

अधिक प्रतीत होती है। विजयका अथवा विजयाङ्का की, जो कर्नाटक के राजा चन्द्रादित्य (६६० ई०) की रानी थी^१ एक उक्ति देखिए :—

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विस्मयञ्चाट्टशतकानि रतान्तरेषु ।

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ।

‘तू धन्य है जो मुरत के समय प्रिय से बात कर लेती है, मैं तो सशपथ कहती हूँ कि प्रिय का हाथ नीवी पर जाते ही कुछ याद नहीं रहता’। इसी प्रकार शीला भट्टारिका का यह श्लोक भी:—

यः कीमारहरः स एव हि वरस्ता एव चंद्रक्षपा-

स्ते चोन्मीलितमालतोमुरभयः प्रोढाः कवम्बानिलाः ।

सा चंबास्मि तथापि तत्र मुरतव्यापारलोसाविधौ ।

रेवारोघसि बतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ।

कोमार्य को खण्डित करने वाला वही (प्रच्छन्न प्रेमी) अब मेरा वर (पति) है, वे ही चेत की राते और वही मालती की गन्ध से भरी कदम्ब-वृक्षों से घाती हुई बायु है। मैं भी वही हूँ, फिर भी रेवा के तट पर वेतस वृक्ष के नीचे (विवाह से पूर्व) के मुरत-व्यापार चित्त में उत्कण्ठा भर देते हैं।

इन दोनों ही पद्यों में वर्णित विषय कल्पित नहीं कहे जा सकते। कोई भुक्तभोगी ही इस प्रकार की बातें कह सकता है जो किसी पुरुष कवि के अनुभव के बाहर की वस्तुएँ हैं। दूसरी उक्ति के विषय में तो यह बात और भी अधिक निश्चयात्मकता के साथ कही जा सकती है। ये उद्गार एक नारी के अनन्य गुप्ततम रहस्य हैं जिनकी अभिव्यक्ति एक कवयित्री द्वारा हुई है। अतः वह नारी इस कवयित्री के प्रतिरिक्त कोई नहीं है।

भर्तृहरि का व्यक्तित्व जहाँ निश्छल और सरल है वहाँ बड़ा अस्थिर और अनिश्चित भी। निश्छल इस अर्थ में कि वे जब कभी जो कुछ सोचते हैं, वही कहते हैं, सरल इसलिए कि सीधी बात कहते हैं, अस्थिर इस कारण कि वे अपनी ही बात पर जम नहीं पाते और अनिश्चित इस हेतु कि अपनी इन विशेषताओं के कारण वे आलोचकों के लिए एक समस्या बने रहे हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति को लेकर उनके मन में जो खींच-तान रही है वह उनकी अस्थिरता की पोषक है। उनकी शृङ्गारपरक स्तुतियों में भी जो वैराग्य और नारी-निन्दा की झलक कहीं-कहीं मिलती है, उसका कारण भी यही है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का नीर-क्षीर वत् समन्वय, जो कालिदास के प्रेमचित्रण की विशेषता है, भर्तृहरि की रचना में नहीं मिलता। शृङ्गार के वर्णन में जब वे वैराग्य की बात करते हैं तो वह कुछ अलग से कही गयी सी प्रतीत होती है और गङ्गा-यमुना के संगम के समान दोनों की विभिन्न वर्ण धाराओं को ही प्रस्तुत करती है। शायद अन्त तक भी वे यह निश्चय न कर पाए कि :—

‘सेवया नितम्बाः किमु भूषराणावृतस्मरस्मेरविलासिनीनाम्”

इसलिए उनके सम्बन्ध में ऐसी ऐसी जन-श्रुतियाँ भी फैल गई कि वे अपनी पत्नी से प्रणय-प्रवञ्चित होकर अतृप्त वासना को लिए हुए ही भावावेश में सब कुछ त्याग कर सन्यासी बन गये और फिर गृहस्थ तथा सन्यास आश्रम के बीच में सात बार इधर से उधर भटकते रहे। वैयक्तिक रुचि और परिस्थितियों के साथ साथ इसका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि युग की रुचि के अनुसार शृङ्गार भावना भी उन्मुक्त रूप से साहित्यिक जगत् में फैल रही थी और ‘शृङ्गारी चेतकविः काव्ये जातं रसमयं जगत्’ के अनुसार कवि लोग केवल शृङ्गारी बनना पसन्द करते थे, या जब वे शृङ्गारिक कविता लिखते तो उस समय ग्रन्थ बातों को अवश्य भुला देते थे। भर्तृहरि एक ओर तो इस प्रवृत्ति से प्रभावित हुए और दूसरी ओर अपने अभ्राव-पोषित विराग की भी अवहेलना न कर सके जो इतना प्रबल था कि शृङ्गारी रचना से नमक-पानी जैसी सन्धि नहीं कर सकता था। यही कारण है कि उनकी शृङ्गारिक रचनाओं में भी जहाँ तहाँ विराग्य का स्वर सुनाई पड़ता है :—

सत्यं जना वक्षि न पक्षपाताल्लोकेषु सप्तस्वपि तथ्यमेतत् ।

नाम्यम्मनोहारि नितम्बानीभ्यो दुःखं कहेतुनं च कश्चिद्वयः ॥^१

मैं सच कहता हूँ, किमी पक्षपात से नहीं। यह सातों लोकों में सत्य है कि कामिनियों से अधिक मनोहर और दुःखदायी अन्य कुछ नहीं है।

धन्यास्त एव चपलायतलोचनानां तावद्वयवर्धनपीनपयोधराणाम् ।

सामोदरोपरिसत्रिप्रवलीलतानां वृष्टवाकृति विकृतिमेति मनो न येषाम् ॥^२

वे धन्य हैं जिनका चित्त चपल-प्रायताक्षी, कुशोदरी, शिवनी से शोभित तथा यौवन वर्ण से पुष्ट उरोमो वाली सुन्दरियों को देखकर विकृत नहीं होता।

शृङ्गार की प्रधानता धीरे धीरे इतनी बढ़ी कि कवि-जन उपास्य देवताओं की रति का भी बड़े धाव के साथ वर्णन करने लगे। यद्यपि कालिदास के कुमारसम्भव में भी शिव और पार्वती की शृङ्गारिक चेटाओं का भरपूर वर्णन है किन्तु उसके विषय में एक बात यह कही जा सकती है कि प्रेम का संतुलित रूप ही वहाँ दिखाया गया है। पार्वती का प्रेम तपस्या से परिपुष्ट एवं पूत है। उच्छृङ्खल काम का कालिदास ने दहन करना ही उचित समझा। शिव पार्वती की विवाह के पश्चात् की शृङ्गारिक केलियाँ पूरे महाकाव्य के सन्दर्भ में देखी जायें तो अनुचित और अनर्गल प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त दिव्य पात्र होने पर भी प्रेम का चित्रण यहाँ मानवीय धरातल पर ही किया गया है। प्रणय-केलियों का परम उद्देश्य है कुमार का जन्म जिससे लोक का कल्याण होगा। परन्तु गायिकाप्तशती में जो देव-मिथुनों के शृङ्गारिक व्यापारों का चित्रण हुआ था वह एक नयी दिशा का सूचक था। इन उक्तियों में कवि का भाव केवल शृङ्गारमय रहा है। प्रस्तुत देव दम्पतियों के

१. रातक त्रयादि, ११२।

२. वही ११८।

प्रति उपासना, भक्ति, पूजा आदि की भावना परिलक्षित नहीं होती। आगे चलकर शृङ्गारी कवियों ने अपने मङ्गलाचरण में भी इस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कीं और शिव, हरि आदि को भी भूगनयनियों का वशवर्ती बना देने वाले कामदेव को नमस्कार का पात्र समझा।

शंभुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणीनां येनाक्षिप्यन्त सततं गृहकम्भवासाः ।

वाचामगोवरक्षरित्रपवित्रिताय तस्मै नमो भगवते अक्षरध्वजाय ॥^१

हरि, हर, ब्रह्मा आदि को भी वश में करने वाला कामदेव कामिनियों के भ्रूसंकेत पर चलता है इसलिए कवियों ने उन्हें ही नमस्कार करना उचित समझा। भला ऐसी विभूति को भी अबला कहा जा सकता है जिसके कटाक्षमात्र से पौष पानी पानी हो जाये। नारी के हाव-भावों के स्मरण को भी सुखद और विघ्ननाशक मानकर उनमें रक्षा सामर्थ्य की कल्पना कर ली गयी।^१ यह भावुकता शृङ्गार के एकच्छत्र राज्य की घोषणा थी। अमरुक का मङ्गलाचरण देखिए जिसमें हरि, हर स्कन्द आदि देवताओं की अवहेलना कर विपरीत-रति-स्निग्ध नायिका के अमरुजलविलम्ब मुख द्वारा पाठक की रक्षा की कामना प्रकट की गई है—

आलोलामलकावलीं विलुलितां बिभ्रच्छलत्कुण्डलम् ।

किञ्चिन्मृष्टविशेषकं तनुतरः श्वेदाभ्रभसः क्षीकरः ।

तन्वया यत्सुरताम्रताम्रनयनं वक्त्रं रतिव्यस्यये ।

तत्त्वां पातु चिराय किं हरिहरस्कन्दादिभिर्वैवतः ।^२

यह एक निश्चित तथ्य है कि साहित्य में युग की परिस्थितियों के अनुसार नयी-नयी प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ करता है जो अपनी प्रारम्भिक अवस्था में स्वाभाविक और असंस्कृत होती हैं, धीरे-धीरे वे परिष्कृत होती हुई कला के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती हैं जिसके पश्चात् उनका रुढ़ि के रूप में परिणत होना अवश्यम्भावी हो उठता है। फिर तो कवि लोग रुढ़िग्रस्त होकर पिष्टपेषण करने लगते हैं। शृङ्गार-चित्रण के विषय में भी ऐसी ही घटना घटी। जैसे-जैसे इसका प्रसार होता गया अभिव्यक्ति और अनुभूति दोनों में परिष्कार भी होता चला गया और अन्त में वह रुढ़िग्रस्त होकर क्षुद्र परिधि में बन्द हो गया। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि कामशास्त्र अथवा नायिकाभेद की बँधी-बँधायी परिपाटी का पालन करने में ही कवि-कर्म की इति श्री समझ ली जाती। अमरुक की रचनाओं में यह बात स्पष्टतया लक्षित की जा सकती है। वास्तव में अमरुक संस्कृत साहित्य में टिपिकल गीतिकाव्य के प्रतिनिधि कवि है। एक उदाहरण लीजिए।

वदचिताम्बूलाक्तः वदचिदगुरुपङ्काङ्गुमलिनः ।

वदचिच्छूर्जोद्गारी वदचिदपि च सालवतकपवः ।

१. अमरुक शतक (निर्यायसगर) श्लोक ३, ७४, ८६, १०७ ।

२. वही, ५४ ।

३. अमरुक शतक, ३ ।

बलीभङ्गाभोगरसकपतितः शीर्णकुसुमः ।

स्त्रियो नानावस्थं प्रथयति रतं प्रच्छादयत् ॥

इस श्लोक में 'नानावस्थ रतम्' स्पष्ट रूप से कामशास्त्र द्वारा प्रतिपादित विभिन्न मुरत-बन्धों की ओर संकेत करता है। ताम्बूल और अगुरुषङ्कु आदि के बिन्दु उन विशिष्ट बन्धों को सहज बुद्धिगम्य बना देने हैं। वेमभूपाल ने हम पद्य की टीका करते हुए लिखा है—

अथ कवचित्ताम्बुलावत इत्यनेन भाजारकरण सूचितम् । यथोक्तं रतिरहरये प्रसारिते पाणिपादे शय्यास्पृश मुल्लोरसि । उन्नतायां स्त्रियः कट्यां भाजारकरणं मतम् इति । कवचिवगुरुषङ्कुः कुमलिन इत्यनेन करिपदं नाम बन्धविशेषः सूच्यते । यथोक्तम् भूगतस्तनभुजास्यमस्तकामुन्नतमजिघमषोमुखी स्त्रियम् । कामति स्वकरकृष्टमेहने वल्लभे करिपदं तदुच्यते इति । कवचिच्छूर्णोद्गारीत्यनेन धेनुकं नाम करणं सूच्यते । यथोक्तम् न्यस्तहस्तयुगला भुवस्तले योषिदेति कटिहृदवल्लभा । अग्रतो यदि शनैरधो-मुखी धेनुके वक्षवदुन्नते प्रिये इति । कवचिवपि च सालवतरूपद इत्यनेन पुरुषायित सूच्यते । तत्स्पष्टमेव ।”

इन विभिन्न प्रकार के बन्धों में से पुरुषायित रति का चित्रण करने में कवियों ने बड़ी अभिरुचि दिखाई है। श्वयं अमरुक ने 'संभोग शृङ्गार' के १२-१३ श्लोकों में से चार में इसका वर्णन किया है।^१ वात्स्यायन ने कामसूत्र के दूसरे अधिकरण के चतुर्थ अध्याय में नागरिक का जो चित्र खींचा है वह अमरुक के नायक में पूर्णतया मिलता है। अमरुक का नायक भी गानविद्या में कुशल है^२ और चित्रकला में तो इतना प्रवीण है कि निरुद्देश्य रेखाएँ भी खींचने लगता है तो उसके मन की सुन्दरी का चित्र बन जाता है। उसी के मुख से सुनिधे—

पुरस्तम्भ्या गोत्रस्त्वसनचकितोऽहं नतमुखः

प्रवृत्तो बलक्षयातिकमपि लिखितुं देवहूतकः ।

स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तावक् परिणतो

गता येन व्यक्तिं पुनरवययैः सैव तरुणी ॥^३

अचानक ही प्रियतमा के समक्ष अन्य युवति का नाम मुख से निकल जाने के कारण मैं चकित तथा अयोमुख होकर लज्जावश पृथ्वी पर रेखाएँ खींचने लगा किन्तु वह रेखान्यास कुछ ऐसा बन पड़ा कि उसी सुन्दरी की तस्वीर अङ्कित हो गयी।

उसके भवन की वापी के इधर-उधर फैली हुई एक वाटिका भी है जिसकी परागसम्पन्न आश्रमज्जरी वसन्त में अमर-वधुषो के गुञ्जन से मुखरित हो उठती है और वियोगिनी नायिका उसे पकड़कर घाँवल मुँह पर डाले हुए रोया करती है।^४ घर में पले हुए शुको के पित्रे लटकते रहते हैं जो बाण के शूको^५ के ही समान पड़े

१. अमरुक शतक, ३, ७४, ८२, १०७

२. वही, ४४ ।

३. वही ११ ।

४. „ ७८ ।

५. कादम्बरी महाकाव्य ॥

हुए होते हैं। इतने होशियार कि नायक-नायिका की नोंक-भोंक होने पर घर के वातावरण को समझकर हँसना पढ़ना छोड़ देते हैं,¹ किन्तु इतने मुखर भी कि दम्पती के निशाकालीन प्रेमालापों को गुरुजन के सामने ही दुहराने लगते हैं।² सुरतकालीन साज-सज्जा, (पटवास, सुमनमाला आदि) यथास्थान नखझत, दन्तच्छेद एवं कचग्रह में निपुणता और मानिनी के प्रणयन में चतुरता आदि सभी विशेषताएँ इस नायक में परिलक्षित होती हैं।

कामशास्त्र को एक महत्त्वपूर्ण देन है दूती-सम्प्रयोग। दूती का कार्य बड़ा ही कठिन है। दो अपरिचित हृदयों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना और उसे स्थायी बनाए रखना कुछ आसान काम नहीं है। मन-मुटाव अथवा एक दूसरे के प्रति सन्देह हो जाने पर सन्धि कराना, कभी नायक को तो कभी नायिका को अवसरानुकूल उपालम्भ, सामकथन अथवा वक्र फटकारों से पुनः प्रेम-प्रवृत्त कराना, नायिका की लोक लाज को बनाए रखने हुए अभिसार कगना आदि बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य हैं जो स्वयं 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' अस्पृष्ट रहकर पूरे करने होते हैं। दूती का कार्य प्रायः नायिका की सखियाँ करती हैं क्योंकि नायिका के अत्यन्त निकट और रहस्य-गोपन में चतुर होती हैं। वे स्वयं भी सुन्दरी और यौवनवती हो सकती हैं। अतः नायिका को ऐसी दूती पर तनिक सी अमावधानी से सन्देह हो सकता है। उसका विश्वास बनाये रखना भी बड़ा आवश्यक होता है। सचमुच 'दूतीधर्मः परम गहनः' अर्धे यौवन और मादक वातावरण में कभी भी स्थलन सम्भव है और इस सम्भावना की कल्पना कर संस्कृत के कवियों ने दूती-विषयक अनेक सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जो नायिका के प्रति उसके विदवासघात और अमानत में खयानत वाली उक्ति को भले ही चरितार्थ करती हों सहृदयों को तो रसप्लावित कर ही देती हैं।

शीला भट्टारिका कितने अन्तर्द्वन्द्व के साथ दूती को अपने प्रिय के पास जाने के लिए विदा करती है।

दूति 'स्व' तरुणी युवा स चपलः इयामास्तमोभिदिशः ।
सदेशश्च सरहस्य एव विपिने संकेतकावासकः ।
भूयो भूय इमे वसन्तमरुतश्चेतो नयन्त्यन्यथा ।
गच्छ क्षेमसमागमाय निपुणं रक्षन्तु ते देवताः ।

हे दूति ! तू युवति है और वह युवक चपल है तिस पर सारी दिशाएँ अंधेरे से काली हो रही हैं, सदेश रहस्यपूर्ण है और वह सहेत पर स्थित है। वसन्त की वायु बार-बार चित्त को विचलित कर देती हैं। कल्याण-समागम (हित-सम्पादन) के लिये तू जा, देवता तेरी रक्षा करें।

1. अमरक शतक, ७ ।

2. वही, ८७ ।

अमरुक की दूती सचमुच ही समागम के पश्चात् लौटती है और नायिका को व्यङ्ग्य करने का अवसर देती है —

निःशेषक्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो ।

नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तथेयं तनूः ।

मिथ्याबादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याशातपीडागमे !

वापी स्नानुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।

तेरे वक्षस्थल का चन्दन छूट गया है । अधर की लालिमा मसली हुई सी है, नेत्रों में काजल नहीं रहा, शरीर पुलकित है । दूति ! तू झूठ बोलती है । तुझे सखी की पीड़ा का भी ध्यान नहीं । यहाँ से तू बावड़ी में स्नान करने के लिये चली गयी, उस अधम के पास नहीं गयी ।

यह दूती अपनी गलती को समझ कर मौन तो है । इस अन्य दूती को देखिए जो अपराधिनी तो है ही, धूष्ट भी है । निर्लज्जता के साथ जवाब दे रही है :—

स्विन्न केन मुखं ? दिवाकरकरंस्ते रागिणी सोचने ।

रोषातद्वचनोदिताद्, विल्ललिता नीलासका वायुना ।

भ्रष्टं कङ्कषमुत्तरीयकषणात्स्लान्तासि गत्यागतेः ।

उत्तमं तत्सकलं किमत्र बव हे दूति ! क्षतस्याधरे ।

‘तुम्हारे मुख पर पसीने की बूँदें क्यों हैं ?’

‘सूर्य की किरणों के कारण ।’

‘आँखें लाल कैसे हो गयी ?’

‘उस (नायक) की बातों पर क्रोध आ जाने के कारण ।’

‘इन काले-काले बालों के अस्त-व्यस्त होने का कारण ?’

‘वायु’ ।

‘उरोजस्थल का केसर कैसे छूट गया ?’

‘दुपट्टे की रगड़ से’ ।

‘यकी हुई क्यों हो ?’

‘हो, जाने और लौटने के आयास से’ ।

‘ठीक है, इस सब का जवाब तो तूने बना लिया पर यह तो बता तेरे अधर पर क्षत कैसे है ?’

कामशास्त्र के साथ-साथ नाट्यशास्त्र के नायिका-भेद का बड़ा भारी प्रभाव गीति साहित्य पर पड़ा । वर्णविवेक तथा शैली को एक निश्चित तत्वि में, जो पहले से बना हुआ था, ढालकर गीति काव्य का भवन खड़ा किया जाने लगा । नायक-नायिकाओं के भेदप्रभेदों को लेकर रचनाएँ हुईं । अमरुक के शतक में इस प्रकार की बहुत सी रचनाएँ हैं जिनमें नवोदा, मुग्धा, मध्या प्रौढा, धीरा, धीराधीरा, वासकसञ्जा, कलहान्तरिता, खण्डिता, प्रवत्सपत्निका, प्रेषितपत्निका, स्वाधीनपत्निका अभिसारिका आदि नायिकाओं

1. देखिए, अमरुकशतक पर वेमभूषाल की टीका ।

और दक्षिण, शठ, धूर्त आदि नायकों के अतिरिक्त उनके अङ्गज और प्रयत्नज अलङ्कार, गुण, सात्त्विक भाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव, उद्दीपन, अनेक ध्वनि-प्रकार और अलङ्कारों का यथास्थान समावेश हुआ है। यही कारण है कि कुछ लोगों को यह सन्देह हो गया था कि अमरुक शतक की रचना शायद उदाहरणों को जुटाने के प्रयत्न में हुई¹ किन्तु वास्तविकता यह नहीं प्रतीत होती। उदाहरणों की सृष्टि में स्वाभाविकता का ऐसा समावेश संभव नहीं। इस सम्बन्ध में डा० कीष का कथन है यह धारणा कि इस रचना का उद्देश्य नायिका-भेद तथा अलङ्कारों के उदाहरण प्रस्तुत करना है, उपेक्षणीय है अमरुक ने प्रेमियों के सम्बन्ध का ही चित्र खींचा है, जीवन के अन्य पहलू का विचार तक उसके मस्तिष्क में नहीं आया। यदि अमरुक का उपर्युक्त उद्देश्य होता तो वह संभवतः जीवन के अन्य अङ्गों से भी उदाहरण प्रस्तुत करता अतः यह सब कोरा अनुमान है। जो कुछ उसने हमें दिया है उसमें कुछ अधिक खोजे बिना ही हमें उसके कृतज्ञ होने का पर्याप्त कारण मौजूद है।¹ यदि अमरुक का उद्देश्य नायिका भेद के उदाहरण प्रस्तुत करना था तो प्रेम के अतिरिक्त जीवन के अन्य पक्षों को चित्रित करने का प्रश्न नहीं उठता। हाँ, अलङ्कारों के उदाहरण अन्य पक्षों से भी दिये जा सकते हैं, किन्तु अमरुक के श्लोकों में अलङ्कारों का स्थान निश्चित रूप से गौण है। वे सर्वत्र ही भाव के पोषक बनकर आए हैं और सिर उठा-उठाकर अपना अस्तित्व नहीं जताते। अतः अमरुक-शतक को उदाहरण-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि काव्य शास्त्र की बारीकियों से अमरुक भली भाँति परिचित थे और उनका यह परिचय उनकी कला में पूर्णतया घुल-मिल गया है।

अमरुक के वर्ण्यविषय और उसके अन्तर्गत प्रसङ्ग विधान पर दृष्टि डालते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवन के एक ही पहलू के एक अंश मात्र का चित्रण उन्होंने किया है। इस दृष्टि से उनका क्षेत्र संकुचित ही कहा जायेगा। हम कह आए हैं कि उनका प्रेम नागरिक प्रेम है। यही कारण है कि उसके प्रसार का क्षेत्र व्यापक नहीं है। गाथासप्तशती के समान मोदावरी की कछारो, हरे-भरे खेतों और पर्वतीय प्रदेशों तथा वनों में उनके नायक-नायिकाओं की प्रेम क्रीड़ाएँ नहीं चलती। उनकी रङ्गभूमि अधिकतर केलिशयन, उससे कुछ उतर कर घर और उससे भी कम घर का उपवन रहा है जिसे हम मदन-वाटिका कह सकते हैं। नायिका की सखियों, दूती, गुरुजन और परिजन तथा पालतू बूक और मदन-वाटिका की सहकारमञ्जरी पर गुनगुनाते हुए भीरों के अतिरिक्त कोई अन्य प्राणी इस संकुचित क्षेत्र में नहीं आ सका है। प्रकृति के नाम पर भी वही आश्रमञ्जरी, मलय-वायु, चाँदनी रात, वर्षा और मेघ, उपमान के रूप में इन्दीवर तथा कुछ अन्य पुष्पों का उल्लेखमात्र हुआ है। गिरि, सरित् और वनों का उल्लेख भी एक श्लोक में मिलता है जिससे बिम्बप्रहण की दुराशा तो दूर रही हलकी सी भांकी की आशा भी हम नहीं कर सकते।

अमरुक न तो संयोग के ही कवि हैं और न ही विप्रलम्भ के। फिर भी वे प्रेम के उत्कृष्ट कवियों में से हैं। वे मानविप्रलम्भ के (जिसे वास्तव में वियोग

नही कहा जा सकता) कवि हैं। उनके आधे से अधिक शतक में मान और प्रसादन की बातें हैं। तीन श्लोक नायिका के मान से प्रारम्भ होते हैं किन्तु नायक द्वारा बलात् प्रालिङ्गन आदि के कारण उसकी शान्ति के साथ समाप्त होते हैं। दो श्लोकों में पूर्वराग का वर्णन है। १०-१२ श्लोक नायिका अथवा नायक की विरह-दशा का चित्रण करते हैं ५-६ श्लोकों में प्रवत्स्यत्पतिका की मनः स्थिति दिखाई गयी है। संयोग-चित्रण के १३ श्लोक हैं जिनमें चार श्लोकों में विपरीत रति का वर्णन है, तीन श्लोक पुरुष प्रवृत्त रति और इतने ही स्त्रीप्रवृत्तरति को प्रस्तुत करते हैं। एक श्लोक में सुरत के पश्चात् निर्वसन नायिका की सलज्ज चेष्टाओं की अभिव्यक्ति हुई है और एक में अनजाने ही गृहशुक द्वारा दम्पती की रतिकालीन बातों को दुहराने से लजाती हुई वधू का कान में पहिने हुए मूंगे से अनार के दानेका घोखा देकर उसका (तोते का) मुंहबन्द करने की बात कही गई है। इसके अतिरिक्त कुछ पद्यों में खण्डिता की उक्तियाँ और कुछ में कलहान्तरिता का पश्चाताप चित्रित किया गया है। दो श्लोकों में नवोढा का अन्तर्द्वन्द्व बड़ी कुशलता से अभिव्यक्त किया गया है। विरह-वर्णन में शारीरिक ताप की नाप-जोख से लेकर संसार में सर्वत्र प्रेमपात्र की मूर्ति के दर्शन तक की कल्पना की गयी है, फिर भी वह व्यापक नहीं कहा जा सकता। प्रसार की कमी को भरुक ने गहराई से पूरा किया है और यह कहना अनुचित न होगा कि अनुभूति की गम्भीरता में वे कानिदास के अतिरिक्त किसी भी संस्कृत कवि से बढ़कर हैं। यही कारण है कि "भरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते" जैसी उक्ति से उनके काव्य का अभिनन्दन किया गया और ध्वनिकार जैसे प्रौढ काव्यशास्त्री ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। वियोग-अनुभूति का एक उदाहरण लीजिए—

प्रासावे सा बिशि बिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा ।

पर्यङ्के सा पश्चि पश्चि च सा तद्वियोगानुरस्य ।

हहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा ।

सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतबाधः ।

नायिका के ध्यान में एकतान वियोगी नायक योगी के सद्दश सर्वत्र अपने प्रेमपात्र का ही जलवा (प्रकाश) संसार में देखता है। यह स्मरण और चिन्तन की चरम परिणति कही जा सकती है। इस पद्य के भाव-गाम्भीर्य को देखकर किसी किसी विद्वान् ने तो इसे कालिदास द्वारा रचित ही मान लिया है।^१

प्रिय की प्रतीक्षा में रत वियोगिनी का यह विषाद-भरा प्रोत्सुक्क कितना मर्मस्पर्शी है—

१. भरुकशतक, १०२ ।

२. देखिए, प्रो० चन्द्रशेखर पाण्डेय और शान्ति कुमार नानुराम व्यास की संस्कृत की रूप रेखा ।

आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पववीमुद्गोक्ष्य निविण्णया ।

विचिच्छन्नेषु पयिष्वहःपरिणतौ ब्रह्मन्ते समुत्सर्पति ।

वत्स्यं सशुचा गृहं प्रति पवं बान्धवस्त्रियास्मिन् क्षणे ।

मा भूवागत इत्यमन्ववलिताग्नीं पुनर्योजितम् ।^१

‘जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी, प्रिय का मार्ग देखा । दिन छिपने लगा, अंधेरा हो चला, पयिकों का आना-जाना रुक गया तो दुःखी होकर विद्योगिनी ने घर की घोर कदम रखा और उसी क्षण जल्दी से ग्रीवा घुमाकर फिर मार्ग की ओर देखा कि शायद प्रवासी प्रियतम आ ही गया हो ।

किन्तु विरह-वर्णन का यह स्तर आद्योपान्त दिखाई नहीं पड़ता । ऊहात्मक वर्णन शैली का जो विकास होता चला आ रहा था और जिसका पर्याप्त प्रौढ़ स्वरूप माघ तथा बाण की रचनाओं में मिलता है, अमरक की कृति में भी अपने जगमगाते रूप में देखा जा सकता है । उत्तरकालीन गीतिकारों में यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई जो तत्कालीन संस्कृत साहित्य की अन्यान्य विशेषताओं के साथ रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में भी संक्रान्त हुई । एक उदाहरण देखिए—

तप्ते महाविरहवर्ज्जिशिलावलीभि-

रापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियायाः ।

मन्मार्गबीक्षणनिवेशितवीनदृष्टे-

नूनं छमच्छमिति बाण्यकणाः पतन्ति ॥^२

‘मेरे मार्ग में कातर दृष्टि जमा कर देखती हुई प्रिया के विरहाग्नि से तपे हुए पाण्डुर उर पर आसू छन छन की आवाज के साथ गिरते होंगे ।

बिहारी का दोहा भी इसके साथ रख लीजिए—

पलनु प्रकटि बरनीनु, बडि नहि कपोल ठहरात ।

अंसुआ गिरि छतियां छिनकु छनछनाइ छपि जात ॥^३

काव्यशास्त्र से प्रभावित तथा नागरक ढरें का होने के कारण अमरक का चित्रण कही-कही पहले से खिंचे लिखाए स्त्राके में रंग भरने की कारीगरी मात्र बन कर रह गया है—

आलम्ब्याङ्गुणवाटिकापरिसरे चूतव्रूमे मञ्जरी ।

सर्पस्तान्त्रपरागसम्पटरदभृङ्गाङ्गनाशोभिनीम् ।

मन्ये स्वां तनुमुत्तरीयशकलेनाच्छाद्य बासा स्फुर-

त्कण्ठध्वाननिरोधकम्पितकुचद्वयासोद्गमा रोदिति ।^४

अवश्य ही मेरी प्रिया आँगन की वाटिका के परिसर में उड़ते हुए सघन पराग की लोलुप गुञ्जन करती हुई भ्रमरियों से शोभित आम की शाला को पकड़ कर

१. अमरकशतक ७६ ।

२. अमरकशतक ८६ ।

३. बिहारी सप्तसई ।

४. अमरक ७८ ।

तथा अपने मुख को घाँबल से ढककर श्वास-प्रश्वास से स्पन्दित होते हुए उरोजो से लक्षित होती हुई रूँधे कण्ठ से रोती होगी।

पहली पक्ति में कामशास्त्रीय नागरक की मदन-वाटिका, दूसरी में उद्दीपन आलम्बन के कुछ साधन और अन्तिम दो पक्तियों में वियोगिनी नायिका के रोने का वर्णन है। यहाँ मैं 'वर्णन' शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर इसके शाब्दिक अर्थ में प्रयोग कर रहा हूँ। शब्दों से 'रोना' आदि कह कर वियोग-व्यथा की पूरी पूरी व्यञ्जना नहीं होती। यह पूरा चित्र सामान्य वियोगिनी का नहीं हो सकता। सामान्य वियोगिनी का चित्र वह है जो कालिदास ने केवल एक पक्ति में दे दिया है—

‘आलोकिते ते पतति पुरा सा बलिभ्याकुला वा’।

अमरुक का चित्र टिपिकल है, विशिष्ट वर्ग का है, इसीलिए उसमें व्यापकता नहीं है—व्यापारो की भी और भावनाओं की भी।

इस विवेचन का तात्पर्य यही है कि अमरुक सामान्य की ओर से विशेषीकरण की ओर प्रवृत्त हो गए हैं उन्होंने व्यापकता को गहराई से पूरा करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार वे संस्कृत गीतिकाव्य की विकास-यात्रा में एक विशेष मजिल के प्रारम्भ की सूचना देते हैं। उत्तरवर्ती कवियों ने उनका अनुसरण कर व्यापकता को तो छोड़ दिया पर वैसी गम्भीरता लाने में विरले ही समर्थ हो सके।¹ अमरुक प्रणय-जगत् में होने वाली नोक-झोंक और मान-मनाव के विशेषज्ञ कवि हैं। इस छोटे से क्षेत्र में उनकी पैठ बहुत गहरी है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अमरुक से पहले इस विषय को इतनी व्यापकता कभी प्राप्त न हुई। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर प्रसङ्ग-योजना, गहन अन्तर्द्वन्द्व, रुठे हुए दम्पती के मानसिक व्यापार आदि की मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक उद्घावना की है जिसका जोड़ मिलना कठिन है।

मान और श्रोतुम्य का यह सञ्चार कितना मनोवैज्ञानिक है—

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया।

सद्यः कोपपराङ् मुल्लगलपितया चाटूनि कुर्वन्मपि।

आवेगादवधोरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणा-

न्मा भून्मलान इवेत्यमन्ववलितश्रीवं पुनर्वोक्षितः।²

एकत्र शयन पर विद्यमान प्रियतम के मुख से अग्न्य रमणी का नाम सुनकर खिन्न प्रियतमा ने मनुहार करते हुए प्रिय की आवेग-वश उपेक्षा कर दी तो वह चुप हो गया किन्तु प्रिया ने तेजी से अपनी शीवा धुमाकर उसकी ओर यह सोचते हुए देखा कि कहीं वह सो न गया हो।

मुग्धा के केवल रोदन में व्यक्त होने वाले मान से लेकर प्रौढा अधीरा का नायक के सिर पर चरण प्रहार में प्रकट होने वाला मान तक अमरुक का विषय रहा है और उसी के अनुसार चाटुकारी से लेकर चरण-पतन तक के उपाय चित्रित किये

1. The general tradition established by Amruka & Bhartrihari is further refined but seldom exceeded or advanced, S. K. De, A. Hist. of Sans. Lit p. 366.

2. अमरुक रातक, २२।

गये हैं। यद्यपि गाथासप्तशती में ही मान की कतिपय दशाओं का चित्रण हो चुका था और मयूर की 'प्रणामाभ्यो मानो विसृज कठिने मानमधुना' वाली पंक्ति भी व्याप्त हो चुकी थी तथापि मान-वर्णन का इतना वैविध्य पहले कहीं नहीं देख पड़ा था। कितनी ही बार भ्रमरक की नायिका सखियों द्वारा सिलाये जाने पर भी मान धारण में असमर्थ रहती है क्योंकि भौह बड़ा लेने पर भी उसकी दृष्टि ग्रिय पर उत्कण्ठा के साथ ही पड़ती है। चुप होने पर भी मुख पर मुसकान था ही जाती है और चित्त कड़ा कर लेने पर भी शरीर रोमाञ्चित हो ही जाता है:—

भ्रमरकः रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुदीक्षते ।

रङ्गायामपि बाधि सस्मितमिवं वक्षाननं जायते ।

काकंश्य गमितेऽपि केतसितनू रोमाञ्चमालम्बते ।

दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन् जने ॥^१

यही नहीं, उसे डर है कि कहीं उसके हृदय में सदा विराजमान प्रियतम सखी द्वारा दी हुई मान करने की सीख को सुन न ले। इसलिये वह सहम कर सखी से ऐसा न करने का आग्रह करती है—

मुग्धे ! मुग्धतयं नेतुमस्त्रिलः कालः किमारभ्यते ।

मानं यत्स्व भर्ति वधानं शृङ्गुता दूरे कुह प्रेयसि ।

सख्यैव प्रतिबोधिता प्रतिबच्चस्तामाह भीतानना ।

नीचैः शंसं हृदि स्थितो हि ननु में प्राणेश्वरः श्लेषयति ।^२

सारांश यह है कि गाथासप्तशती को छोड़कर, अथवा दूसरे शब्दों में, संस्कृत के प्रगीत मुक्तकों में भ्रमरक की रचना से उत्कृष्ट कृति का मिलना दुर्लभ है। यद्यपि इसमें गाथासप्तशती के समान जीवन की अनेक-रूपता, भालम्बन की बहुमुखी प्रकृति, उद्दीपन का रूपवैविध्य और समाज का विशद चित्रण नहीं मिलता तथापि भावनाओं के वात-प्रतिधात और अनुभूति की तीव्रता में यह अपनी उपमा आप है। इस प्रकार गाथासप्तशती से भ्रमरक तक आते आते हम गीतिकाव्य की धारा में भारी परिवर्तन देखते हैं। भर्तृहरि और भ्रमरक की रचनाओं का अन्तर स्पष्ट करते हुए डा० कीथ लिखते हैं :—

“भर्तृहरि ने प्रेम के सामान्य पक्ष का चित्रण किया है और नारी की जीवन के अङ्ग रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु भ्रमरक ने प्रेमियों के पारस्परिक सम्बन्ध का चित्रण किया है, जीवन के किसी दूसरे पहलू का उन्होंने विचार ही नहीं किया। भ्रमरक का प्रेम विशद निर्मल और उच्च मनोभूमि पर स्थित है जो छोटे मोटे विवाद और मान-मनाव के भ्रान्त्यपूर्ण वातावरण से गुजरता हुआ हास के साथ समाप्त होता है।”^३ जैकडानल की सम्मति में भ्रमरक “प्रेमियों को उनकी सभी चित्तवृत्तियों—उत्साह,

१. भ्रमरक शतक, २८ ।

२. वही ७० ।

३. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १८४ ।

निराशा, रोष, तल्लीनता आदि—की अवस्था में चित्रित करने की कला में निपुण है। मान और प्रसाद की विभिन्न अवस्थाओं के चित्रण में वह विशेषरूप से चतुर है। उल्लेखनीय है कि भाव और पृष्ठभूमि की दृष्टि से अत्यन्त सीमित क्षेत्र में भी कवि अपनी विस्मयकारी उद्भावनाओं तथा कलाचातुरी के कारण, जो सर्वथा नवीन हैं, पाठक का ध्यान आकृष्ट करने में सफल हुआ है।¹

While Bhartihari deals rather with general aspects of love and women as factors in life, Amaru points the relation of lovers, and takes no thought of other aspects of life. The love which Amaru likes is gay and high-spirited, delighting in tiny tiffs and lovers, quarrels, but ending in smiles और मँवडानल की सम्मति में The author is a master in the act of painting lovers in all their moods, bliss and dejection, anger and devotion. He is specially skilful in depicting the various stages of estrangement and reconciliation. It is remarkable how, with a subject so limited in situations and emotions so similar, the poet succeeds in arresting the attention with surprising turns of thought and with subtle touches which are ever new.

शैली की दृष्टि से भी अमरक के श्लोक प्रसादपूर्ण कला के श्रेष्ठ निदर्शन कहे जा सकते हैं। कालिदास के समान ही उन्होंने भी वैदर्भी रीति को अपनाया है, लम्बे और कठिन समासों को यथासाध्य दूर रखने की चेष्टा की है और स्वाभाविकता सरसता एवं सरलता का सर्वत्र ध्यान रखा है। भाषा का प्रवाह भी वैसा ही है। यही कारण है कि उनके कुछ श्लोक भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से कालिदास के पद्यों से टक्कर ले सकते हैं और, जैसा कि कहा जा चुका है, उनके एक श्लोक का तो कुछ विद्वानों ने कालिदास के नाम से उल्लेख भी कर दिया है। कालिदास की शैली से समानता होते हुए भी अमरक की शैली में कलात्मकता का पुट अधिक है। कालिदास की भाषा में सहज स्वाभाविकता है तो अमरक की भाषा में नागरताजनित लचक। सरसता माधुर्य और प्रवाह दोनों में हैं। कालिदास की भाषा का प्रवाह मातृभाषा के प्रवाह जैसा है और अमरक की भाषा का प्रवाह प्रयोग और अभ्यास की सफाई पर प्राधत् है। भत्त हरि की अपेक्षा भी अमरक की शैली अधिक परिष्कृत और पूर्ण है।² अमरक ने शैली के परिष्कार में दो बातों का ध्यान रखा है—संगीत-सौन्दर्य का और भाषा की प्रौढ़ता का। संगीत-सौन्दर्य की सृष्टि के लिये उन्होंने छन्द की श्रम्यता पर बल दिया है। उनकी रचना में हतबुद्धता दोष खोजने पर भी न मिलेगा। शब्दों का चयन और विन्यास छन्द के गण-विधान की पूर्ति के अनुकूल ही नहीं भाषा के अन्तःसंगीत को सुरक्षित रखते हुए और प्रवाह की कलकल ध्वनि को उत्पन्न

1. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३४२।

2. कीथ का इतिहास, पृष्ठ १८३।

करते हुए किया गया है। ध्वनि और नाद का ऐसा समन्वय बहुत ही कम कवियों में मिलता है। समरसता उनकी भाषा का प्राण है। इन सब विशेषताओं के कारण अमरुक का काव्य संस्कृत का आदर्श मुक्तक गीतिकाव्य बन गया। वस्तुतः जयदेव की भाषा के साहित्य का बीज-वपन अमरुक शतक में ही गया था।

संस्कृत साहित्य में अमरुक की स्थिति वही है जो हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में बिहारी की। दोनों ही शृङ्गारिक मुक्तककार हैं। बिहारी की ही भाँति अमरुक ने भी स्वाभाविकता की रक्षा के साथ कला का उच्चतम निदर्शन प्रस्तुत किया है। दोनों ने ही जीवन का एकाङ्गी चित्रण किया है। नागर समाज के चित्रण के प्रति दोनों की ही रुचि है। प्रेम के क्षेत्र की सकीर्णता और गहराई भी उभयत्र समान है। अलंकार, ध्वनि, रस, नायिका-भेद आदि का जैसा कलापूर्ण समन्वय बिहारी में है वैसा ही अमरुक में भी। प्रमंग-योजना का कौशल और भाषा का प्राञ्जल स्वरूप भी उभयत्र दृष्टव्य है। कामशास्त्रीय सिद्धान्तों की बारीकी से दोनों ही परिचित थे। मुक्तक शैली के विकास में दोनों ने ही महान् योग दिया है। दोनों के ही विषय में कुछ विद्वानों की यह धारणा बन गई कि इनकी रचनाएँ रीतिविषयक उदाहरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से रची गयी हैं। बिहारी ने केवल एक सतसई द्वारा हिन्दी-साहित्य में जो नाम कमाया वही अमरुक ने एक शतक लिखकर संस्कृत साहित्य में। दोनों ने ही परवर्ती कवियों को दूर तक प्रभावित किया है और दोनों के विषय में एकसी उक्तियाँ प्रचलित हैं—

सतसंघा के वोहरे ज्यों नावक के तौर।

देखन में छोटे सगें घाव करें गम्भीर ॥

“अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते”

अमरुक और बिहारी की यह समानता आकस्मिक नहीं है, अमरुक के समय में समाज की जो स्थिति थी वही बिहारी के समय में भी थी। नागर सभ्यता का जैसा जोर अमरुक के समय में था वैसा ही बिहारी के समय में भी। दोनों ही युगों में समाज का संपन्न वर्ग विलासिता और उलपन की ओर झुका हुआ था। अस्तु, इस युग के गीतिकाव्य का विश्लेषण करने पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१— प्रकृति-मौन्दर्य का स्थान पूर्णरूपेण नारी-सौन्दर्य ने ले लिया। नारी के अंग प्रत्यंगों के सौन्दर्य-चित्रण के अतिरिक्त विविध मुद्राओं, व्यापारों और अनुभावों के चित्रण की ओर कवि लोगों का अधिक झुकाव हुआ और उसके रमणी रूप ने ही पुरुष को अधिक आकृष्ट किया।

२— इस युग की प्रमुख देन है कामशास्त्रीय तत्त्वों का काव्य में समावेश। भरत मुनि ने नाट्ययन्त्र की उपचारविधि का कामशास्त्र के अनुसार होना आवश्यक बतलाया था।^१ धीरे धीरे अग्न्य प्रकार के शृङ्गारी काव्यों पर भी काम-

१. उपचारविधि : सम्यक् कामशास्त्रसमुत्थितम् (नाट्यशास्त्र)।

शास्त्र का प्रभाव पड़ा। मुक्त गीतिकाव्य पर यह प्रभाव सबसे अधिक पड़ा और कवियों ने अपने नायक को वात्स्यायन के 'नागरक' के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया। सुरतकालीन विभिन्न शासन, दूतीसम्प्रयोग आदि का कवियों ने दिल खोलकर समावेश किया।

- ३— नायक नायिकाओं की शृंगारिक चेष्टाओं का क्षेत्र संकुचित हो गया और नख खिल-वर्णन, मान, प्रसादन, सुरत आदि के वर्णन तक ही सीमित रहा।
- ४— देव-दम्पतियों की शृंगारिक क्रीड़ाओं की कल्पना की जाने लगी और उनके प्रेम का चित्रण पूर्णतया मानवीय घरातल पर किया जाने लगा।
- ५— धीरे धीरे कविता दिखावटी वस्तु बनती जा रही थी। उसमें तड़क-भड़क और चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति का सूत्रपात हो गया था।

तृतीय उन्मेष

बिल्हण, गोवर्धन, धोयी

पृष्ठभूमि—

हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् भारतीय इतिहास में मध्ययुग का प्रारम्भ हो जाता है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता थी सामन्त पद्धति का विकास। महाराजाधिराज की अधीनता में अनेक छोटे बड़े सामन्त होते थे जो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र शासक के रूप में शासन करते थे। इनके पास निजी सेना होती थी और अपना कोष होता था। यदि महाराजाधिराज निर्बल हो तो ये सामन्त पूर्णरूप से स्वतन्त्र होने की घोषणा कर देते थे। इससे स्पष्ट है कि महाराजाधिराज की वैयक्तिक क्षमता पर ही उसका उत्थान-पतन निर्भर था। इस पद्धति में सबसे बड़ा दोष यह था कि इससे विघटन की प्रवृत्तियों को बल मिलता था और इसके कारण राजशक्ति देश में स्थायी शान्ति रखने के लिए पर्याप्त सबल नहीं रह पाती थी। सामन्त प्रथा के कारण यह संभावना कम ही रहती है कि राज-शक्ति-धारण करने वाले लोग प्रजा के हित का विचार कर सकें। वे परस्पर युद्ध करके अपना उत्कर्ष स्थापित करने के प्रयत्न में ही रहते हैं। सर्व साधारण की दृष्टि से यह प्रथा अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर देती है।^१ इन राजाओं और सामन्तों में से अनेक ऐसे सशक्त भी हुए जिनके शासन काल में सुख-शान्ति रही। इस युग के कवियों और विद्वानों को प्रायः ऐसे ही राजाओं से संरक्षण प्राप्त था। इनमें से अनेक नरेश स्वयं भी अश्वे विद्वान् और कवि होते थे। राजा भोज के विद्या-व्यसन की कहानियाँ तो प्राज भी प्रसिद्ध हैं।

रहण-सहज का स्वर—साधारणतया लोभों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा था। मेकाक्षिकि द्वारा स्लावक, प्रसन्नक, पावक आदि अनेक पेशेवरों का उल्लेख^२ इसकी

१. डा० लक्ष्मीयु विद्याधरकर, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५३७-५३८।

२. मेकाक्षिकि अनुसृष्टि की टीका, ६-७६-१४३।

सुष्टि करता है। अभिधानरत्नमाला में प्राकरण, धाविक, कूपसि, चण्डातक आदि विभिन्न प्रकार के पहने जाने वाले वस्त्रों तथा नाटक, केयूर, वीर्येय नूपुर आदि धन-कारो के नाम मिलते हैं। उपमितिभवप्रपञ्चकथा में चीनाशुक, पट्टाशुक, प्रस्कार, रस्मिका, बृहत्तिका आदि वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में समसामयिक अरब लेखकों के उल्लेख भी द्रष्टव्य हैं। सुलेमान के अनुसार भारतीय स्त्री, पुरुष, स्वर्ण-कङ्कणों और रत्नों से अपना शृङ्गार करते थे। इब्नलफ्कीह ने कुण्डल और कङ्कणों का उल्लेख किया है। अबू जैद ने लिखा है कि भारतीय राजा लोग लाल और हरे रत्नों से जटित स्वर्णहार पहनते हैं और मोतियों को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इब्नहीकल कहता है कि गर्मियों के कारण लोग उम्दा मलमल के वस्त्र पहनते हैं।^१ कुट्टनीमत में एक राजपुरुष के युवा पुत्र का वर्णन है जो देहाती उच्चवर्गीय जागीरदार का प्रतिनिधित्व करता है। वह विभिन्न प्रकार के आभूषणों से सुशो-भित है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग केसर से लिप्त हैं। अलकृत जूते और सोने के काम से युक्त वस्त्र उसकी पोशाक है और उसके साथ में सेवकों का एक दल रहता है। वह पद्यों का अशुद्ध पाठ करता है, संगीत समारोह में पास बैठे हुए बुद्धिमान् पुरुषों की बातों में देखल देता हुआ चित्रित किया है। वार्तालाप में ही वह अपने पिता में राजा के विश्वास की अभिव्यक्ति करता है। गीत को न समझता हुआ भी नर्तकियों की प्रशंसा करता है।^२

इसके विपरीत राजशेखर और क्षेमेश्वर ने कवि के जीवन का जो चित्र दिया है वह वास्त्यायन के नागरिक का प्रतिरूप प्रतीत होता है और राजशेखर के समय के उच्च नागरिक वर्ग के विलास-पूर्ण जीवन की भाँकी प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार कवि का निवास-भवन किसी रमणीय स्थान पर नदी अथवा सरोवर के किनारे होना चाहिए। यह सम्भव न होने पर कृत्रिम जलाशय से भी काम चल सकता है। उसकी गृह-वाटिका विशेष रूप से सज्जित और व्यवस्थित होती थी। भवन के समीप ही सरोवर अथवा बागी में मनोहर कमल खिले होते और धारायन्त्रों से वह सुशोभित होती थी। कवि का भवन शान्त, परिवारक वर्ग मीन सकेतो को भी समझने वाला, और अन्तःपुर शिक्षित होता था। कवि की दिनचर्या में गोष्ठी का भी उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि आधुनिक कलबों की भाँति गोष्ठियाँ भी दैनिक जीवन में मनोरञ्जन का महत्वपूर्ण साधन थी।^३

स्त्रियों की वशा—सामान्यतः स्त्रियों की दशा गिरती जा रही थी। उनकी स्वतन्त्रता उत्तरोत्तर कम होती जा रही थी। घन व्यय करने और मनोरंजन आदि की उन्हें पूरी स्वतन्त्रता नहीं थी। मेघातिथि ने कहा है कि स्त्रियों का अपने अन्तःकरण पर ही अधिकार नहीं होता, उसे अपने पुरुष सरसकों के अधीन ही रहना चाहिए। उनकी चञ्चलता की मेघातिथि ने आलोचना की है और उन्हें व्याशङ्क में

१. दी एज आफ इन्पिरियल कन्जोड, पृष्ठ ३२३।

२. कुट्टनीमतम्, बंगाली सं० १३६०, पृष्ठ १२-१५।

३. कान्बडीयांसा, २०म अध्याय।

साध्य देने के अधिकार से वञ्चित किया है। यद्यपि अन्यत्र उसने स्वीकार किया है कि ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो ऐसी सच्ची और गम्भीर हैं जैसी वैदिक-कालीन विदुषियाँ।

स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा पर भी पहले युग के सद्दर्श ध्यान नहीं दिया जाता था। फिर भी बहुत सी स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। राजशेखर ने स्त्री कवयित्रियों के सुने और देखे जाने का उल्लेख किया है। स्वयं उसकी स्त्री अचान्त मुन्दरी अच्छी विदुषी थी।

ह्रास का युग—संस्कृत साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास के उपरान्त लक्षण-ग्रन्थों के प्रणयन और काव्य-शास्त्रीय चिन्तन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो गयी थी। अतः इस युग में काव्य-शास्त्र की विशेषरूप से उत्पत्ति हुई। ध्वनि, वक्रोक्ति और रस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा इसी युग में हुई किन्तु संस्कृत अब जन-जीवन में दूर दूरतर होती जा रही थी। यह प्राकृत और अपभ्रंश का युग था और संस्कृत अब केवल शिष्ट लोगों अथवा पण्डितों की भाषा रह गई थी। अतः अमरक के पश्चात् संस्कृत गीतिकाव्य का इतिहास उसके ह्रास की कहानी है। इसका कारण था अनुकरण, परम्परा-पालन का आग्रह और पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा।

काव्यकला को नवीन रूप देने वाली प्रतिभा का सचमुच अकाल मा गढ़ गया था और कवि लोग बिना किसी घृणा के चर्चित-चर्चण में लग गए थे। अपने पूर्ववर्ती सिद्ध कवियों से उन्होंने प्रेरणा के स्थान में रुढ़ियाँ और भाव लिए; सूक्ष्म-निरीक्षण के स्थान में ऊपरी सतह को देखा और अन्तःप्रेरित बहुमुखी भावधारा के स्थान में पाण्डित्य-प्रदर्शन के श्रोतसुख का वरण किया। इसलिए आगे चलकर कवि कम हुए। हाँ, परम्परागत भावों और काव्यशास्त्रीय निर्देशों के साथ अपने पाण्डित्य को श्रम-साध्य शैली के माध्यम से पद्यों में व्यक्त करने वाले चमत्कार के बाजीगरो की कोई कमी नहीं रही। यह सब विकास नहीं कहा जा सकता। यदि काव्य-शास्त्री इसे ह्रास कहने में हिचकिचाते हों तो भी कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि परम्पराओं की संकीर्ण परिधि में बाँधकर काव्य के सतत प्रवहमान स्रोत को एक सरोवर का रूप दे दिया गया था जिसमें न तो रवानी ही थी और न ही जीवन की कलकल ध्वनि। लक्षणविशेष की शृङ्खला में जकड़ जाने के कारण महाकाव्य और नाटक तो एक विशेष सचि में डाले ही जा रहे थे। किन्तु रुढ़ियों के प्रति कुछ इतना मोह कवियों को हुआ कि गीतिकाव्य में—और विशेषतया शृङ्गारिक गीतिकाव्य में—भी, जिसमें वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यञ्जना के कारण नवीनता की अधिक गुञ्जाइश रहती है, स्थिति ज्यों की र्यों रही। भर्तृहरि और अमरक ने जो सीमा निर्धारित कर दी थी उससे आगे शायद ही कोई गया हो, और इस संकुचित क्षेत्र में भी उन्होंने जिस सूक्ष्म दर्शन और गहरी पैठ का परिचय दिया था उसे भी नये कवि न पा सके। १० वीं शताब्दी के पश्चात् तो ये प्रवृत्तियाँ साहित्य पर छा ही गईं।

यद्यपि इस युग में मौलिकता का असाधारण अभाव पाया जाता है तथापि इस युग के साहित्यकार साहित्यिक निपुणता से बिलकुल रिक्त नहीं थे। दुर्भाग्यवश वे दृढ़ रुढ़ियों के शिकार हुए। परम्परा ने भाव, विचार, विषय और अभिव्यक्ति का यहाँ तक कि छन्द और शब्दावली का भी प्रतिमानीकरण (standardisation) कर दिया था। इस पुराण पन्थ का उद्देश्य कदाचित् एक प्रकार का साहित्यिक आचार स्थापित करना था। इसी लिए आचार शास्त्र की ही भाँति 'क्या कहना चाहिए, क्या नहीं कहना चाहिये, किस ढंग से कहना चाहिए' काव्यजगत् में किन नियमों के आधीन आचरण करना चाहिए आदि की व्यवस्था काव्यशास्त्रियों ने कर दी थी। इस व्यवस्था के मूल में पुराने कवियों के अनुभव, प्रयोग और सफलताएँ थी। नवीन कवियों ने केवल उन्हीं से लाभ उठाना चाहा किन्तु वे कविता के इस पूर्वनिर्मित ढाँचे में पुराने योग (formula) के अनुसार सामग्री ढालकर यन्त्रसृष्ट कृतियों की भी एकरूपता ही उत्पन्न करने में समर्थ हुए 'क्षणे क्षणे यन्त्रवतामुपैति' मोन्दयं की सृष्टि न कर सके। आधुनिक रुचि की कमौटी को छोड़कर जब हम स्वयं भाँ उक्त परम्पराओं के अनुसार इन कृतियों की परीक्षा करते हैं तो मानना पड़ता है कि अपनी सीमाओं में इस युग का कवि निःसन्देह अपनी कला में निष्णात है। उस की कृति जोहरी का जोहर और शिल्पकार का शिल्प एकत्र प्रस्तुत करती है जिसे निःसंकोच एक पूर्णतया संस्कृत काव्यकला और प्रशिक्षित मस्तिष्क की उपज कहा जा सकता है। पिष्टपेषण करता हुआ भी वह अपने शब्दों और अलंकारों के कोष से एक सर्वथा नवीन ध्वनि और चमक की सृष्टि करता है। बाणी का संस्कार, उक्ति का वैचित्र्य, विविध विद्याओं का सामञ्जस्य, विलक्षण छन्दों का संगीत और अलंकृत शैली की वेगमों वाली चाल उसकी कविता को नया रूप-वैभव प्रदान करती है। किन्तु अन्य युग में—और शायद किसी अन्य साहित्य में भी—इतने अधिक काव्य नहीं लिखे गए जो मच्चे काव्य न कहला सकने पर भी अच्छे और बुरे दोनों अर्थों में कला-कृतियाँ कहे जा सकें। असाधारण पूर्णता और सावधान शिल्प के निदर्शनस्वरूप इतने अधिक काव्यों की रचना इस युग में हुई कि हार्दिक प्रशंसा के योग्य न समझते हुए भी हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि उपर्युक्त सीमाओं में भी बहुत से प्रगीत मुक्तक वास्तव में सरस और सुन्दर बन पड़े हैं।

इस प्रकार इस युग में उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी शताब्दी में एक ऐसा कवि-समुदाय उत्पन्न होता चला गया जो अपने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक रुढ़िवादी रहा और प्रशंसनीय होता हुआ भी गौण ही समझा गया। इन्होंने परम्परा का विस्तृत और सहज मार्ग अपनाया; भाव और बिम्बचित्रण के स्थान में बौद्धिक

1. The bloom is doubtless artificial, and the perfection is attained by careful culture; there is no rush of passion or tumult of style; but very often in the detached stanzas of the Anthologies, as well as in sustained works of lesser poets, we have rare and pleasing moments of charm, which we miss in the more ambitious and elaborately composed Kavyas. S. K. Dey., *Hist. of Sans. Lit.* pp. 366.

कला तथा उन्मुक्त कल्पना की प्रतिष्ठा की तथा विषय विचार और शैली की मौलिकता से शास्त्रीय निपुणता और पाण्डित्य को अच्छा समझा। प्रशिक्षित मस्तिष्क के लिए पहले से ही प्रस्तुत (ready-made) वस्तु, भाव, रूप-विधान (form) और पदावली के आधार पर काव्य में प्रभाव की सृष्टि करना अपेक्षाकृत आसान तो रहा किन्तु रचनाओं में आन्तरिक और बाह्य वैविध्य भी नकारात्मक हो गया। भाव, विचार, विशेषण, उपमान आदि सभी में एकरूपता आयी जिससे बचने के लिए अस्वाभाविक टैकनिकल दक्षता या पाण्डित्य प्रदर्शन का आश्रय स्वाभाविक ही था। जिस प्रकार एक सुस्थिर यन्त्रव्यवस्था वाला सुयोजित उद्योग थोड़ी भी ही योग्यता से चालित होकर एक निश्चित ढंग की वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर कर सकता है उसी प्रकार काव्य रचनाओं का भी विशाल उत्पादन इस युग में हुआ। अतः तत्कालीन रचनाओं का परिमाण उनकी श्रेष्ठता का द्योतक नहीं कहा जा सकता।

तत्कालीन साहित्य में कृत्रिमता का अधिकाधिक समावेश इसलिये भी हुआ कि जन-जीवन से उसका सम्बन्ध उत्तरोत्तर विच्छिन्न होता जा रहा था। वह उच्च वर्ग के संस्कृत समाज का दर्पण था जिसमें सामान्य रूप से मानव मात्र की रुचि का प्रतिबिम्बन प्रायः नहीं हो पाता था। इसलिए उसमें सार्वजनिक भाव, नैसर्गिक कल्पना, सहज सरलता, स्वतःस्फुटता और प्रत्यक्ष प्रभाव की कमी तथा गुरुडम परिष्कार और मंस्कार की वृद्धि होती गई। इसका प्रणयन 'नागरक' समाज के लिए होता था जिसकी पदावली, विचारधारा, धारणा, रुचि और भावभूमि अपनी थी। साधारण जीवन की सच्ची वास्तविकताओं से दूर कृत्रिम बातावरण में स्फुटित होने वाले काव्य में स्वाभाविक सरसता आती भी कैसे ?

यद्यपि प्राकृत साहित्य के साथ संस्कृत का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा। राजशेखर की संस्कृत और प्राकृत रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि वे एक कवि के द्वारा ऐसे जनसमाज के लिए लिखी गई थी जो दोनों ही भाषाओं और उनकी साहित्यिक परम्पराओं से परिचित था, तथापि प्राकृत काव्य भी अब किसी भी भ्रंश में जनकाव्य न रह गया था। गाथासप्तशती में ही यत्र तत्र उसके परम्परा-ग्रस्त होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। इस युग तक आते आते तो संस्कृत काव्य की परम्पराओं ने उसे भी पूर्णतया आच्छन्न कर लिया था और केवल भाषा को छोड़कर उसमें संस्कृत साहित्य की अपेक्षा कोई नवीनता नहीं थी। भाषा पर भी चमत्कारवाद का पूरा पूरा प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। कुछ भंशों तक यही बात अपभ्रंश के विषय में भी कही जा सकती है। आज जो भी अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध है उसकी अपनी कतिपय मौलिक विशेषताओं के ऊपर संस्कृत साहित्य की रुढ़ियों का आचरण पड़ा हुआ है। यह साहित्य भी समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं करता फिर भी समय समय पर कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश से आईं। जैसे श्रम्य तुक और प्र वक देकर पद लिखने की प्रवृत्ति, किन्तु इसका भी बहुत ही सीमित प्रयोग संस्कृत में हुआ और जयदेव के अविर्भाव के समय तक लोक-साहित्य की कोई विशेष प्रतिक्रिया संस्कृत साहित्य पर दिखाई नहीं दी।

जयदेव ने जिस नवीन शैली की अवतारणा संस्कृत साहित्य में की थी उसका प्रभाव बहुत समय तक रहा किन्तु समूचे साहित्य को व्यापकता के साथ आवृत कर लेने की शक्ति इसमें नहीं थी। जो धारा तेजी के साथ अविविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी उसी में अधिकतर कवि बहते गए। विहङ्गम दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत का ही नहीं अपभ्रंश और हिन्दी का साहित्य भी बहुत कुछ रुद्धिग्रस्त रहा क्योंकि उसका स्फुरण भी इसी पतनोन्मुख संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि पर हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि एक सहस्राब्दी से भी अधिक समय की दीर्घ अवधि में काव्य के आन्तरिक और बाह्य रूपों में कोई बहुत भारी परिवर्तन नहीं हुआ। १६वीं शताब्दी में अंग्रेजी शासन और यूरोपीय साहित्य के सम्पर्क से भारतीय जीवन में नई समस्याएँ और नये विचारों का अविर्भाव हुआ तथा संस्कृत एवं आधुनिक भाषाओं के साहित्य में रोमांटिक कला ने पदार्पण किया। नवीन वातावरण, नवीन प्रभाव और नूतन विषयों के साथ साहित्य की समृद्धि तीव्र गति में हुई पर संस्कृत में रचना करने का रिवाज अब उठ चला था। कुछ ऐसे इने गिने व्यक्तियों में ही संस्कृत कविता के प्रति रुचि रह गई थी।

सारांश यह है कि ८ वीं शताब्दी में संस्कृत गीतिकाव्य कला के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया और निश्चित नियमों के अनुसार बंधी हुई प्रणाली से गुजरने लगा था। दसवीं शताब्दी के पश्चात् तो उसमें गतिरोध ही उत्पन्न हो गया था। कवीन्द्र-वचन-समुच्चय तथा जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में इस युग के कवियों की जो रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें भाव, भाषा, शैली, विषय और बहुजता का प्रदर्शन सर्वत्र एकसा ही पाया जाता है। कला का प्राधान्य इन रचनाओं की प्रमुख विशेषता है।

चौरपञ्चाशिका

इस प्रकार की अनेकानेक रचनाओं में से विहङ्गम के नाम से प्रसिद्ध चौर-पञ्चाशिका उल्लेखनीय है जिसके सम्बन्ध में डा० कीथ ने लिखा है—

The Vasantatilka stanzas depict with minute and often charming detail the past scenes of happy love, and possess elegance. ... there is sufficient variety in the ideas to prevent it becoming wearisome.

निःसन्देह इस रचना में कहीं कहीं प्रसङ्ग-विधान बड़ा ही स्वाभाविक और मामिक है जिससे कवि की अनुभूति की सच्चाई और ईमानदारी प्रमाणित होती है। मानिनी नायिका मान तथा प्रणय-प्रसाद का निर्वाह एक साथ इतनी कुशलता और स्वाभाविकता के साथ करती है कि नायक के हृदय में उसके साथ ही उसका यह व्यापार भी बस जाता है—

अद्यापि तन्मनसि सपरिवर्तते मे रात्रौ नयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या ।

जीवेति मङ्गलवचः परिहृत्य कोपालं कर्णे कृतं कमलपत्रमनालपम्भ्या ॥

एकान्त में दर्पण देखती हुई बिजबब नायिका को यदि प्रकस्मात् अपने साथ

नायक का प्रतिबिम्ब भी उसमें दीख पड़े तो उसकी दशा क्या हो सकती है, इसका एक सजीव चित्र लीजिए—

अद्यापि तां रहसि बपंगमोल्लमाणां संक्रान्तमत्प्रतिनिभं मयि पृष्ठसीने ।

पश्यामि वेपथुमतीं च ससंभ्रमां च सज्जाकुलां समवतां च सविभ्रमां च ॥

इस रचना की शैली भी अपने युग में प्रचलित शैली के विपरीत सरल, आडम्बरहीन तथा गीतिकाव्योचित है। विक्रमाङ्कदेवचरित के विषय में व्यूहलर की यह उक्ति कि “विल्हण के पद्य सरल, प्रवाहमय और मणीतमय है” और पञ्चाशिका पर भी पूर्णतया लागू होती है। विल्हण ने अपने कर्णसुन्दरी नाटक के अन्त में ‘सद्यो यः पथि कालिदासवचसाम्’ कहकर कालिदास को अपना आदर्श माना है जिसे निबाहने में वे किन्हीं अंशों में सफल भी हुए हैं। कथावस्तु और टैकनीक की दृष्टि से उनका नाटक कर्णसुन्दरी मालविकाग्निमित्र से बहुत कुछ मिलता जुलता है किन्तु चौरपञ्चाशिका और मेघदूत में केवल इतनी ही समानता है कि दोनों में विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जना है। मेघदूत में प्रकृति और मानव के सम्बन्ध का जैसा सजीव चित्र उपस्थित किया गया है वैसा चौरपञ्चाशिका में कहाँ। एक में वन्य, निर्भर का कलकल गान और जीवन की स्वतन्त्र गति है तो दूसरी में कृत्रिम वापी की साज-सज्जा और जीवन का आबद्ध स्वरूप। अतः ताडपत्रीकर का यह कथन कि पञ्चाशिका में विल्हण अपने अनुकार्य से बाजी ले गये है, चिन्तनीय है¹। इस सम्बन्ध में कीथ के ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि—

“It is highly probable that there is no personal experience, at all, in these lines, whose warmth of feelings undoubtedly degenerates into license.”²

ताडपत्रीकर ने चौरपञ्चाशिका को आवश्यकता से अधिक महत्व देने हुए लिखा है कि मेघदूत की अपेक्षा पञ्चाशिका की पृष्ठभूमि भी अधिक विशद और रोमाण्टिक है।³ यदि यहाँ विरुद्ध और रोमाण्टिक से उनका तात्पर्य यह है कि विल्हण ने परकीया के केलिगह और सुरतशयन के व्यापारों का खुलकर वर्णन किया है, जिनके कारण कीथ ने इस रचना को स्वच्छन्दता की ओर प्रवृत्त बताया है, तो उनसे हमारा कोई विरोध नहीं क्योंकि कालिदास की रचना में शृंगार का अत्यन्त मन्तुलित रूप मिलता है। किन्तु यदि इन शब्दों से उनका तात्पर्य जीवन के व्यापक क्षेत्र और शृङ्गार भावना के मार्मिक सौन्दर्य से है तो कहना पड़ेगा कि यह धारणा भ्रमक है और यह निर्णय देते हुए ताडपत्रीकर महोदय की दृष्टि से पूर्वमेघ, जिसका विवेचन पिछले अध्याय में हो चुका है, सर्वथा ओझल हो गया प्रतीत होता है। चौरपञ्चाशिका की खूबी वैदर्भी रीति के सफल अनुसरण में और उसकी सर्वप्रियता

1. वट इन पञ्चाशिका दी पोयट सीम्स डु हैव आउटहन हिन् मास्टर बार्ड फार ।

(चौरपञ्चाशिका की भूमिका)

2. कीथ, क्लासिकल लिटरेचर, पृष्ठ १२० ।

3. ताडपत्रीकर द्वारा सम्पादित चौरपञ्चाशिका की भूमिका ।

तथा प्रशंसा का रहस्य शृङ्गार के नग्न वर्णन में है जो उस युग की अभिव्यक्ति के अनुकूल था। ताडपत्रीकर ने स्वयं कहा है—

The poem often degenerates into license as stated by Keith. But in this very element lies the germ of the great popularity enjoyed by the small poem.¹

चौरपञ्चाशिका में कोई ऐसी विशेषता दीख नहीं पड़ती जिसके आधार पर उसे परम्परा की लोक से अलग चलती हुई प्रमाणित किया जा सके। इस विषय में यदि कुछ कहा जा सकता है तो केवल इतना ही कि इसके प्रायः सभी पद्यों में शृङ्गारिक चेष्टाओं का क्षेत्र के लिखन और शयन तक ही सीमित कर दिया गया है। शृङ्गार के केवल एक विशिष्ट पक्ष से सम्बद्ध विशेष व्यापारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति सामान्य से विशेषीकरण की ओर अग्रसर होने का सबूत है। आगे के कवि नायिका के एक एक अङ्ग और चेष्टाओं के वर्णन में विशेषज्ञता प्राप्त करने लगे जिससे रोमावली शलक जैसी रचनाओं का प्राविर्भाव हुआ किन्तु यह प्रवृत्ति भी मूकपञ्चशती में पहले ही अभिव्यक्त हो चुकी थी। सुरतखिन्न नायिका के वर्णन में बिल्हण का मन अधिक रमा है। उदाहरणार्थ ४, ५, ७, १०, १२, १३, १५, १७, २१, २२ आदि पद्य द्रष्टव्य हैं।

तात्पर्य यह है कि पञ्चाशिका में नख-शिख वर्णन^२, मुरतव्यापार^३, कामशास्त्र के अनुसार रतिबन्ध^४, नख-चिह्न, दन्त-क्षत^५ आदि की पुरानी गाथा ही सुन्दर और सरल शैली में गाई गई है। पीछे कहा जा चुका है कि कालिदास ने बहुत सी रुढ़ियों को जन्म दिया था जिनका अनुसरण बाद के कवियों के लिए आवश्यक सा मान लिया गया। नायिका के मुख की गन्ध से भ्रमर का आकृष्ट होना भी ऐसी ही बात है। कालिदास की भ्रमरप्रस्त शकुन्तला को देखकर ही पञ्चाशिकाकार ने अपनी नायिका का यह चित्र चित्रित किया है—

अद्यापि तद्वदनपङ्कजगन्धलुब्धभ्राम्यद्विरेफचयचुम्बितगण्डदेशम् ।

लोलाव्यूतकरपल्लवकङ्कुणानां क्वाणो विमूर्च्छति मनःसुतरां मवीयम् ।^६

मेघदूत की प्रौढ़ कला के दर्शन पञ्चाशिका में दुर्लभ है। ५० पद्यों के लघु कलेवर वाली इस रचना में भाव और शब्दावली का बार-बार पुनरावर्तन हुआ है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी और साथ ही ताडपत्रीकर के मत की परीक्षा भी हो जायगी—

१. अद्यापि तां कनकचम्पकदामगौरीं,

×

×

×

१. चौरपञ्चाशिका की भूमिका ।

२. श्लोक, १, २, ३, ७, १४, १६, २०, २३, ४६ ।

३. वही, ४, ५, १२, १७, २२, ४७ ।

४. वही, ४८ ।

५. वही, १३, १५, ३५, ४८ ।

६. वही, ३४ ।

- मुत्तोत्तिबतां मदनविह्वलसालसाङ्गीम् । (१)
अद्यापि तां कनककान्तिमदालमाङ्गीम् । (४७)
२. अद्यापि तां यदि पुनः कमलाद्यताक्षीं पश्यामि । (३)
अद्यापि तां यदि पुनः श्रवणायताक्षीं पश्यामि । (६)
अद्यापि तां यदि पुनः चपलायताक्षीं ।
३. अद्यापि तां मत्पणचन्दनपङ्कमिध-
कस्तूरिकापरिमलोत्थविसर्पिगन्धाम् । (८)
काश्मीरपङ्कमगनाभिकृताङ्गरागां
कपूरपूगपरिपूर्णमुखीं स्मरामि । (८)
४. अद्यापि मे निशि दिवा हृदयं वुनोति
पूर्णन्दुसुन्दरमुखं मम बल्लभाद्याः । (३२)
अद्यापि निर्मलशरच्छशिगौर कान्ति
× × ×

वक्त्रं सुधामयमह यदि तत्प्रपद्ये । (४६)

५. अद्यापि तां मितितले वरकामिनीनाम् । (२५)
अद्यापि तां प्रथमतो वरमुन्दरीणाम् । (२६)
६. अद्यापि तां जगति वर्णयितुं न कश्चित्
ज्ञकोत्पद्युष्टसदृशो च परिग्रहं मे । (३८)
अद्याप्यहो जगति मुन्दरलक्ष्मणं
अन्योन्यमुत्तमगुणाधिकस्तं प्रपन्नं ।
अन्याभिरप्युपमितुं न मया च शक्यम् ।
रूपं तदीयमिति मे हृदये वितर्कः । (४३)
७. अद्यापितद्वदनपङ्कजगन्धः । (६)
अद्यापि तत्कमलरेणुमुगन्धि वक्त्रम् । (४२)
८. पश्यामि मन्मथशरानलपीडिताङ्गीम् । (१)
कान्तां स्मरामि कुसुमायुधबाणसिन्नाम् । (२४)
९. अद्यापि तां निधुवनकलमनिःसहाङ्गी-
नापाब्धयन्त्रपतितामक-कुन्तलासिम् । (५)
अद्यापि तां सुरतधूर्णनिमीलिताक्षीं,
स्रस्ताङ्गयष्टिगलितांशुककेशपाशाम् । (२२)

तथा

- व्यालोलकुन्तलकलापवतीं स्मरामि । (७)
१०. तां बल्लभामलसहस्रगतिं स्मरामि । (१४)
तां राजहंसगमनां सुदतीं स्मरामि । (१६)

११. शृङ्गारसारकमलाकरराजहसोम्
बोडाबिनछबबनां सुमुखी स्मरामि । (५)
शृङ्गारवारिरुहकाननराजहंसी
जन्मान्तरेऽपि निधनेऽप्यनुचिन्तयामि । (२२)
१२. सौन्दर्यनिजितरतिद्विजराजकान्ति । (२६)
लावण्यनिजितमुधाशयचन्द्रकान्ति । (३२)
१३. पीयूषपूणकुचकुम्भयुग बहन्तीम् । (२३)
उत्तुङ्गसंभृतमुधास्तनकुम्भयुग्माम् । (४६)
१४. नानाविचित्रकृतमण्डनमाबहन्तीम् । (१६)
नानाविचित्रकृतमण्डनमण्डिताङ्गीम् । (४६)
१५. धन्योन्यचञ्चुपुटचुम्बनलग्नपक्ष्म-
युग्माभिरामनयनां शयने स्मरामि । (८)
अङ्गाङ्गसङ्गपरिचुम्बनमग्नमोहाम्
तां जीवनौषधिमिव प्रमदां स्मरामि । (४७)

निष्कर्ष

ये उदाहरण इस तथ्य के प्रमाण हैं कि चौरपञ्चाशिका भी, जिसकी ताडपत्रीकर ने इतनी प्रशंसा की है और जो अपने युग की सर्वप्रसिद्ध और श्रेष्ठ समझी जाने वाली रचना है, गीति काव्य के ह्रास की ओर ही संकेत करती है। मेघदूत में भावनाओं की अवतारणा के लिये जो पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है, कला का जैसा विशद और प्रौढ़ रूप उसमें मिलता है ऐसा चौरपञ्चाशिका में कहाँ ? भर्तृहरि और धम्मरुक् की सूक्ष्मदृष्टि का भी उसमें अभाव है।

इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता जो धागे चलकर शृङ्गारिक गीतिकाव्य में और भी अधिक उभरकर सामने आयी, यह है कि इसमें वर्ण्यविषय का क्षेत्र बहुत संकुचित कर दिया है। पूरी रचना में शृङ्गार की जिन चेष्टाओं और व्यापारों का चित्रण है वे केलिशयन और केलिगृह से बाहर नहीं जातीं। यह प्रवृत्ति धागे चलकर इतनी विकसित हुई कि नायिका के एक एक अंग अथवा भाव को लेकर सौ सौ या इससे भी अधिक पद्यों की स्वतन्त्र रचनाएँ लिखने की परिपाटी चल पड़ी। इस प्रकार सामान्य से विशेषीकरण की प्रवृत्ति को चौरपञ्चाशिका ने बहुत कुछ आगे बढ़ाया।

आर्यासप्तशती

आचार्य गोवर्धन ने संस्कृत के मुक्तककोशों की परम्परा को छोड़कर सीधे गायसप्तशती को अपना आदर्श बनाया। संस्कृत के कवियों में मुक्तकों को अधिकतर सौ की संख्या में बाँधने की प्रणाली थी। वैसे कुछ अष्टक, और पञ्चाशिकाएँ भी उपलब्ध थीं। मूक पञ्चशती के नाम से भी एककृति मौजूद थी। किन्तु गोवर्धनाचार्य ने

इनसे प्रेरणा न लेकर सीधे गाथासप्तशती से ही नाता जोड़ा फिर भी वे अपनी कृति को मॉडल वे: अनुसार बना नहीं सके। उसकी आत्मा और शरीर दोनों ही अपने समय की विशेषताओं का सच्चे अर्थ में प्रतिनिधित्व करते हैं। डा० एस० के० डे के शब्दों में “कुछ अंशों में उसे सफलता प्राप्त हुई है किन्तु आर्या छन्द के कुछ अनफिट से माध्यम के कारण पद्य रुक रुक कर चलते प्रतीत होते हैं और काव्य की अपेक्षा कला की दक्षता ही अधिक प्रकट करते हैं। उनमें हाल के शब्दचित्रों की सरसता नहीं है”

(He attains a measure of success, but the verses, moving haltingly in the somewhat unsuitable medium of sanskrit Arya metre, are more ingenious than poetical and lack the flavour, wit and heartiness of Hala's miniature word-pictures.)

गोवर्धनाचार्य ने स्वयं अपनी रचना की प्रतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में वे करते हैं—

मसृणपदरीतिगतयः मञ्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः ।

मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः^१ ॥

और अन्त में एक से मात तक की गिनती गिनाकर अपने पद-विन्यास-चातुर्य का परिचय देने हुए लिखते हैं—

एका ध्वनिद्वितीया त्रिभुवनसारा स्फुटोक्तिचातुर्या

पञ्चषष्ठ्यष्टपदहिता भूषा श्रवणस्य सप्तशती ॥^२

जयदेव ने भी गीतगोविन्द के प्रारम्भ में गोवर्धनाचार्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें शृङ्गार का अनुपम कवि बताया है—

शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनेराचार्यगोवर्धन-

स्पर्धा कोऽपि न विश्रुतः ।

परन्तु जैसा कि डा० डे ने कहा है, आर्यासप्तशती में उच्चकोटि के कवित्व का दर्शन नहीं होता। नवीनता की बात तो जाने दीजिए, पूर्ववर्ती कवियों द्वारा वर्णित प्रसंगों का भी उचित निर्वाह गोवर्धनाचार्य नहीं कर सके। सबसे बड़ी कमी जो निश्चित रूप से गीतिकाव्य के महान् हास की सूचना देती है, भावनाओं का अनोचित और खली की कुत्रिमता है और ये दोनों ही बातें गीतिकाव्य के स्वभाव के विरुद्ध हैं। देवदम्पती के शृङ्गारवर्णन की परिपाटी तो बहुत दिनों से चली आ रही थी किन्तु आर्याकार ने अपने लम्बे मञ्जुलाचरण में इसके प्रति अधिक अभिरुचि दिखाई है। पावती और लक्ष्मी की विपरीत रति का खुले शब्दों में उन्होंने वर्णन किया है—

१. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ ३७१ ।

२. सप्तशती ५१ ।

३. वही ६६१ ।

४. गीत गोविन्द १४ ।

उन्नालनाभिपङ्कुरह इव येनावभाति शंभुरपि ।
जयति पुरुषायितामास्तवाननं हंसकन्यायाः ।^१
तत्पीकृताहिरगणितगरुडो हाराभिहतविभिर्जयति
फणशतपीतइवासो रागान्वाया श्रियः केलिः ।^२

विपरीतरतासक्त विष्णु और लक्ष्मी के बीच में बेचारे विधि को पिसवाने की आचार्य जी को खूब सूझी ।

चौधरत की यह पराकाष्ठा भी द्रष्टव्य है—

गुरुगजितसान्द्रविद्युद्भूयमश्रितकणचक्षुषा पुरतः ।

बाला चुम्बति जारं वज्रादधिको हि भवनेषुः २०२॥

कामिनी गम्भीर गर्जन के साथ चमकती हुई विद्युत् से कानों और आँखों को मँद लेने वाले लोगों के सामने ही जार को चूम रही है । काम का वाण वज्र से भी अधिक होता है ।

श्रोणी भूमावङ्कुः प्रियो भयं मनसि पतिभुजे मौलिः ।

गूढदयामो बवने सुरतमिव चक्षुषं त्रिविधम् ।^३

यदि ऐसा मुरत प्राप्त हो जिसमें पति के हाथों में सिर, मन में भय, पृथ्वी पर नितम्ब-स्थल और अङ्ग में प्रियतम हो तो स्वर्ग तिनके के समान है । भक्तृहरि ने तो कामासक्त को ही स्वर्ग माना था किन्तु गोवर्धन ने यह स्वर्ग से भी ऊँची वस्तु माहित्य को दी है । किमी जार से अनुराग रखने वाली नायिका की यह कामना भी देखिए—

तिमिरेऽपि दूरदृश्या कठिनाश्लेषे च रहसि मुखरा च ।

ग्रंथमयवलयराजी गृहपतिशिरसा सह स्फुटतु ॥^४

भगवान् करे यह शर्लों से बने कगनों की पंक्ति जो अंधेरे में भी दूर से दिख जाती है, बजकर एकान्त को मुखरित करती है और आलिङ्गन में चुभ जाती है, घर वाले के सिर के साथ फूट जाये । इस अमङ्गलाश्लील गायी से किस पञ्चेषुषट्पद को रस की प्राप्ति हो सकती है ।

इन रतासक्त नायक नायिका की सज्जनमैत्रीसदृश श्रोणीमैत्री का यह चित्र देखकर किसे लज्जा न आयेगी ?

बीजघनोरन्योन्यं घृतोद्विद्युतानि सकलगात्राणि ।

सम्भ्रमीव श्रोणी पर निदाघेऽपि न विघटिता ।^५

एक अन्य उदाहरण लीजिए—

प्रेतः प्रशस्तसत्त्वा साश्वु वक्रैर्वीक्षिता स्थलद्वाराः ।

चुम्बति मृतस्य बदन भूतमुखोत्केक्षितं बाला ।^६

१. आर्यासप्तशती १८ ।

२. वहा १४ ।

३. „ १६८ ।

४. आर्यासप्तशती २७४

५. „ ५६० ।

६. „ २६७ ।

जिस समय भूतों के मुख की उल्का के प्रकाश में बाला ने मृतक (प्रिय) का मुख चूमा तो प्रेतों ने भी उसके साहस की सराहना की और अध्रुपूर्ण नेत्रों वाले भेड़िये भी गिरते हुए मुख-कमलों के साथ उसे देखते रह गये ।

अन्तिम दो अक्षरों तक पहुँचने से पहले समस्त आर्या भूत के मुख से निकलती हुई उल्का के प्रकाश में शव के मुख का आस्वादन करती हुई किसी डाकिनी, अथवा चुड़ैल के श्मशान विहार का वर्णन करती हुई प्रतीत होती है । बाला शब्द के आने के बाद भी मृत शब्द सामान्य 'मुर्दे' का ही वाचक सिद्ध होता है क्योंकि उसके साथ प्रियस्य आदि विशेषण भी नहीं हैं । भयानक, बीमत्स और करुण की इतनी सामग्री के साथ शृङ्गारसाधना ! वास्तव में गोवर्धनाचार्य की बाला जैसी बाला न कही देखी और न कही सुनी । सचमुच शृङ्गारसप्तमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धा कोऽपि न श्रुतः !

इस प्रकार के उदाहरण आर्यासप्तशती में दो चार हो नहीं बहुत से हैं । गायसप्तशती का अनुकरण करने के कारण यह काव्य कभी कभी नगर की सकीर्ण परिधि से ग्रामों की ओर निकल कर साधारण जीवन को भी देखता है—

एरण्डपत्रशयना जनयन्ती स्वेदमलघुजघनतटा ।
 घूलिपुटीव मिलन्ती स्मरज्वरं हरति हलिकवधूः ।^१
 दलिते पलालपुञ्ज वृषभं परिभवति गृहपती कुपिते
 निभूतनिभालितवदनो हलिकवधूदेवरो हसतः ।^२

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आर्याकार अपने युग की कुपमण्डूकता का पूर्णतया त्याग कर चके थे । वास्तव में ये प्रसङ्ग अनुकरणमात्र के आग्रह का फल हैं । जहाँ कही उन्होंने स्वतन्त्र उद्भावना की है वहाँ नागरता का स्वर ही प्रधान है और ग्रामीण आचारों पर प्रशंसा के पुष्प नहीं चढ़ाए व्यंग का कीचड़ ही उछाला है—

ऋषभोऽत्र गीयते इति श्रुत्वा स्वरवारगा वयं प्राप्ताः ।
 को वेद गोष्ठमेतद् गोशान्तौ विहितबहुसानम् ।।

यह सुनकर कि यहाँ ऋषभ-गान होता है, हम स्वरज्ञ यहाँ आये थे पर कौन जानता था कि यह गायों का बाड़ा है जहाँ ऋषभ-गान को नहीं, वृषभ गान को बहुत माना जाता है । इस संकुचित क्षेत्र में कहीं-कहीं प्रसङ्ग-बोधना में स्वाभाविकता और नवीनता भी है । देवमन्दिर में पूजा के लिये आए हुए नायक-नायिका का प्रथम दर्शन पारस्परिक पूजा में पर्यवसित हो गया और देव-प्रतिमा पर चढ़ाया जाने वाला पुष्प प्रेम-प्रतिमा का उपहार बन गया—

१. आर्यासप्तशती	१४४
२. „	३०२
३. „	१४१

सुरभवेने सकलाभ्यां परस्परानुकुलदृष्टिर्दृष्टव्याभ्याम् ।

वेवाचनार्थमुद्यतमन्योन्यस्वाधित कुसुमम् ॥^१

अनुभावों की अभिव्यक्ति भी कहीं-कहीं बड़ी सुन्दरता के साथ की गई है । अप्रस्तुत-विधान की समग्रता, यथार्थता और वक्तव्यानुकूलता अनुभूति को साकार करने में सर्वथा समर्थ है—

स्वयि सपेति पथि दृष्टिः सुन्दर वृत्तिविहरनिर्गता ।

वरतरलभिन्नशेषलज्जाला शफरीव विस्फुरति ॥^२

नारी के कामिनी रूप से ही नहीं, अन्य रूपों से भी आर्थाकार परिचित है—

तल्पे प्रभुरिष गुरुरिष मनसिजतन्त्रे भवे भुजिष्येव ।

गेहे श्रीरिष गुरुजनपुरतो मूर्तेव सा ब्रीडा । २५७

वह शयन में स्वामिनी, काम-कला में गुरु, श्रम (कार्य) में दासी, घर में लक्ष्मी और गुरुजनों के समक्ष साक्षात् लज्जा सी लगती है ।

आवरण रन्ध्र में से नायक को सौत्सुक्य देखती हुई दृष्टि की चपलता ही शैवाल की प्रबलता के कारण स्वल्प स्पन्दन करने वाली शफरी के उपमान द्वारा मूर्तिमती हो उठी है और नायिका की मनः स्थिति की भी सहज अभिव्यक्ति हो गयी है । लेकिन हर ढर्रे के प्रसङ्ग और कल्पनाएँ बहुत ही कम हैं । अधिकांश रचनाओं में वही कामकला का पुराना पचड़ा गाया गया है और विविध विधाओं के ज्ञान के साथ-साथ शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न कर युग-प्रवृत्ति का परिचय दिया गया है ।

सब्रीडा नल्लरदनापणेषु कुपिता प्रगाढमचिरोढा ।

बहुयाकजाचरणग्रहसाध्या रोषेण जातेयम् ॥ ६६१

श्लेष-प्रधान श्रम-साध्य कृत्रिम शैली आर्यासप्तशती में सर्वत्र व्याप्त है । अप्रस्तुत-विधान में कवि का उद्देश्य वर्ण्यवस्तु के धर्म, रूप आदि का प्रभाव और विम्बग्रहण कराना नहीं अपितु अपनी बहुज्ञता तथा शक्ति का परिचयमात्र देना रहा है । तभी तो कहीं तो नायिका को अपभ्रंश भाषा के समान बना दिया है^३ और कहीं लोक को छन्दःशास्त्र के समान ।^४ कहीं विरहिणी को गीति^३ के समान तो कहीं स्वाधीनपतिका को गन्ने (इक्षुयष्टि) के समान ।^४ इस प्रकार के चमत्कारों से आर्यासप्तशती आदि से

१. आर्यासप्तशती ६५७ ।

२. „ २६७ ।

३. न सवर्षो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः ।

काला त्वद्विरहपदि जातापभ्रंशभाषिव ॥ ३४२ ॥

४. यत्रानेन लघुता गरिमाणं यत्र वक्रता तनुते ।

छन्दःशास्त्र इवामिल्लोके सरलः सुखे किमिति ॥ ४८४ ॥

३. नागर ! गीतिरिवासी अम्यस्थित्वापि भूषिता सुतनुः । ३२३ ।

४. किं पर्वदेवसमाजितदन्तोष्ठि निजं वपुर्न मयश्च्यसि ।

स त्वां त्यजति न पर्वस्वपि मधुरामिषवष्टिभिव, २६१ ।

अन्त तक भरी पड़ी है।⁵ निम्नलिखित गाथा में 'सानुमत्या' शब्द तीन-तीन अर्थ (अनुमतिसहित, शिलर वाली और अप्सराविशेष) देता हुआ नायिका, पर्वतश्रुमि और स्वर्ग की विशेषता प्रकट कर रहा है—

तव सुतनु सानुमत्या बहुधातुर्जनितनितम्बरावायाः ।

गिरिवरभुव इव लाभेनान्गोमि द्युङ्गुलेन विवम् ॥ २४६ ॥

‘स्वर्ग दो अंगुल रह जाता है’ मुहावरे का प्रयोग भी लगे हाथ कर दिया गया है। यह सब कवि के असाधारण भाषाविकार और कल्पना-शक्ति को तो अवश्य प्रकट कर देता है किन्तु नायिका के सौन्दर्य का प्रभाव, जो कवि का मूल उद्देश्य था, इससे रंचमात्र भी घातित नहीं होता। आगे चल कर हिन्दी के रीतिकालीन कवि सेनापति ने भी ऐसी शब्द-करामात दिखाई जिससे श्रीधर श्रुतु वर्षा बन गई और नायिका रुई का ढेर या रजाई ! बेचारे सेनापति का क्या कुमूर “महाजनों येन गतः स पन्थाः ।” संस्कृत के कवियों ने यह पथ पहल ही प्रशस्त बना दिया था।

आयसिप्तशती का एक द्रष्टव्य वैशिष्ट्य, जो उससे पहले की रचनाओं में बहुत कम देख पड़ता है, यह है कि उसमें अन्योक्तियों का शृङ्गारपरक प्रयोग कुशलता तथा बहुलता के साथ हुआ है। इसमें पहले अन्योक्ति-वाच्य, नातिविषयक कथनों के लिये उपयुक्त समझी जाती थी किन्तु गोवर्धनाचार्य ने शृङ्गारात्मक सन्दर्भों में भी उनका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है—यद्यपि गाथासिप्तशती में भी कुछ अन्योक्तियाँ इस प्रकार की हैं तथापि उनका व्यापकता प्रदान करने में गोवर्धनाचार्य का बड़ा हाथ है, किन्तु कला-प्रसाधन और शब्द-वैचित्र्य ने उनका पीछा इस क्षेत्र में भी नहीं छोड़ा—

कालक्रमकमनीयक्रोडेय केतकीति काशसा ।

श्रद्धिर्वायवास्यास्तथा तथा कण्टकोत्कर्षः ॥⁶

शैलीगत विलङ्घता, समासभूयस्त्व आदि तो इस युग की विशेषताएँ ही थी :—

चलकुण्डलचलदलकण्ठलतुरसिजवसनसज्जद्वन्द्वगलम् ।

जघनभरवल्लभकूणितनयनमिदं हरति गतमस्या ॥⁷

इस बात के गंकेत मिलते हैं कि गोवर्धनाचार्य प्राकृत काव्य के प्रतिरिक्त अपभ्रंश भाषा और साहित्य के भी प्रशंसक थे। अपभ्रंश के गीतों को संस्कृत विद्वानों की मण्डली में लायद मान्यता प्राप्त नहीं थी किन्तु आर्याकार ने उनको भावात्मक महत्ता को स्वीकार किया है यह बात इस आर्या से स्पष्ट प्रकट होती है—

प्रचलितया किमिच्छोः किमपभ्रंशेन भवति गीतस्य ।

किमनाजंवेन शशिनः किं वारिद्वयेन वयितस्य ॥ २१४ ॥

5, उदाहरणार्थ देखिये आर्या सं०, २३७, २४६, ४८३, ६४४, ६४४, ६४६, ६७५, ६६१ आदि ।

6. आर्या १५१ ।

गाँठ से गन्ने का, अपभ्रंश से गीत का, बकता से चन्द्रमा का और दरिद्रता से प्रियतम का क्या घट जाता है? फिर भी इन गीतों से उन्होंने कोई प्रेरणा नहीं ली। यह कार्य उनके समसामयिक कवि जयदेव ने किया और संस्कृत-गीतिकाव्य में एक नयी पद्धति की प्रतिष्ठा की।

जयदेव ने गीतगोविन्द के प्रारम्भ में ही धोयी कवि का उल्लेख भी किया है। लक्ष्मणसेन की सभा में जयदेव, गोवर्धन, धोयी, उभापति और शरण प्रसिद्ध कवि थे जिनमें प्रथम तीन बहुत ही विख्यात थे। गोवर्धनाचार्य ने गायामस्तशती के अनुकरण पर आर्यासप्तशती लिखी, धोयी ने मेघदूत के अनुकरण पर पवनदूत और जयदेव ने संबंधा मौलिक जैनी में गीतगोविन्द। पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है कि इस युग में निश्चित मार्ग पर चलने अथवा अनुकरण करने की प्रवृत्ति प्रधान हो गई थी। छट-पुट मुक्तकों में तो यह प्रवृत्ति बहुत पहले से चली आ रही थी किन्तु गोवर्धनाचार्य ने एक पूरे मुक्तककोश के अनुकरण पर अपना मुक्तककोश प्रस्तुत किया और शृङ्गारिकसप्तशतीरचना की रूढ़ि को दृढ़ता प्रदान की। यद्यपि संस्कृत में यह प्रवृत्ति अधिक नहीं चली किन्तु हिन्दी के कवियों को इसमें बहुत प्रभावित किया। बिहारी ने अपनी सतसई की रचना गायामस्तशती के ही आधार पर की और इसके बाद तो मतिराम, विश्रम, रामसहाय आदि अनेक कवियों की सतसईयों का प्रणयन हुआ और संस्कृत में विश्वेश्वर और परमानन्द ने अपनी सतसईयाँ लिखी। विश्वेश्वर की आर्यासप्तशती गोवर्धन की कृति का अमूल्य अनुकरण है और परमानन्द की सप्तशती बिहारीमतसई का दोहाद्वय अनुवाद है। इस प्रकार गोवर्धनाचार्य ने सप्तशती लिखने का सूत्रपात चाहे न किया किन्तु इस परम्परा को पुष्ट अवश्य किया। हिन्दी के सतसईकारों ने आर्यों के अनुकरण पर ही दोहा छन्द को शृङ्गारवर्णन तथा नीतिविषयक उक्तियों के लिए चुना। आर्यों १७ मात्राओं का छन्द है और दोहा ४८ मात्राओं का हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाओं में शृङ्गार वर्णन के लिये प्रायः बड़े-बड़े छन्दों को अपनाया जाता था। ११वीं शताब्दी के कृपाराम ने अपनी हिततरङ्गिणी में लिखा है—

वरन्धौ कवि सगार रस छन्द बड़े बिस्तार ।

में बरनौ दोहान में याते सुघर विचार ॥

गोवर्धनाचार्य से पहले संस्कृत में भी शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना प्रायः बड़े-बड़े छन्दों में ही होती थी। उन्होंने गायामस्तशती के अनुकरण पर संस्कृत का छोटा सा छन्द आर्या अपनी कृति के लिये चुना तो हिन्दी के कवियों ने उनके अनुकरण पर हिन्दी का छोटा-सा छन्द दोहा अपनाया। इस प्रकार गोवर्धन गीतिकाव्य में एक विशिष्ट रूढ़ि के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं।

संक्षेप में आर्यासप्तशती के सम्बन्ध में हमारे निष्कर्ष ये हैं :—

- १— आर्यासप्तशती ने सतसई परम्परा के प्रवर्तन में महत्वपूर्ण योग दिया। गायामस्तशती के अनुकरण पर यह सर्वप्रथम मुक्तक कोश है।

1. देखिये आर्यों, २२६, २२४, १२३६२७६, २८६, २६०, २६२ २५६, २५५ ।

- २— देवदम्पतियों की शृङ्गार-केलियों का नग्न वर्णन करने की परम्परा को, जिसका सकेत गाथासप्तशती में प्राप्त होता है, गोवर्धनाचार्य ने पुष्ट किया और ग्राम्यत्व, श्रमलीलत्व, शास्त्र तथा आचार विरुद्धता आदि दोषों की परवाह न करते हुए परकीया-प्रेम के वर्णन में भद्दी रुचि का प्रदर्शन किया जिसका प्रभाव न केवल संस्कृत के उत्तरवर्ती कवियों पर अपितु हिन्दी के रीतिकालीन कवियों पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा।
- ३— पाण्डित्य तथा चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति जो अब तक प्रायः महाकाव्यों अथवा प्रहेलिका बिन्दुमती जैसे कूट मुक्तकों में ही देखी जाती थी, शृङ्गारिक मुक्तकों में भी दीख पड़ी।
- ४— संस्कृत में शृङ्गारिक मुक्तकों के लिखने के लिये अब तक बड़े-बड़े छन्द ही प्रयुक्त होते किन्तु गोवर्धन ने गाथा सप्तशती के अनुकरण पर ही आर्या जैसे छोटे से छन्द का प्रयोग करने की परम्परा डाली।

दूतकाव्य (प्रबन्ध गीति)

जिस प्रकार गोवर्धन ने सप्तशती-लेखन की परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ा उसी प्रकार धोयी कवि ने भी मेघदूत के अनुकरण पर पवनदूत की रचना कर दूतकाव्य-परम्परा को बल दिया। पवनदूत से पहले की इस ढंग की कोई अन्य रचना उपलब्ध नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कालिदास के एक सहस्राब्दी से भी अधिक बाद उनके अनुकरण पर केवल इसका प्रणयन हुआ और फिर ४-६ शताब्दी के ही भीतर इस ढंग के लगभग पचास दूतकाव्यों की सृष्टि हुई तो इस परम्परा को पुनः प्रारम्भ कर अपने परवर्ती कवियों का पथप्रदर्शन करने में धोयी का भी महत्वपूर्ण स्थान मानना पड़ेगा और यह कहना असंभव न होगा कि यद्यपि दूतकाव्य परम्परा के मूलप्रवर्तक कालिदास हैं तथापि उसको पुनर्जीवन प्रदान कर अन्य कवियों को भी इस पथ पर प्रवृत्त होने के लिये उत्साहित करने का कार्य धोयी ने ही किया। इस दृष्टि से धोयी का बड़ा भारी महत्व है। गोवर्धन की आर्यासप्तशती ने संस्कृत-साहित्य की अपेक्षा हिन्दी-साहित्य को अधिक प्रभावित किया। संस्कृत में उसके अनुकरण पर दो एक सप्तशतियाँ ही लिखी गईं किन्तु धोयी ने जिस परम्परा को आगे बढ़ाया उस में एक दो ही नहीं पचासो नई कड़ियाँ जुड़ गईं। स्वयं जयदेव ने जिस क्रान्तिकारी मार्ग को अपनाया था उस पर चलने वाले केवल एक दर्जन कवियों के ही नाम और कृतियाँ धाज उपलब्ध हैं। मेघदूत और पवनदूत के तुलनात्मक अध्ययन से प्रकट हो जाता है कि भाव, भाषा, रीति और छन्द सभी की दृष्टि से धोयी ने कालिदास का अनुकरण किया है। कालिदास ने शिप्रा के बायु द्वारा घाबन्तिका कामिनियों के सुरतस्निग्ध अङ्गों की क्लान्ति भेटने की बात कही है तो धोयी ने उरगपुर की बधुओं का सुरतश्रम मलयमस्तों से दूर कराया है—

यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गलानुकूलः

शिप्राजातः प्रियतम इव प्रार्थनाचातुकारः । मेघदूत, १-३१॥

जहाँ (उज्जयिनी में) झर्रों को सुहावना लगने वाला शिप्रा नदी की धीर से आया वायु रति-याचना करते हुए चाटुकार प्रिय के समान कामिनियों की सुरत जन्य यकान को दूर किया करता है ।

सम्भोगान्ते श्लथभुजलतानिःसहानां वधूनां ।

व्याघ्रुन्वन्तोऽनुचितकवरीभारमव्याजमुग्धम् ॥

अस्मिन् सद्यः श्रमजलनुवः शोधजालरूपेस्थ

प्रत्यासन्ना मलयमरुतस्तालवन्तीभवन्ति ॥ पवनदूत ६

जहाँ सभोग के अन्त में शिथिल-भुजा सुन्दरियों के केश भार को हिलाते हुए मलयमारुत गवाक्षों में से भीतर आकर तालवन्त का काम किया करते हैं ।

अन्य उदाहरण लीजिए—

विद्युद्गर्भाः स्तिमितनयनां स्वस्तनाथे गवाक्षे

वक्तुं धीरः स्तनितवचनंभानिनीं प्रक्रमेयाः । मेघ २-२७

आसाक्षातः कमपि समयं सौम्य वक्तुं विविक्ते

देवं नीचंविनयचतुरः कामिनं प्रक्रमेयाः । पवन० १६

ससंपन्नयाः स्खलितमुभयं दशितावर्तनाभेः । मेघ० १-२६

ससंपन्तीं प्रकृतिकुटिलां दशितावर्तचक्राम् । पवन०, ३४

स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूमुक्तकुञ्जे मुहूर्तम् । मेघ०, ११६

हित्वा काञ्चीमविनयवतीभुक्तरोधोनिकुञ्जाम् । पवन०, १५

प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि ।

ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को बिहातुं समर्थः । मेघदूत १-४१ ॥

(‘मित्र! वहाँ से तुम्हारा प्रस्थान जैसे तैसे बिलम्ब से ही हो सकेगा । भला कौन रसज्ञ निर्वसन-जघना कामिनी का परित्याग कर सकता है ?’)

मन्ये भोजः कठिनसुरतायासलब्धस्य तूर्णं

बुध्नापस्ते पवन भविता शोलसीमन्तिनीभ्यः ।

के वा तासामलकरचनालीननीलीसनाथे

गण्डाभोगे मलयजपथः पिच्छले न स्खसन्ति । पवनदूत, १४ ॥

‘हे पवन ! शोल देश की वधुओं से तुम्हारा शीघ्र छुटकारा कठिन है । उनके मलयज-रस से सने कपोल फलकों पर कौन नहीं फिसल जाते ?

लब्ध्वा कण्ठप्रणयमथवा तादृशमङ्गनानां ।

शक्तस्स्याने क इव भुवने चेतसा विद्युतोऽपि । पवनदूत ६० ॥

‘संसार में कौन हृदयहीन भी ऐसी अङ्गनाओं का प्रेम पाकर परित्याग करने में समर्थ है ? यह सब कुछ होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि पवनदूत मेघदूत का गतश्रुतिक अनुकरण मात्र है । कहीं कहीं कालिदास के भावों का अनुसरण करके भी धोयी ने अभिव्यक्ति की सर्वथा मौलिकता प्रकट की है । उदाहरण लीजिए—

छान्तेपातः परिणतकलद्योतिभिः काननाम्ने ।

स्वध्यासुदे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णः ।

नूनं यास्यत्यमरमिधुनप्रेक्षणीयामवस्थां ।

मध्ये इयामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः । मेघवृत्त, १८ ॥

पके हुए फलों से प्रकाशमान आभ्रवनों से सटप्रदेश के ढके रहने से और चिकनी वेणी जैसे तुम से शोभित शिखर वाला वह आभ्रकूट पर्वत आकाश में जाते हुए अमर-युगलों को ऐसा दीख पड़ेगा मानो पृथ्वी का मध्य में इयाम तथा अन्यत्र पाण्डुर वर्ण कुच हो ।

क्रीडाशैल भुजगनगरीयोषितां कीतुकं वेत्

सेतुं याया जलधिरूपिण शृङ्खलादामबोधम् ।

भाति स्नेहादवनितनया जीवनाश्वासहैतो-

लङ्कुलीपं प्रहित इव यो बाहुरेकः पृथिव्याः । पवनवृत्त, १० ॥

“अगर कीतूहल हो तो तुम सेतु-प्रचल की ओर भी जाना जो उरगपुर की सुन्दरियों का क्रीडाशैल है ओर जलधिरूपी हाथी की दीर्घ शृङ्खला जैसा लगता है । वह ऐसा लगता है मानो अपनी पुत्री सीता को आश्वासन देने के लिये नका की ओर बढ़ायी हुई पृथ्वी माँ की भुजा हो ।

श्रोण्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सोमन्तिनीनां ।

कान्तोद्यन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात्किञ्चिदूनः । मेघवृत्त, २-२६ ॥

“वह ध्यानपूर्वक सन्देश सुनेगी क्योंकि मित्र द्वारा लाया हुआ प्रियतम का संदेश बबुओं के लिये मिलन तुल्य ही होता है ।”

त्वन्तः श्रोण्यत्यवहितमनाः सोऽनुरक्ताङ्गनानां ।

आयन्ते हि प्रणयिनि मुधाबीक्षयो वाचिकानि । पवनवृत्त, ६६ ॥

‘वह सावधान हृदय से तुम्हारी बात सुनेगी क्योंकि बन्धुजन द्वारा लाये संदेश अनुरक्त सुन्दरियों के लिए अमृत की लहर हो जाते हैं ।’

गत्युत्कम्पावलकपतितैर्यत्र मन्वारपुष्पैः ।

पत्रच्छदं कनककमलं कर्णविभ्रंशिमिवच ।

मुक्ताजालः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः ।

नैशो मार्गः सखितुरुदये सूष्यते कामिनीनाम् । मेघवृत्त २-११

अलकापुरी में अलकों से गिरे हुए मन्दार-पुष्पों, कानों से गिरे स्वर्ण-कमलों और उरोजों से टकराकर टूटे हुए हारों के मोतियों से सूर्योदय होने पर अभिसारिकाओं के रात के मार्ग का पता चलता है ।

आम्प्यन्तीनां तमसि निबिडे वल्लभाकाङ्क्षिणीनां ।

लाक्षारगाश्चरणगलिताः पौरसोमन्तिनीनाम् ॥

रक्ताक्षोक्तस्तवकलितैर्बालभानोर्मूर्च्छं ।

नैशक्यन्ते रजनिविणमै पौरमार्गेषु यत्र ॥ पवनवृत्त ४३ ॥

“वहाँ घोर अन्धकार में धूमती हुई अभिसारिका घोर वज्रुओं के चरणों से गिरा लाक्षारंग रात्रि व्यतीत होने पर सूर्य की रक्ताशोक के स्तब्ध तुल्य बास किरणों के पड़ने से दिखाई नहीं देता।” घोषी की सबसे बड़ी मौलिकता यह है कि उन्होंने एक ऐतिहासिक व्यक्ति को अपने दूतकाव्य का नायक बनाया है। इस दृष्टि से उनका काव्य अपने ढंग का स्वयं ही है। अन्य किसी भी शृङ्गारिक दूतकाव्य में ऐसा नहीं किया गया। यद्यपि पवनदूत के ही नाम से वादिचन्द्र सूरि ने १७वीं शताब्दी में एक काव्य लिखा जिसमें उज्जयिनी के राजा विद्यानरेश ने एक गन्धर्व द्वारा अपहृत अपनी रानी के पास सन्देश भिजवाया है तथापि वह ऐतिहासिक नहीं है। उसका कथानक और पात्र सभी कल्पित हैं।

दूतकाव्य-रचना के अन्तर्गत समस्यापूर्ति की कला का भी बहुत विकास हुआ, समस्यापूर्ति के प्रधानतया दो रूप साहित्य में मिलते हैं। एक में श्लोक का पूर्वार्ध अथवा प्रथम तीन चरण दिये हुए होते हैं और उत्तरार्ध अथवा अन्तिम चरण की पूर्ति करनी पड़ती है और दूसरे में इसके विपरीत श्लोक का अन्तिम चरण दिया गया होता है और अवशिष्ट तीन चरणों की पूर्ति की जाती है। इनमें भी दूसरे प्रकार की समस्यापूर्ति का अधिक प्रचार रहा है। समस्यापूर्ति की कला कामशास्त्र की चौसठ कलाओं में परिगणित है। प्राचीन भारत के विनोदों में इसका उच्च स्थान था। बाण ने अपनी कादम्बरी में इसका संकेत किया है। एक जनश्रुति के अनुसार कालिदास समस्यापूरण की कला में बड़े प्रवीण थे। भोजप्रदम्ब में उनकी इस कला का स्थापन करने वाली अनेक कथाएँ संगृहीत हैं। भोज के साथ कविकुलगुरु का सम्बन्ध जोड़ना अनेतिहासिक है। उनके सभासद् कालिदास रघुवन्धकार से निश्चयपूर्वक भिन्न थे। कहा जाता है कि महाकवि कालिदास ने कुमारदास द्वारा एक गणिका के भवन की दीवार पर लिखे हुए निम्नलिखित श्लोक को देखा :—

कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दुष्यते ।^१

और इसको इस प्रकार पूरा किया—

बाले तव मुलाम्भोजे कथमिन्दोवरद्वयम् ?^२

इसी प्रकार मयूर के विषय में भी प्रसिद्ध है कि वे एक बार नवीन श्लोक रचना करके श्रोतृसुखवश उसे मोर के झूट-पुटे में ही अपने बहनोंई बाण को दिखाने के लिए उसके यहाँ पहुँचे। अपनी मानिनी पत्नी का अनुनय करते हुए बाण उस समय निम्नलिखित पंक्तियाँ बोल रहे थे—

गता प्रायः रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव ।

प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव ।

प्रणामान्तो मानस्तदपि न जहाति क्रुधमहो ॥^३

१. कमल में कमल का उत्पत्ति सुनी तो बाली है पर देखी नहीं जाती।

२. हे सुन्दरी ! फिर तुम्हारे मुख कमल पर दो नील कमल कैसे ?

३. रात्रि प्रायः बस चुकी है, चन्द्रमा छिपने वाला है, यह दीपक भी नींद-वश कँप-सा रहा है, मान का अन्धवि चरण-निपात तक ही तो होती है पर तुम अब भी क्रोध का त्याग नहीं कर रही हो।

चतुर्थ पाद वाण कह भी न पाये थे कि बाहर से मयूर ने उसकी पूति की :

कुचप्रत्यासत्या हृदमपि ते चण्डि कठिनम्^१।

इस प्रकार समस्यापूति की कला बहुत दिनों से विकसित होती चली आ रही थी और इसका क्षेत्र मुक्तक तक ही सीमित था किन्तु नवीं शताब्दी से इस ढंग की रचनाएँ अधिक लिखी जाने लगीं और धीरे-धीरे प्रबन्ध काव्य को भी इस प्रवृत्ति ने अपना त्रिशक्षेत्र बनाया। जैन भाविपुराण के रचयिता जिनसेन ने अपने पार्ष्वाभ्युदय स्तोत्र के प्रत्येक पद्य में कालिदास के मेघदूत की एक एक, एक दो-दो पंक्तियों को समस्यापूति की पद्धति से समाविष्ट किया। इसके पश्चात् तो इस तरह के अनक प्रयास हुए। यह सायोगिक बात है कि प्रायः जैन कवियों ने ही इस ढंग की रचनाओं का प्रणयन किया। पार्ष्वाभ्युदय दूतकाव्य नहीं है। जैसा कि कहा जा चुका है, दूतकाव्य-परम्परा में मेघदूत के अनुकरण पर लिखा हुआ प्रथम उपलब्ध काव्य धोयी का पवनदूत ही है जो दूत काव्य की परम्परा का उज्जीवक कहा जा सकता है। जैन कवि विक्रम के नेमिदूत में जैन तीर्थङ्कर नेमिनाथ की पत्नी राजमती ने अपने पति से, जो भ्रातृ पर्वत पर तपस्या कर रहे थे, घर लौटने की प्रार्थना की है। इसके प्रत्येक पद्य के अन्त में मेघदूत के हर-एक पद्य की अन्तिम पंक्ति समस्या के रूप में प्रयुक्त की गयी है। एक उदाहरण लीजिए।

सा तं वृणा मनसिजशरैर्यदिवेशं बभाषे ।

रक्षेस्त्वामी शरणगमसौ भूपतीनां तु धर्मः ।

तन्मां स्वामिन्म भवदधीनां समभ्यर्चये त्वां ।

याज्ञा मोघा धरमविगुण नाधमे लब्धकामा ॥ ६ ॥

पन्द्रहवीं शती के प्रारम्भ में चारित्रसुन्दरमणी ने शीसदूत की रचना की जो समस्यापूरणात्मक शैली में लिखा हुआ एक उपदेशात्मक काव्य है और १७वीं शती के अन्त में मेघविजय नामक कवि ने 'मेघदूत' समस्यालेख लिखा है जिसमें अपने गुरु के पास उन्होंने मेघ को सन्देशवाहक बनाकर भेजा है। एक अज्ञात जैन कवि का चेतोदूत भी नेमिदूत के ढंग का ही मेघदूत पर आधृत समस्या पूतिपरक काव्य है।

प्रायः सभी अनुकरणात्मक दूतकाव्यों में मूल की सहज रसात्मकता नहीं आ पायी है। विषय उद्देश्य और शैली की दृष्टि से उनमें वैविध्य है, फिर भी अधिकतर शृङ्गार ही वर्ण्यविषय रहा है और मन्दाक्रान्ता छन्द प्रयुक्त हुआ है।

शिकरिणी^२, वसन्ततिलका^३, माजिनी^४ और शार्ङ्गल विश्रीडित^५ छन्द में भी कुछ काव्य लिखे गये। मेघ, पवन, चन्द्र आदि प्रकृति के विभिन्न अचेतन तत्त्वों के

१. कोपने । कुचों की संगति से तुम्हारा हृदय भी कठोर हो गया प्रतीत होता है ।

२. हंसदूत (रूप गोस्वामी) मनोदूत (प्रधानाथ) ।

३. मनोदूत (विष्णुदत्त) हृदयदूत (हरिहर) ।

४. चन्द्रदूत (जम्बू) । ५. शिकदूत और पार्वतदूत (मोलानाथ) ।

अतिरिक्त पिक, शुक, भृङ्ग, मयूर, चकोर, चातक, चक्रवाक, घ्रादि पक्षियों और उडब हनुमान आदि विविध पौराणिक पात्रों को भी संदेशवाहक बनाया गया है। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में नदिया के कृष्णसर्वभौम नामक कवि ने पदाङ्कदूत की रचना की जिसमें गोपियों ने कृष्ण के पदचिन्हों से ही कृष्ण के लिए संदेश ले जाने की प्रार्थना की है। इसी थीम को लेकर 'तुलसीदूत' की भी रचना हुई जिसमें दूत का कार्य तुलसीवृक्ष को सौंपा गया। यही नहीं, मन, हृदय चित्त तथा भक्तिसदृश अमूर्त पदार्थों से भी यह काम लिया गया है। सीताराम, राधाकृष्ण, पादमनाथ नेमिनाथ आदि पौराणिक पात्र और उनसे सम्बन्धित कथानक भी आधार बनाये गए हैं। एक दो काव्य ऐतिहासिक व्यक्तियों से भी सम्बद्ध है किन्तु इनमें भी घटनाएँ अधिकतर ऐतिहासिक नहीं हैं।

धार्मिक भाषाओं और उनसे प्रभावित कवियों के हाथ में पड़कर दूतकाव्य का स्वरूप कुछ और ही हो गया। सामान्य कवियों ने तो मानवीय-प्रेम का ही चित्रण अपने दूतकाव्यों में किया है किन्तु वैष्णव और जैन कवियों ने इस परम्परा को धार्मिक उपदेश और प्रचार का साधन बना लिया। रूपगोस्वामी का हंसदूत गोडीय रसशास्त्र के उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम (भक्ति) का चित्रण करता है और तैलङ्ग ब्रजनाथ के मनोदूत में असहाय द्रौपदी चौरहरण के समय अपने मन को कृष्ण के पास संदेश लेकर भेजती है। बिनय विजयगणी ने अपने 'इन्दुदूत' में जोधपुर से सूरत-स्थित अपने धार्मिक गुरु के पास इन्दु द्वारा एक विज्जित पत्र भिजवाया है और प्रसङ्गानुसार मार्ग में स्थित जैन मन्दिरों और तीर्थस्थानों का वर्णन किया है। कालीप्रसाद ने अपने भक्तिदूत में मुक्ति को अपनी प्रियतमा मानकर भक्ति को दूत के रूप में उसके पास भेजा है। यह सारा काव्य रूपकात्मक है। किसी अज्ञात वैष्णव कवि का 'हंसदूत' भी, जो वेदान्तदेशिक और रूप गोस्वामी के हंसदूत से सर्वथा भिन्न है, ऐसा ही रूपकात्मक काव्य है। श्रीकृष्णमाचारियर ने एक काकदूत का भी उल्लेख किया है जिसे हम पेंरोडी दूत-काव्य कह सकते हैं। इसमें कारागृह में बन्द एक पतित ब्राह्मण अपनी प्रिया कावम्बरी (सुरा) के पास कीए को दूत बनाकर भेजता है।

सारंश यह है कि दूतकाव्य की परम्परा जो प्रारम्भ में सहज मनोरम भाव को लेकर चली थी, अन्त में जैन कवियों के हाथ में पड़कर प्रचार-साधन-विज्जित-पत्र अथवा समस्थापूति-कलाप्रदर्शन के रूप में परिवर्तित हुई और दूसरी वैष्णव कवियों के सम्पर्क से धार्मिक और दार्शनिक विचारों के बहन से बोधित हो गई। उत्तरोत्तर कला की कृत्रिमता और विलम्बता इन काव्यों का स्वभाव ही बन गया। निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी:—

छत्राभोजध्वजमकरिकाचकशङ्खाकुशाङ्गाः ।

पुष्परात्रिमलमनतामर्ध्यमासुखयन्तः ॥

पादग्यासाः पथि विचरतः प्रेयसो मे पवित्राः ।
 प्राप्यन्यदणोस्तव विषयतां प्रस्थितस्यैव सन्तः ॥ हंससंदेश-४४ ॥
 शालाचक्रे कुसुमकलिकाकङ्कटे सङ्कुटाग्रां
 माध्वीमाद्यन्मधुपमहिलामण्डलीमण्डितानाम् ।
 संलघ्नानामिष रविभयाच्चित्रमाञ्जिज्जठवस्त्रैः
 पद्मेः खण्ड नवघनघटापकमलं पावपानाम् ॥ वही-४५ ॥
 मञ्जुष्वान सुललितपुरःप्रीजनारव्यगीता
 माध्वीलीलं नवमधुभरीलीललीलम्बजाला ।
 कान्तासक्तं सुदृढरयितारागमूर्छालपीरा
 तैस्तैर्भविर्मदयितुमल त्वामसौ राजधानी ॥ मृङ्ग सन्देश उत्तरभाग-१ ॥
 सासाद्याद्या मम मत ! ततः स्वान्तवृत्ते ! त्वयात्वं ।
 पापावाचाहहहृदवदधश्च यस्याः प्रणामाः ॥
 यां याम्नीतीरुहदृगगगभलियस्थां नियन्त्री ।
 नानासंसघ्नननतितितिक्षावती भाति नृणाम् ॥ कोक सन्देश ४० ॥
 तद्रम्याराविबिबिबिबिक्त्तुः सरः सुन्दराख्यं ।
 मोदं पापं दददददवः सव्यतो याहि तस्मात् ॥
 कान्तारुढो रुदरुदरुदवाति यत्तीरमास्ते ।
 के गङ्गावानिनिनिनिनिनिन्वाङ्गजं यो हि भानाम् ॥ वही ४७ ॥

उपर्यक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में हमारे निष्कर्ष ये हैं—

१. दूत काव्य परम्परा में भाषा-शैली, छन्द और भाव की दृष्टि में कालिदास का ही अनुकरण अधिक हुआ । मौलिकता का अंश अपेक्षाकृत कम ही रहा ।

२. शृङ्गार के अतिरिक्त भक्ति एवं दर्शन में सम्बद्ध भावों की अभिव्यक्ति के लिये दूतकाव्य की शैली को अपनाया गया ।

३. ऐतिहासिक और पौराणिक व्यक्तियों तथा गाथाओं के आधार पर भी दूत काव्य रचे गए किन्तु अधिकतर उनकी कथावस्तु कल्पित ही रही ।

४. समस्यापूर्ति की कला के विकास को इस परम्परा से बड़ा भारी दल मिला और मेषदूत की प्रत्येक पंक्ति को समस्या मान कर कई दूतकाव्य रचे गए ।

५. मुक्तक गीतिकाव्य की भाँति रुढ़ि बालन के प्रति मोह, पाण्डित्य-प्रदर्शन, शब्द-श्रीडा आदि विशेषताएँ युग की प्रवृत्ति के अनुसार इस परम्परा में भी समान रूप से समाविष्ट हुई ।

धार्मिक गीति परम्परा

पिछले अध्याय में हम कह आए हैं कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ब्राह्मण युग की जटिल उपामना और यज्ञों के विरोध में नास्तिकों के आन्दोलन हुए। नास्तिक आन्दोलन के फलस्वरूप बौद्ध और जैन धर्मों की स्थापना हुई तथा नास्तिक आन्दोलन के फलस्वरूप भागवत धर्म की जिसके अन्तर्गत भक्ति का व्यापक प्रसार हुआ। छान्दोग्योपनिषद् में घोर आङ्गिरस ऋषि ने अपने शिष्य कृष्ण को एक नये यज्ञ का उपदेश दिया था जो तपश्चर्या, ऋजुभाव, अहिंसा और सत्यवचन पर आधारित था। अनुश्रुति है कि राजा वसु चैद्यापरिचर ने अपने एक अश्वमेध यज्ञ में पशु बलि न देकर अन्न की आहुतियाँ दी।¹ वसु द्वारा प्रवर्तित यह लहर कर्मकाण्ड और तप के स्थान पर भक्ति पर बल देती थी। यह आन्दोलन हमारे बाङ्गमय में 'ऐकान्तिक' कहलाता है क्योंकि इसमें एकमात्र हरि में एकाग्रता से भक्ति करने का भाव मुख्य था। वस्तुतः व्यावहारिक रूप में तो ऋग्वेद काल में ही यज्ञ-तन्त्र भक्ति-भावना के दर्शन हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में तीसरे अध्याय में वसिष्ठ द्वारा प्रणीत वरुण सूक्त से कुछ मन्त्र उदाहृत किए जा चुके हैं। प्रो० आर० सी० मजूमदार भी भक्ति भावना का उद्गम यहीं से मानते हैं।²

महाकाव्य (रामायण और महाभारत) युग में वैदिक युग की प्राकृतिक शक्तियों के सूचक, इन्द्र, वरुण, उषा आदि देवताओं के स्थान में स्कन्द, विशाल आदि मानवरूप देवताओं को प्रतिष्ठा हुई और त्रिमूर्ति को उत्कर्ष मिला। भगवान् की उत्पादक, धारक और संहारक शक्तियों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश देवताओं की पूजा होने लगी। महाभारत में न केवल विष्णु के पूजक भागवत संप्रदाय और शिव के पूजक पाशुपत संप्रदाय का उल्लेख मिलता है अपितु यह कल्पना भी की गयी है कि भागवतों के उपास्य देवता विष्णु ही पाशुपतों के आराध्य देव शिव हैं।³ महाभारत के एक ही पर्व में शिव और विष्णु की सहस्रनाम से स्तुति है। इस युग में महापुरुषों को देवरूप प्रदान करने की परिपाटी भी चल पड़ी।

1. छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।४-६।

2. एबर्वास्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १, पृष्ठ ३८।

3. महाभारत ३।६६।७६

रामायण के मूल ग्रंथों में राम मानव रूप में चित्रित हैं किन्तु बाद के ग्रंथों में उन्हें भगवान् का अवतार मान लिया गया है। जैसा कि कहा जा चुका है, गीतम बुद्ध भी अपने जीवन में ही महापुरुष के रूप में पूजे जाने लगे थे।

पौराणिक युग में भक्ति-भावना का विकास तीव्रता के साथ हुआ और ज्यों-ज्यों भक्ति आन्दोलन जोर पकड़ता गया त्यों-त्यों आराध्य देवों की स्तुति में अनेकानेक रचनाएँ होने लगी। पुराण-साहित्य में इस प्रकार के स्तोत्र भरे पड़े हैं। वैदिक युग में देवताओं से ऐहिक वस्तुओं की याचना की जाती थी। पौराणिक युग में पारलौकिक सुख और मोक्ष-प्राप्ति प्रमुख माने जाने लगे। आगे चल कर भवन लोग उपास्य की भक्ति की ही याचना करने लगे। उपास्य की महत्ता की इसमें अधिक व्यञ्जना हो भी क्या सकती थी। ऐसे प्रसङ्गों में अनुभूति का गहनतम रूप देखा जाता है जिनमें वैयक्तिकता की भी पर्याप्त समाहित हो गई है। पुराण-साहित्य के अन्तर्गत इन स्तोत्रों का कवित्व की दृष्टि से चाहे कुछ भी मूल्य हो किन्तु अन्तर्मुखी चेतना की भाँकी इनमें स्पष्ट दिखाई देती है।

काव्य शास्त्रियों का दृष्टिकोण

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने स्तोत्रों में रस की अनुभूति गौण मानी है। देवविषयक रति का परिपाक उन्होंने रस में न मान कर उसे भाव सजा प्रदान की है।¹ इसका कारण कदाचित् यह है कि दीर्घकाल से रति का वास्तविक आस्पद नारी ही मानी जाती रही थी और कवियों तथा काव्यशास्त्रियों ने शृङ्गार को ही अधिक प्रश्रय दिया था। निःसन्देह ऐसे स्तोत्रों की संख्या पर्याप्त है जिनमें अनुभूति की सघनता के स्थान में शब्दाटम्बर और चमत्कार-प्रदर्शन का ही योग अधिक है। बहुत से स्तोत्र देवताओं अथवा देव विशेष की नामावली के अतिरिक्त कुछ नहीं है। फिर भी ऐसे स्तोत्रों की संख्या भी नगण्य नहीं है जो स्तोता की मानसिक पीर और उपास्य के प्रति सच्ची लगन के द्योतक हैं। उनमें अनुभूति का उदात्त स्वरूप निहित है। अभिव्यक्ति की सहज मामिकता के साथ अपनी उपर्यक्त विशेषताओं के कारण वे गीतिकाल की ही कोटि में रखे जा सकते हैं।

स्तोत्र-परम्परा का महाकाव्यों पर प्रभाव

संस्कृत के महाकाव्य भी स्तोत्र परम्परा से प्रभावित हैं। क्योंकि महाकाव्यों के कथानक प्रायः रामायण और महाभारत से ही लिये गए हैं, अतः यह प्रभाव स्वाभाविक भी है। रामायण तो आदि महाकाव्य कहा ही जाता है। कालिदास ने वाल्मीकि से जहाँ अन्य विशेषताएँ ग्रहण कीं वहाँ स्तोत्र शैली भी जिसे उन्होंने अपनी प्रतिभा से अधिक कविस्वभाव रूप दिया। रघुवंश² और कुमार संभव³

1. रतिदेवादि विषया अभिचारी तथाञ्जलः ।

भावः प्रोक्तः । (मम्मट, काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास) ।

2. रघुवंश १०।१६-३२ ।

3. कुमार संभव, ३।४-१५ ।

मे उन्होंने देवताओं द्वारा विष्णु तथा ब्रह्मा की स्तुतिर्या इलोक छन्द में कराई हैं । इसी प्रकार किरातार्जुनीय के प्रन्तिम सर्ग में अर्जुन द्वारा शिव की, शिशुपालवध के चौदहवें सर्ग में भीष्म द्वारा कृष्ण की और रत्नाकर के हरविजय के सैंतालीसवें सर्ग में देवताओं द्वारा १६७ पद्यों में चण्डी की स्तुति करायी गयी है ।

बौद्ध और जैन धर्म में स्तोत्र-परम्परा

पौराणिक धर्म के अनुसार लोक-कल्याण और वैयक्तिक सुख-समृद्धि का माध्यम ब्रह्म ईश्वर शक्ति है जिसके अनेक रूप हैं । उसी की कृपा से मनुष्य का कल्याण हो सकता है । इस सिद्धान्त के आधार पर स्तोत्र-साहित्य की अवतारणा हुई । परमात्मसत्ता के जो विविध रूप स्वीकृत हुए, उनके भीम सोन्दर्य, वैभव तथा शक्ति की कल्पना की गई । जिस प्रकार शृङ्गारिक गीति-काव्य में नखशिख-वर्णन की प्रणाली चली आ रही थी, उसी प्रकार इन स्तोत्रों में भी उपास्य के भङ्ग-प्रत्यङ्गों के सोन्दर्य, व्यापार, चितवन आदि का मनोरम वर्णन किया गया और जगन्निधनी ब्रह्म शक्ति को मानव शरीर ले नही मानव हृदय भी प्रदान कर दिया गया । अपनी समस्त चिन्ताओं का भार उस शक्ति के ऊपर डालकर निश्चिन्त हो जाने में जो सुख मिलता है वह जनसाधारण के लिए बड़े आकर्षण की वस्तु है । यही कारण है कि धीरे धीरे जनता में भी पौराणिक स्तोत्रों का महत्व बढ़ता गया जिन्हे गा-नाकर वह शान्ति, सतोष और आशा के सहारे जीवन के अस्पृहणीय क्षणों को भी निर्विषाद बिता देती थी । बौद्धों ने गौतम बुद्ध को और जैनों ने अपने तीर्थंकरों को देवता का रूप देकर अपने अपने धर्म के प्रचार हेतु इस स्तोत्र-परम्परा को अपनाया । श्री हरिदत्त वेदालङ्कार का कथन है कि “पौराणिक धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म पर भी पड़ा । उसमें बुद्ध एक ऐतिहासिक महापुरुष के स्थान पर प्रमुख देवता बन गए । मथुरा और गान्धार में उनकी मूर्तियाँ बनीं । यह समझा जाने लगा कि बुद्ध कई जन्मों से साधना कर रहे थे, उस समय वे बोधिसत्व थे । अनेक बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पौराणिक ढंग से पूजा की जाने लगी । बौद्ध धर्म के इस नये रूप को उसके समर्थकों ने महायान अर्थात् बड़ा मार्ग बतलाया और उसकी तुलना में पुराने बौद्ध धर्म को हीनयान कहा है । डा० सत्यकेतु का मत इसके सर्वथा विपरीत है । वे लिखते हैं—

यदि बौद्ध लोग जीवन की उन्नति के लिए महात्मा बुद्ध को जनता के सम्मुख आदर्श के रूप में पेश करते थे तो अग्रजत धर्म के आचार्यों ने कृष्ण और राम को पूर्ण पुरुषों के रूप में उपस्थित किया । यदि बुद्ध की भक्ति द्वारा मनुष्य परम लाभ प्राप्त कर सकता था, तो राम और कृष्ण सदृश लोकोत्तर व्यक्तियों (ईश्वर अवतारों) की भक्ति भी वैसे अभिलषित फल प्राप्त करा सकती थी ।^१

बौद्ध और जैन धर्म अपनी काव्य-परम्परा, स्तोत्र-परम्परा और पुराण

१. हरिदत्त, वेदालङ्कार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, खण्ड १२१ ।

२. डा० सत्यकेतु, भारत की संस्कृति और उसका इतिहास, खण्ड ५२२ ।

परम्परा में ब्राह्मण धर्म से कहीं तक प्रभावित है, यह असंग्रह विषय है जो हमारे शोध प्रबन्ध के बाहर का है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन धर्मों में भी ब्राह्मण धर्म के समकक्ष स्तोत्र आज उपलब्ध हैं। एक बात और है, वह यह कि ब्राह्मण धर्म के स्तोत्रों में बौद्ध और जैन देवताओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता जबकि बौद्ध तथा जैन स्तोत्रकारों ने स्वतन्त्रता पूर्वक अपने उपास्यदेवों का ब्राह्मण धर्म के देवताओं के साथ तादात्म्य स्थापित किया है और प्रतिस्पर्धा के कारण अनेकत्र उनसे उच्च भी ठहराया है। इससे तो यही प्रतीत होता है कि बौद्ध तथा जैन स्तोत्र ही ब्राह्मण स्तोत्रों से प्रभावित हैं। कुछ भी सही, स्पर्धा के कारण ही इन धर्मों के अनेक स्तोत्रों के साथ उपास्य देवता की शक्तियुक्तिका किवदन्तियाँ भी एक से एक बढ़ कर जोड़ दी गई हैं। सूर्यशतक से मयूर का कुष्ठरोग अच्छा हुआ और चण्डीशतक के प्रणयन तथा पाठ ने लुञ्ज-खञ्ज बाण के हाथ पर पुनः जोड़ दिए तो नवीं शताब्दी के बौद्ध कवि वज्रदत्त अवलोकितेश्वर की स्तुति में प्रतिदिन एक श्लोक रचकर सौ दिन में कुष्ठरोग से मुक्त हो गए तथा जैन कवि मानतुङ्ग के भक्तामर-स्तोत्र के बयालीस श्लोकों में इतनी ही शृङ्खलाओं से जकड़े हुए मानतुङ्ग के बन्धनों को क्रमशः भग्न कर दिया। सिद्धसेन दिवाकर का कल्याण मन्दिर स्तोत्र जब उज्जयिनी में महाकाल के मन्दिर में पड़ा गया तो शिखरिङ्ग फट गया और उससे पाश्वनाथ की मूर्ति निकल पड़ी। ग्यारहवीं शताब्दी के कवि अभयदेव के जयतिहृद्य स्तोत्र से उनका रोग दूर हो गया और पाश्वनाथ की गुप्तमूर्ति प्रकाश में आ गई तथा बौद्ध देवी तारा ने सत्यनागयण के समान ही स्तुति से प्रसन्न होकर अपने स्तोत्रों के साथ ग्रन्थ १६ व्यक्तियों को भी, जो एक राजा ने नरमेघ यज्ञ के लिए इकट्ठे किये थे, राजा को स्वप्न में चेतावनी देकर मुक्त करा दिया।

इन स्तोत्रों की रचना प्रायः संस्कृत ही में हुई है। बौद्ध और जैन आचार्यों ने प्रारम्भ में पालि और प्राकृत को ही अपनी कृतियों का माध्यम चुना था। जनता को उनी की भाषा में सन्देश देने के उद्देश्य के साथ साथ इसके मूल में ब्राह्मण धर्म की भाषा—संस्कृत—के प्रति ईर्ष्या का भाव भी कुछ कम न था। बोलचाल की भाषा परिवर्तन के फेर में रूप बदलने की आरंभ अवसर होती रहती है। इसी लिए ब्राह्मण धर्म के साहित्य की रचना संस्कृत में हुई जो स्थायी साहित्य की सृष्टि के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी भाषा थी। दूसरा कारण यह है कि प्रायः राजदरबारों में भी संस्कृत का ही दबदबा अधिक था। कतिपय जैन राजाओं ने प्राकृत को प्रश्रय अवश्य दिया था किन्तु संस्कृत की अवहेलना वे भी न कर सके थे। सहस्रों वर्ष से जनता का सम्पर्क संस्कृत से था। जब वह आप्त विद्वानों की ही वाणी रह गई तब तो उसके प्रति जनसाधारण में पूज्यबुद्धि की भावना का और भी अधिक प्रसार हुआ और 'संस्कृत प्रमाणम्' की धारणा बढमूल हो चली, जो संस्कृत के कई पीढ़ी पुरानी हो जाने पर और जीवन के प्रत्येक पहलू पर अंग्रेजी का साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी कम से कम धार्मिक क्षेत्र में आज भी जनता के हृदय में ज्यों की त्यों बनी

हुई है। इसके अतिरिक्त संस्कृत एक प्रकार से राष्ट्रभाषा थी अतएव जहाँ जनभाषा का साहित्य एक प्रदेश-विशेष की सम्पत्ति हो सकता था वहाँ संस्कृत का साहित्य समूचे राष्ट्र की। यह बात आज भी उतनी ही सत्य है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से जैनियों और बौद्धों ने भी संस्कृत का पल्ला पकड़ा यद्यपि प्रार्थनात्मक भाषाओं में भी वे रचनाएँ प्रस्तुत करते रहे। तात्पर्य यह है कि बौद्ध तथा जैन स्तोत्रों में रचना के मूल में हिन्दू धर्म के प्रति उनकी स्पर्धा का भी बहुत बड़ा हाथ रहा।

स्वतन्त्र स्तोत्र-रचना के सर्वप्रथम निदर्शन, जो आज उपलब्ध हैं, बौद्ध कवि मातृचेत के शतपञ्चाशतिक स्तोत्र नामक ग्रन्थ के भग्नावशेष में मिलते हैं। कनिष्क के दरबार में दो महान् बौद्ध स्तोत्रकार थे मातृचेत और अश्वघोष। तिब्बती विद्वानों ने अश्वघोष का ही मातृचेत कहा है किन्तु यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है क्योंकि एक अनुश्रुति के अनुसार अश्वघोष के सरक्षक कनिष्क ने जब मातृचेत को अपने दरबार में बुलाया तो उन्होंने वृद्धावस्था के कारण अने से इनकार कर दिया और एकान्त जीवन व्यतीत करना का निश्चय किया। इनकी रचना की भाषा सरल और सुन्दर है तथा विचार उच्च। उसकी गयता निर्विवाद है। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने मातृचेत का विख्यात का उल्लेख किया है। इस प्रसिद्धि के अनुसार एक बार महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों के साथ भ्रमण कर रहे थे। उस समय एक कोकिल कहीं बोल रहा था मानो भगवान् बुद्ध का यशोगान कर रहा हो। बुद्ध ने कहा कि यह कोकिल एक दिन मातृचेत के रूप में जन्म लेगा। इस किम्बदन्ती से मातृचेत की कविता की मधुरिमा और गेयता की प्रतीति होती है जिसकी पुष्टि ह्वेनसांग के इस कथन से भी होती है कि ये पद्य सुन्दरता में स्वर्गीय पुष्पों के समान हैं और जो उच्च सिद्धान्त उनमें निहित है वे अपनी महत्ता में हिमालय की उच्च चोटियों की तुलना में रखे जा सकते हैं। भारतवर्ष में स्तोत्रों की रचना करने वाले इन्हीं को साहित्य का जनक मानकर इनके आदर्श पर रचना करने की चेष्टा करते हैं। वसुबन्धु और प्रसंग जैसे बौद्ध महात्माओं ने इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है। सारे भारत में जो कोई भी भ्रमण बनाता है वह आर्यभट्टों के साथ इनके दो स्तोत्रों को भी अवश्य याद रखता है जो ह्रीनयान और महायान दोनों ही शाखाओं में प्रचलित हैं। ह्वेनसांग ने इन की प्रशंसा के शब्द ही नहीं मिले। प्रसिद्ध दिङ्नाग नामक बौद्ध ताकिक ने इनके प्रत्येक पद्य के पूर्व एक पद्य बनाकर रख दिया और इस प्रकार तीन सौ श्लोकों का एक मिश्रित स्तोत्र तैयार हो गया। अश्वघोष के नाम से भी चीनी भाषा में अनूदित एक स्तोत्र प्राप्त हुआ है। नागार्जुन का चतुस्तव तिब्बती अनुवाद में है। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में हर्षवर्धन भी बौद्ध हो गए थे। कहा जाता है कि इन्होंने भी सुप्रभात^१ नामक एक स्तोत्र की रचना की थी जिसमें बुद्ध स्तुति के २४ श्लोक हैं। ये रचनाएँ स्तोत्रकाव्य परम्परा की आदिपुगीन विशेषताओं से युक्त हैं। इनमें वैदिक स्तोत्रों की सरलता और पुराणों में प्राप्त हुए स्तोत्रों की विषद वर्णनात्मकता के साथ हृदय तत्त्व का पुट भी

साक्षर लिखित होता है। कालिदास के नाम से प्रसिद्ध श्यामलादण्डक, ग्रम्बास्तव, कालीस्तोत्र और चण्डिकादण्डकस्तोत्र वस्तुतः महाकवि कालिदास की कृतियाँ नहीं हैं। ये बाद के किसी अन्य कालिदास की कृतियाँ प्रतीत होती हैं^१ क्योंकि एक तो इनकी शैली कविकुलमुरु कालिदास की शैली से मेल नहीं खाती और दूसरे इनमें तान्त्रिक प्रभाव भी परिलक्षित होता है जो निश्चयपूर्वक कालिदास के बाद की विशेषता है।

सातवीं शताब्दी के पश्चात् स्तोत्रसाहित्य में बड़ी तीव्रता के साथ वृद्धि हुई क्योंकि भक्ति भावना के विकास के साथ-साथ ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायियों ने जमकर स्तोत्र लिखे। सातवीं शताब्दी के जाँ दो प्रमुख स्तोत्र—मयूर का सूर्यशतक और बाण का चण्डीशतक—आज उपलब्ध हैं उनमें भारवि द्वारा प्रयुक्त तथा माघ द्वारा परिपोषित श्रमसाध्य कलाशैली का पूर्णतया प्रतिफलन हुआ है। सूर्यशतक के विषय में डा० डे का यह कथन कि भक्ति-भावना की अपेक्षा इस में पाण्डित्य-प्रदर्शन ही अधिक है^२ बाण के चण्डीशतक पर भी समानरूप से लागू होता है। जिस प्रकार मयूर ने सूर्य की रश्मियाँ, रथ, घोड़े, सारथि, आदि का क्रमिक वर्णन प्रस्तुत किया है उस प्रकार बाण ने चण्डी से सम्बद्ध पदार्थों का नहीं। चण्डीशतक के अड़तालीस पद्यों में चण्डी, महिष, जया, विजया, शिव, कार्तिकेय, देव, असुर, यहां तक कि चण्डी के चरण एवं चरणमल तक से उत्तमपुरुष शैली में वर्णन कराया गया है। इस दृष्टि से चण्डीशतक जैसा दूसरा स्तोत्र शायद ही कोई हो। यह शैली स्तोत्रकारों में प्रचलित न हो सकी। वस्तुतः इन शतकों को गीति कहना कठिन है क्योंकि यह वास्तविक काव्य न होकर काव्य का कीतुकमात्र है। अतः यह इस बात का प्रमाण भी है कि धीरे धीरे युग की प्रवृत्तियों का प्रभाव स्तोत्र-साहित्य पर भी पड़ रहा था। जिन प्रकार शृङ्गार के क्षेत्र में रतिभाव के प्रालम्बन रूप नारी के अंग-प्रत्यंगों के सौन्दर्य का चित्रण कवि-समुदाय करता चला आ रहा था उसी प्रकार उपास्य के अंग-प्रत्यंगों तथा रूप-सौन्दर्य के वर्णन की परिपाटी स्तोत्रकारों ने भी अपनायी। प्रेम के लौकिक पक्ष में जो परम्पराएँ कविता के क्षेत्र में अपनायी जा चुकी थीं उनका उससे अलौकिक पक्ष में भी प्रविष्ट हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं कही जा सकती। प्रसिद्ध दार्शनिक शङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध शिवपादादि-केशान्त-वर्णन, शिवकेशादिपादान्तवर्णन, विष्णुपादादिकेशान्त-वर्णन विष्णुकेशादिपादान्तवर्णन आदि स्तोत्रों को तो जाने दीजिए क्योंकि उन्हें निश्चयात्मकता के साथ शंकर की रचना नहीं कहा जा सकता; सम्भव है वे सम्प्रदाय के अन्य उत्तरवर्ती मठाधीश अनेक शङ्कराचार्यों की रचनाओं में से हो, किन्तु जैनाचार्य मानवुज्ज के भक्तामर स्तोत्र में भी, जिसे जैनों के धार्मिक ग्रन्थिलेख तीसरी शताब्दी का और एक किम्बदन्ती श्रीहर्ष के समय का तथा कीच बाण से १५०-२०० वर्ष पश्चात् का मानते हैं, यह विशेषता स्पष्ट लक्षित हो जाती है—

१. एकोऽपि गीयते इन्त कालिदासो न केनचित् ।

शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥ राजशेखर

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १३३ ।

येः शास्त्ररागवृत्तिभिः परमाणुभिस्त्वं निर्मापितस्त्रिभुवनकलाभूत !
 तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां यस्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥
 वक्त्रं च ते सुरनरोरगनेत्रहारि निःशेषनिजितजगत्त्रितयोपमानम् ।
 बिम्बं कलङ्कुमलिनं च निशाकरस्य यद्भासरे भवति पाण्डूपलाशकल्पम् ॥^१
 नित्योदयं वलितमोहमहान्धकारं गम्यं न राहुजवनस्य न वारिवानाम् ।
 विश्राजते तव मूलाब्जमनल्पकान्तिं विशोतयच्छगवपूबंशशाङ्कुबिम्बम् ॥^२
 उन्निव्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती पर्युल्लसन्नमयूखशिखाभिरामौ ।
 पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र बलः पङ्कजानि तत्र बिम्बधाः परिकल्पयन्ति ॥^३

इस सम्बन्ध में मूकपञ्चशती का उल्लेख आवश्यक है। परम्परा के अनुसार मूक कवि शकाराचार्य के समसामयिक अथवा उनसे कुछ पहले थे क्योंकि उन्होंने अपनी मोन्दयलहरी में 'प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया' कह कर उक्त कवि का सकेत किया है। मूकपञ्चशती के समय का निश्चय न होने पर भी यह मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि उसमें इस परिपाटी का पर्याप्त विकास दिखाई पड़ता है। देवी के चरण, कटाक्ष और मन्दस्मित के ऊपर ही मूक ने शिखरिणी, वसन्तनितका और शार्दूलविक्रीडित छन्दों में पद्यों का पूरा एक-एक शतक लिख डाला है। नवीं शताब्दी के बौद्ध कवि वज्रदत्त के अवलोकितेश्वर शतक में भी नखशिख, गुण, प्रेम आदि का वर्णन है।

इस रूप वर्णन से ही सम्बद्ध है देवताओं की विविध मुद्राएँ, जिनका ध्यान उपासकों के लिये आवश्यक था। देवी की उपासना से सम्बद्ध रचनाओं में इन मुद्राओं का विशेष रूप से चित्रण हुआ है। दुर्गासप्तशती की उपासना विधि में 'ॐ, ऐं ह्रीं क्लीं, हुं, फट्, जैसे ध्वनियों वाले मन्त्र, जिनका कोई अर्थ नहीं, तथा अथ ध्यानम् कहकर जो श्लोक दिये गये हैं वे इसके उदाहरण हैं। यह तान्त्रिक प्रभाव के कारण हुआ क्योंकि देवी की उपासना पर तन्त्रों का प्रभाव तो है ही।'^४
 शृङ्गार भावना का समावेश

देववर्णन में शृंगार की परिपाटी का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। कुमार-सम्भव आदि महाकाव्यों के अतिरिक्त प्रगीत मुक्तकों में और मंगलाचार के रूप में देवदम्पती की शृंगारिक चेष्टाओं का वर्णन कविजन करते आ रहे थे। भक्ति में माधुर्य का समावेश होने के साथ-साथ स्तोत्र-परम्परा पर भी इसका बहुत प्रभाव पड़ा। मानसिक संतुष्टि और नैतिक दृढ़ता जो प्राचीन धार्मिक भावना की प्रमुख विशेषताएँ थीं उच्च कोटि के परम्पराभक्त स्तोत्रों की प्रेरक शक्ति का कार्य कर रही थीं। किन्तु मध्यकालीन सम्प्रदायों और रागानुगा भक्ति के प्रचार-आन्दोलन के

1. भक्तान्तरस्तोत्र, १२-१३।

2. वही, १८।

3. ,, ,, ३६१।

4. हरिदत्त वेदालङ्कार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास पृष्ठ २०५।

साथ साथ इन मूल भावों में एक प्रकार की गुह्य शृंगार भावना का समावेश हो गया और प्रेम की पीर गहन भाषा, उच्च कल्पना तथा लौकिक शृंगार भावना के साथ प्रकट की जाने लगी। इस प्रवृत्ति के कारण संस्कृत स्तोत्रसाहित्य का विकास एक नयी दिशा में हुआ जहाँ भक्ति और शृंगार क्षितिज के समान परस्पर मिल गए से प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि गीतगोविन्द जैसी रचनाओं को विशुद्ध धार्मिक तथा शृंगारिक दोनों पहलुओं से भ्रमण देखा और समझा गया है।¹ इस विषय पर विस्तृत चर्चा भ्रमले अध्याय में की जायेगी। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि जैन स्तोत्रों में इस प्रकार की शृंगार भावना नहीं पायी जाती जबकि बौद्धों की तारा देवी के स्तोत्रों में इसका समावेश हो गया। जैन तीर्थङ्कर तो पूर्णतया सन्यासी थे। सांसारिक वैभव से दूर रह कर शान्तरसपरक उपासना ही जैन धर्म का लक्ष्य रहा जबकि ब्राह्मण धर्म में देवताओं की कल्पना ऐश्वर्य तथा सर्वविध-भोग-सम्पन्नता के साथ की गयी थी। अतः ब्राह्मण धर्म के अनुसार देवोपासना में शृंगार-समावेश का अवसर अगोचर अधिक था। बाण के चण्डीशतक में ही इस प्रवृत्ति के संकेत मिल जाते हैं। आगे चलकर तो उत्तरोत्तर विकसित होती हुई यह परम्परा चण्डीकुचपञ्चाशिका जैसी रचनाओं में, जिन्हें स्तोत्र कहते में सकीर्ण ही नहीं खेद भी होता है, परकाष्ठा को ही प्राप्त हो गयी पहले तो इसकी प्रबलता शिव, पार्वती अथवा देवी के अन्य स्वरूपों से सम्बद्ध स्तोत्रों में रही² किन्तु भागवत पुराण के अधिकाधिक प्रचार तथा कृष्ण के साथ राधा का योग हो जाने पर तो राधाकृष्ण की स्तुतियों में यह पूरे वेग के साथ प्रस्फुटित हुई। राधा-कृष्ण विषयक एक भी स्तोत्र ऐसा न मिलेगा जो उनकी प्रणय-लीलाओं का चित्रण न करना हो।

आर० जी० भण्डारकर का यह कथन उल्लेखनीय है कि जब स्त्रीतत्त्व को प्रतिमा का रूप देकर विशिष्ट उपासना का लक्ष्य बना लिया जाता है तो इस प्रकार के नवम्य आचारों का प्रादुर्भाव अनिवार्य हो उठता है। त्रिपुर-सुन्दरी के रूप में दुर्गा की उपासना भी इसी रूप में पर्यवसित हुई।³

वैदिक युग में स्त्रीतत्त्व की उपासना नहीं थी। भीष्म पर्व के तेईसवें अध्याय में पहली बार दुर्गा की स्तुति मिलती है। गुप्त युग में शिव की शक्ति को अधिक प्रधानता मिली है। शक्ति के उपासकों ने शरीर में पट्टाक्षर की स्थिति मानी और हिम्, हुम्, फट् आदि मन्त्रों से तथा योग से अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति, मन्त्रों की शक्ति और मुद्राओं में विश्वास किया।⁴

1. The mighty Sex-impulse becomes transfigured into a deeply religious emotion; and, however mystic the devotional attitude may appear, the literary gain is beyond question. (*Hist. of Sans. Lit. by De & Dasgupta*, p. 376.)

2. उदाहरणार्थ देखिए, शिववेशादिपादान्त वर्णन स्तोत्र, ८-१६, वक्राक्षितपञ्चाशिका २-८ १७ आदि।

3. When the female element is idolised and made object of special worship, such disgusting corruption must ensue. The worship of Durga in form of Tripura-Sundari has led to the same result. *Vaishnavism and Shaivism*, p. 122-23.

4. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १०५।

साम्प्रदायिकता का प्रभाव

धार्मिक भावना की संकीर्णता और साम्प्रदायिकता की रस्साकशी के कारण विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के स्तोत्रों में एक दूसरे के उपास्य को तुच्छ एवं अपने को महान् सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी खूब चला। प्रतिस्पर्धा की यह भावना ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध जैन तथा बौद्ध स्तोत्रों में अधिक प्रकट हुई है। जैन स्तोत्रों में कहीं तो हिन्दू देवताओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है और कहीं उन्हें अपने तीर्थंकरों से ग्रथ्यन्त हीन सिद्ध किया है। भक्तानामरस्तोत्र की निम्नलिखित उक्तियों ही देख लीजिए—

बुद्धस्त्वमेव बिबुधाचितबुद्धिबोवास्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमानेविधेविधानाद व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुढोत्तमो मे ॥२५॥
जान यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं नवं तथा हरिहराविष्णु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन् मणिषु याति यथा महत्स्वम् नैव तु काचशक्ते किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

जिन की स्तुति में भूपाल कवि की यह उक्ति भी लीजिए —

कन्तोः सकान्तमपि मल्लमयेति कश्चिन्मृगधो मुकुन्वमरविन्दजमिन्दुभौलिम् ।
मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपातस्तस्य त्वमेव विजयी जिनराज ! मल्लः ॥^१

साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर कुछ ऐसे स्तोत्र भी लिखे गए जिनमें साम्प्रदायिक दर्शन और सिद्धान्तों का भी जानबूझ कर समावेश किया गया। इन स्तोत्रों को प्रचार-विज्ञप्ति कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि अनुभूति की जो गहनता गीतिकाव्य में अपेक्षित है उसका इनमें पूर्णतया अभाव है। उपास्य देव-विशेष के प्रति भक्ति-भावना के स्थान में दर्शन और सिद्धान्तों का समावेश ही कवि का अभीष्ट हो उठा है। कहीं कहीं तो विविध आगमों की ही नामनिर्देशपुरःसर स्तुति की गयी है। भक्ति के क्षेत्र में उपास्य के साथ तन्मयता की स्थिति में जिन भावों की अनुभूति हुआ करनी है उनका लेखमात्र भी इन स्तोत्रों में नहीं मिलता। ऐसे स्तोत्र जैन साहित्य में विशेष रूप से पाए जाते हैं। कारण यह है कि जैन साहित्यकारों की प्रवृत्ति चित्रकाव्य की रचना कर शक्ति-प्रदर्शन करने की और ही अधिक थी। उदाहरणार्थ श्रीजिनप्रभसूरिविरचित सिद्धान्तागमस्तव का नाम लिया जा सकता है। बारहवीं शताब्दी के अन्त तक अनेक वैष्णवाचार्य हुए जिन्होंने भक्ति की सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक व्याख्या कर विभिन्न सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया। उत्तरवर्ती धार्मिक साहित्य एवं स्तोत्र रचना पर इस साम्प्रदायिक दर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। १५ वीं शताब्दी में गौडीय रसशास्त्र के प्राविर्भाव में श्रृंगारिक प्रवृत्ति के साथ इसका भी पर्याप्त योग था। बहुत से वेदान्ती स्तोत्र जिनमें कितने ही शंकरकृत बताए जाते हैं, काश्मीर के शैव सम्प्रदायियों द्वारा निमित्त रचनाएँ, दक्षिण के वैष्णव कवियों द्वारा रचित स्तुतियाँ और बंगाल के शाक्त अथवा तान्त्रिक स्तोत्र, सभी तत्कालीन विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों के उदाहरण हैं। यह सत्य है कि

इनका मूल धार्मिक विश्वासों की गहराई में उतरा हुआ है किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि ये प्रायः सम्प्रदायविशिष्ट के धर्मशास्त्रीय एवं दार्शनिक भार से दबे हुए हैं।

इस प्रकार स्तोत्र-साहित्य के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धार्मिक गीति-साहित्य का विकास भी शृंगारिक गीति-काव्य के समान हुआ। इसमें भी प्रारम्भ में प्रकृति को महत्त्व दिया जाता था और प्राकृतिक तत्वों की स्तुति की जाती थी। जिस प्रकार शृंगारिक गीति काव्य में प्रकृति का स्थान नारी ने ले लिया उसी प्रकार धार्मिक साहित्य में उपास्य के तत्त्व रूप ने उसके प्राकृतिक स्वरूप पर विजय पाई। शृंगारिक गीति साहित्य पर कामशास्त्र का भारी प्रभाव पड़ा तो धार्मिक गीति साहित्य पर तन्त्रों का। कामशास्त्र के प्रभाव से भी वह झूठा नहीं है। नक्षत्र-वर्णन की परिपाटी दोनों में ही एक साथ कुछ आगे पीछे आयी और उत्तर काल में पाण्डित्य-प्रदर्शन, चमत्कार-सृष्टि, शब्दों की कारामात आदि का समावेश भी काव्य-शास्त्र के प्रभाव के साथ साथ एक जैसा ही हुआ। इस समानता का कारण स्पष्ट है भावोद्बोध के आलम्बन भिन्न होते हुए भी दोनों की बाह्य परिस्थितियाँ समान ही थीं।

युगप्रवर्तक कवि जयदेव

पृष्ठभूमि

बारहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते भारतीय साहित्य-धारा में फिर एक नूतन मोड़ आया जिससे शृङ्गारिक गीतिकाव्य के क्षेत्र में भी कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का समावेश हुआ। नवीन विषय, प्रभूतपूर्व शैली, नूतन विचारधारा और अभिनव गतिविधि के कारण उसका स्वरूप ही बदल गया। इस परिवर्तन का मूल तत्त्व पुरानी धारा में ही मौजूद था जो सामयिक वातावरण में पनप उठा। इससे पूर्व शृङ्गारिक रचनाओं में नायक नायिका अनिर्दिष्ट ही रहते थे। उनका नामो-उल्लेख आदि न करके 'स सा' आदि सर्वनाम-रूपों से ही काम चला लिया जाता था। यों तो हाल की गाथा सप्तशती में ही राधा और कृष्ण का दो-एक गाथाओं में उल्लेख मिलता है, गोपी-कृष्ण शिव-पार्वती आदि मिथुन-अभिधान सामान्य-वर्णन के मध्य में यत्र-तत्र दृगोचर होते हैं, किन्तु यह प्रवृत्ति सामान्य नहीं थी। इस प्रकार की रचनाएँ इतनी सीमित हैं कि उन्हें एक अलग श्रेणी में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता किन्तु १२ वीं शती में इस प्रकार की रचनाओं का प्राधान्य हो गया और उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। 'अथ प्राधम्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार इनको एक सामान्य प्रवृत्ति-जनित रचनाएँ मानकर अलग से वर्गीकृत कर देना अनुचित नहीं जान पड़ता। व्यक्ति विशेष को शृङ्गारिक चेष्टाओं और भावनाओं का वर्णन करने वाली ये रचनाएँ भक्ति और शृङ्गार का ऐसा समिश्रण उपस्थित करती हैं जिनका विवेचन एक दूसरे से विश्लिष्ट करके नहीं किया जा सकता। जिन निर्दिष्ट नायक नायिका को इनका अवलम्ब बनाया गया वे राधा कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण थे। कुछ रचनाएँ सीता-राम तथा शिव-पार्वती को लेकर भी हुई किन्तु राधा-कृष्ण की लीलाओं के आगे उनमें कोई प्राकर्षण कवियों को नहीं दीख पड़ता था। अनिर्दिष्ट नायक-नायिका वाली परम्परा भी समग्रतः रुक नहीं गई थी। वह भी विरल छुट-पुट रचनाओं को लेकर मन्द मन्द चल रही थी। इस परिवर्तन का कारण तत्कालीन राजनैतिक, साम्राजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ थी अतएव उन पर महा संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त जान पड़ता है।

राजनैतिक स्थिति

राजनैतिक दृष्टि से देश की दशा बड़ी कमजोर थी। सारा देश छोटे छोटे मूलशो में विभाजित था। ऐसी कोई केन्द्रीय शक्ति न रह गई थी जो छोटे छोटे

राज्यों के राजाओं को संगठित कर सकती। वे पारस्परिक द्वेष के संक्रामक रोग से पीड़ित थे। स्वायं की भावना प्रजेय होकर उनमें संघर्ष करा रही थी। भारत की इस दुर्बलता का लाभ उठाकर विदेशी लोग एक के बाद दूसरा आक्रमण कर अपने पैर जमाते चले जा रहे थे ऐसी स्थिति में हिन्दुओं की राजनैतिक चेतना बिखर सी गयी थी।

आर्थिक स्थिति

देश की आर्थिक दशा अच्छी थी। कृषि और व्यापार उन्नत अवस्था में थे। भारत की सम्पत्ति की कहानियाँ विदेशों में भी प्रचलित थीं। महमूद ने सम्पत्ति लूटने के ही उद्देश्य से भारतवर्ष पर आक्रमण किये थे। उत्तरी भारत के मन्दिरों की सम्पत्ति का विदेशी लेखकों ने जो वर्णन किया है वह देश की गुसहाली का प्रमाण है। विदेशी यात्रियों ने भारत के विभिन्न भागों में उत्पन्न होने वाले खाद्यान्नों फलों, मसालों तथा अन्य पदार्थों की प्रचुरता का वर्णन किया है तथा व्यापार की उन्नत अवस्था का उल्लेख किया है। मगध का चावल, काश्मीर के अंगूर और रत्नगिरि का नारियल प्रसिद्ध था¹। याकूत का कथन है कि मदुरा के ग्रामवास कर्पूर बहुतायत में उत्पन्न होता है। मार्को पोलो के अनुसार बगाल में शक्कर और सोठ की पैदावार अधिक थी। इब्नमर्द ने मलाबार को काली मिर्चों का देश कहा है और मार्को पोलो ने तो उसे भारत के ही नहीं विश्व के प्रांतों में सर्वश्रेष्ठ बताया है।² आर्थिक दशा अच्छी होने के कारण रहन महन का, विशेष रूप से उच्च वर्ग का, दर्जा काफी ऊँचा था।

सामाजिक दशा

जाति भेद अत्यन्त कठोर हो गया था और वही हिन्दू समाज, जिसने यवन, शक, कुषाण आदि विदेशी जातियों को आत्मसात् कर लिया था, अब सकीर्ण मनो-वृत्ति का हो गया था। अलबरूनी ने लिखा है कि हिन्दुओं की कट्टरता का शिकार विदेशी जातियाँ होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र समझते हैं। वे उनके साथ खान-पान व विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उनका विचार है कि ऐसा करने से वे भ्रष्ट हो जायेंगे।³

उसका कथन है कि हिन्दुओं के पास बहुत उच्चकोटि की पुस्तकें हैं किन्तु ये कतिपय शिक्षित व्यक्तियों के लिये ही हैं। सर्वसाधारण का सम्बन्ध मूर्तियों और मन्दिरों में निरर्थक साधनों और कष्टप्रद प्रतिबन्धनों से है। जनता की इस दशा पर विस्मित होकर उसने कहा है कि जिस देश में अमृत की धारा बहती है वहाँ लोगों को विष-पान कराया जाता है। साधारण जनता अनुचित अन्धविश्वासों और भ्रजानान्धकार में फँसी हुई कष्टकर जीवन बिता रही है।

1. देखिए, पृष्ठ ५१६-५१७।

2. दी स्त्रिमिल फार एम्पायर, पृष्ठ ५२७।

3. डॉ० सत्यकेतु, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५३१।

स्त्रियों की दशा पहले से भी अधिक गिर गयी थी। इस युग में स्मृतियों की जो व्याख्याएँ हुईं उनके अनुसार स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिए। केवल शारीरिक अपवित्रता से ही नहीं, मानसिक अपवित्रता से भी उसकी रक्षा की जानी चाहिए। पत्नी को घर के काम-काज और उत्तरदायित्व में इतना व्यापृत रखा जाये कि उसे पर पुरुष की बात सोचने का अवसर ही न मिले।¹ इससे स्पष्ट है कि स्त्री को घर की चहारदीवारी में बन्द कर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण किया जा रहा था। बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। स्त्रियों के कारण युद्ध होते थे। कन्याओं का वलपूर्वक अपहरण करके उनके साथ विवाह करने में राजाओं की शान समझी जाती थी। ऐसी दशा में उन्हें अनचाहे व्यक्ति से भी विवाह करना पड़ता था। बाल-विवाह प्रचलित थे।

धार्मिक स्थिति

जयदेव के अविभावि के समय भारतवर्ष में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख थे। इस्लाम का पदार्पण भी हो चुका था किन्तु उसका यत्किञ्चित् प्रभाव पश्चिमी भारत में ही था। बंगाल में यह प्रभाव बाद में पहुँचा। जैन धर्म भी भारत के एक कोने में (गुजरात में) पनप रहा था। बौद्ध और ब्राह्मण धर्म देश-व्यापी थे। इन दोनों ही धर्मों पर—विशेषरूप से बौद्ध धर्म पर—तान्त्रिक प्रभाव पड़ने के कारण धार्मिक बिस्वासों में बड़ी अराजकता फैली हुई थी।

तन्त्रों का सबसे अधिक प्रभाव शाक्त सम्प्रदाय पर पड़ा और जैसा कि डा० मजूमदार ने कहा है, शाक्त सम्प्रदाय निकृष्ट तान्त्रिक क्रियाओं का पर्यायवाची बन गया। शक्ति की उपासना का आधार उपनिषदों का ब्रह्मवाद है। शक्तों के अनुसार ब्रह्म चिरन्तन शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। संसार के समस्त प्राणियों की उत्पत्ति माता के गर्भ से होती है। अतः रचनात्मक शक्ति पुरुष के रूप में न मानकर स्त्री के रूप में मानी जानी चाहिये। यही शक्ति प्रकृति है। दुर्गा, शिवा आदि उसी के नाम हैं। विभिन्न देवी देवताओं के रूप में यह शक्ति प्रतिफलित है। इसका स्वरूप आनन्दमय है।

इस आनन्दमयी शक्ति की उपासना भौतिक आनन्ददायक पदार्थों के साथ होती है। जिनमें पञ्च मकार—मघ, मास, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—का विशेष महत्व है। मैथुन के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं। प्रत्येक वर्ण की स्त्री प्रत्येक वर्ण के पुरुष की उपभोग्या हो सकती है। विण्टरनिट्ज का कथन है कि शाक्त तन्त्रों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इन में मानव मस्तिष्क से प्रसूत उच्चतम विचारों से लेकर नीचतम विचारों तक एकत्र पाए जाते हैं। एक और तो इनमें देवत्व के विषय में उच्चतम विचार तथा दार्शनिकता के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर अधिक से अधिक जंगली अन्धविश्वास तथा भ्रामक रहस्यमय जादू-टोने और दुराचारों का वर्णन मिलता है²। श्री आर० सी० मजूमदार का कथन है

1. दी स्ट्रिमिल फार एम्पावर, पृष्ठ ४८।

2. History of Indian Lit. Vol. 1

कि 'निकृष्ट तान्त्रिक सिद्धान्तों और क्रियाओं का वर्णन किसी भी प्राच्यनिक ग्रन्थ में कर सकना असम्भव है'। एक ग्रन्थ भारतीय विद्वान् ने इन्हे मानव दुराचारों में सबसे अधिक क्रान्तिकारी और भयानक कहा है।^१

तन्त्रों का सबसे अधिक प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ा। अशोक के समय बौद्धों की जो तीसरी सभा हुई थी, तब बौद्धों में अठारह निकायों का विकास हो चुका था जिनमें से छः निकायों ने महासांघिक तथा बारह ने स्थविरवादी सम्प्रदाय स्वीकार किया। महासांघिक सम्प्रदाय बुद्ध को अलौकिक रूप देना चाहता था और स्थविरवादी उनके मानवरूप की रक्षा करना चाहता था। महासांघिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत एक निकाय था 'वैपुल्यवाद' जो आगे चलकर महायान के रूप में परिणत हुआ। वैपुल्यवादी ग्रन्थ निकायों से जिन विषयों पर मतभेद रखते थे उनमें से एक यह भी था कि वे किसी विशेष अभिप्राय से भिक्षु-भिक्षुणियों द्वारा मैथुन का सेवन विहित मानते थे। इसका कारण कदाचित् यह था कि अनेक युवक और युवतियाँ भी प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते थे। यद्यपि अलग अलग विहार होने के कारण भिक्षु-भिक्षुणियों के एक साथ रहने का अवसर नहीं मिलता था तथापि वे सबके सब मार को बसीभूत नहीं कर सकते थे। सम्भवतः इसी लिए वैपुल्यवादियों ने उपर्युक्त व्यवस्था दी। जब महायान सम्प्रदाय पर तान्त्रिक प्रभाव पड़ा और वह वज्रयान के रूप में परिणत हुआ तो उसने 'विशेष अभिप्राय' की आश्रय में मैथुन की अनुमति प्रदान की और रहस्यपूर्ण शब्दजाल द्वारा मैथुन क्रिया को सम्यक् संबुद्ध बनने के लिए सहायक बताया। आठवीं सदी के बाद जब वज्रयान का भली-भाँति विकास हो गया तो वैपुल्यवादियों द्वारा बोया हुआ वह बीज महान् वृक्ष बन गया और सिद्धि की प्राप्ति करने के इच्छुक भैरवी चक्र की आश्रय में ऐसी बातें करने लगे जो धार्मिक सध के लिए तो क्या सम्पत्त समाज के लिए भी घृणास्पद थीं^२। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में जहाँ कहीं भी भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रसार था, वज्रयान का प्रभाव सबसे अधिक रहा। बंगाल और मगध तो इसके गढ़ थे ही^३।

वज्रयान में तन्त्र मन्त्र और हठयोग की भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पहले बौद्ध लोग अपने धार्मिक 'सुत्तों' का पाठ करते थे। वैपुल्यवादियों ने सोचा कि शब्द में विशेष शक्ति होती है इसलिए संक्षिप्त शब्द समुदाय से भी वही फल प्राप्त हो सकता है। अतः इन्होंने छोटी छोटी पंक्तियों की धारणियाँ बनाईं। बाद में वे भी कष्टकर प्रतीत हुईं तो मन्त्रों की सृष्टि की। मन्त्र-शक्ति के विश्वास के साथ यौगिक क्रियाओं ने भी बौद्ध धर्म में प्रवेश किया। वज्रयान के छोटे छोटे मन्त्र अभीष्ट फल देने वाले थे और उसके गुरु लोग योग-क्रियाओं और गुरु साधनाओं

१. एन आर्क स्टुगिल फार एम्पायर, पृष्ठ ४०३।

२. आर० एन० सिन्हा, नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर, पृष्ठ २६१।

३. डा० मन्वेकेतु, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५१७-५१८।

४. दी स्टुगिल फार एम्पायर, पृष्ठ ४१३।

द्वारा वज्रगुरु या सिद्धपद प्राप्त कर लेते थे। सिद्ध होने पर वे साधारण जीवन से ऊपर उठकर सदाचार-दुराचार, साध-प्रसाध, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य के बन्धन से मुक्त हो जाते थे।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में, बंगाल में वज्रयानियों के एक वर्ग ने यन्त्र जप, देव-पूजा तथा भ्रमिचार क्रियाओं के बिस्मद् आन्दोलन किया। उन्होंने कहा कि सत्य एक आध्यात्मिक वस्तु है, कृत्रिम और अस्वाभाविक मार्ग से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिए सहज मार्ग का अपनाना ही अर्थ है। इसलिए मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों को रोकने की आवश्यकता नहीं; कामवृत्ति को भी नहीं। इस वर्ग ने मानव प्रकृति पर किसी भी प्रकार का बन्धन लगाने की अपेक्षा उसे अपने प्रकृत रूप में सत्य-प्राप्ति का साधन स्वीकार किया और इसीलिए अपने सम्प्रदाय का नाम सहजयान रखा। यौन योग की क्रियाओं में सहजयानी साधक वज्रयानियों से भी चार कदम आगे रहे¹।

वैष्णव धर्म में भी स्त्रीतत्त्व की प्रतिष्ठा हो चुकी थी यद्यपि उसका स्वरूप साधक की उपभोग्या रूप में नारी को स्वीकार करने वाले उपर्युक्त सम्प्रदायों से संबंधा भिन्न था। इसमें स्वयं गोपी भाव को प्राप्त होना साधक का लक्ष्य था। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में आभीरों के प्रभाव से बालकृष्ण की लीलाएँ मागवत धर्म में जोड़ दी गई थी। महाभारत में कृष्ण की किन्हीं भी लीलाओं का उल्लेख नहीं मिलता। पाञ्चरात्र पद्धति में वासुदेव कृष्ण की पूजा चतुर्व्यूह (चार रूपों) के साथ होती थी जिसके विस्तृत प्रतिपादन के लिए सन् ६००-८०० के मध्य में १०८ पाञ्चरात्र संहिताएँ बनीं। इन संहिताओं में भी तान्त्रिक प्रभाव काफी है।² धीरे धीरे कृष्ण की लीलाओं को महत्त्व दिया गया। गोपियों के साथ क्रीडाओं की कहानियाँ उनके चरित में जोड़ी गईं। ७वीं से १२वीं शताब्दी के बीच में विरचित मागवत पुराण में श्री कृष्ण की लीलाओं का भक्तिपरक प्रतिपादन है। मागवत में राधा का उल्लेख नहीं है। वैष्णव सम्प्रदाय में राधा की उपास्यरूप में प्रतिष्ठा अपेक्षाकृत बाद की वस्तु है। कृष्ण और गोपियों की शृङ्गार-लीलाओं के आधार पर वैष्णव सम्प्रदाय में देवदासी प्रथा चली। ११वीं १२वीं शताब्दी में यह प्रथा जोर-शोर से चल रही थी। घोषी ने अपने पवनदूत में एक कृष्णमन्दिर की देवदासियों का चित्रण करते हुए कहा है कि वे ऐसी प्रतीत होती थीं मानों लक्ष्मी अपने पति की सेवा के लिए भू-लोक में उतर आई हो।³ समसामयिक अभिलेखों से भी, जिनमें एक मन्दिर से सम्बद्ध सैंकड़ों देवदासियों के शारीरिक सौन्दर्य का ब्युत्पन्न वर्णन किया गया है, इस की पुष्टि होती है।⁴ डा० मजूमदार

1. स्ट्रिंगलर कार ॥ भाष्यर पृष्ठ ४१३-१४।

2. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १००।

3. पवनदूत, ५-२८।

4. एन० जी० मजूमदार, इन्सक्रिप्शन्स आफ बंगाल, पृष्ठ ३५।

के अनुसार यह प्रथा तान्त्रिक प्रभाव के कारण ही चली ।¹

लगभग इसी समय निम्बाक ने वंणव भक्ति में राधा तत्व की प्रतिष्ठा कर राधा की भक्ति को शास्त्रीय रूप दिया और राधा की सहस्रों सखियों की कल्पना की । अपन्नी दश श्लोकों में राधा की वन्दना करते हुए उन्होंने कहा है—

मैं वृषभानुजा राधा का ध्यान करता हूँ जो कृष्ण के वामाङ्ग में सुशोभित है । सहस्रों सखियों से परिवेष्टित तथा सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं ।²

सक्षेप में राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यह सषप का युग था । भारतीय राजाओं में पारस्परिक द्वेष चरम सीमा पर पहुँच गया था । विदेशी आक्रान्ताओं के पैर जमने लगे थे । धार्मिक साधना के क्षेत्र में नैतिकता के स्थान में वामाचार का प्रभाव बढ़ रहा था । तन्त्रवाद के नाम पर उच्छृङ्खल नारी भोग, सुरा-पान आदि दुर्गुणों की वृद्धि हो रही थी और धार्मिक गुरु भोली भाली जनता को गुमराह कर रहे थे । ऐसे अवसर पर जनता की कुत्सित शृंगार भावना का उन्मथन कर उसे भगवद्-विषयक रति की ओर उन्मुख करने से दुर्गुणों के दूर हो जाने की संभावना का अनुभव होता जा रहा था । ऐसी स्थिति में रामानुज, मध्व, निम्बाक आदि आचार्यों ने शास्त्रीय पद्धति पर भगवद्-भक्ति का प्रतिपादन किया जिससे जनता को रतिभाव का नया आलम्बन मिला । भक्ति को लौकिक प्रेमभाव के मेल में रखने के लिए राधा-कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण का लीलाओं के गान का समावेश भी निम्बाक ने विशेष रूप से इस में कर दिया जिसका प्रभाव ब्रजवासियों की पञ्चमकार साधना से ग्रस्त बंगाल और उसके समीपस्थ प्रदेश पर विशेष रूप से पड़ा । भक्ति की यह परम्परा, जो अब तक शताब्दियों से सूक्ष्म रूप में अनदेखी भी चली आ रही थी, सारे भारतवर्ष में फैल गयी । इन परिस्थितियों में अनेक कवियों द्वारा भक्ति और शृंगार की समवेत रचनाओं की सृष्टि स्वाभाविक ही थी । बहुत से कवियों में भक्ति की अपेक्षा शृंगार का ही स्वर प्रधान रहा । राधाकृष्ण की प्रेमकेलियों का गान ही इन कवियों का मुख्य ध्येय बन गया जिसमें अलौकिकता कम और लौकिकता अधिक थी । जयदेव ऐसे ही कवियों में से एक थे । यह बात अन्तः साक्ष्य से भी प्रमाणित होती है । अपनी रचना का उद्देश्य और महत्व जयदेव ने स्वयं इन शब्दों में प्रकट किया है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।

मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥ गीत गोविन्द १-३

यदि हरि-स्मरण में मन है और यदि विलास-कलाओं के प्रति कौतूहल है तो जयदेव की मधुर, कोमल, सुन्दर पदों से युक्त वाणी को सुनो ।

इस श्लोक का पूर्वार्ध गीतगोविन्द के भावपक्ष का परिचय देता है और

1. दा स्टागिल आफ एम्पायर, पृष्ठ ४०१ ।

2. दशश्लोकी ।

उत्तरार्ध कलापक्ष की ओर संकेत करता है। 'हरिस्मरण' और विलासकलाओं का इसमें एकत्र सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भक्ति और शृङ्गार की क्रमागत वर्णन-परम्पराओं का जयदेव ने जान-बूझकर गठ-बन्धन किया है। अपने पाठक के मानस में वे भगवल्लीलागान की सरसता के साथ विलास-कलाओं का कुतूहल भी देखना चाहते हैं। ये दोनों ही भाव उनके काव्य में गंगा-यमुना की भाँति मिल गये हैं जिसमें संगीत-पोषित कोमल पदावली की 'सरस्वती' भी आ मिली।

'शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्' में कवि ने अपनी वाणी की श्रवणीयता की ओर भी संकेत कर दिया है। वाणी की यह श्रवणीयता उसके द्वारा भक्ति और शृङ्गार की एकत्र समाहिति के कारण ही नहीं अपितु मधुर कोमल पदविन्यासिनो कामिनी के नुपुओं के रुन-भून-सदृश नाद-सौन्दर्य के कारण भी है। उसकी कलात्मक रमणीयता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि स्वयं जयदेव के अनुसार उसकी रचना का अध्ययन तीन दृष्टियों से होना चाहिये—

१— भगवल्लीलागान की दृष्टि से।

२— शृङ्गारिक भावनाओं की दृष्टि से।

३— पदावली अथवा गेय पदशैली की दृष्टि से।

किन्तु यह ध्यान भी रखना आवश्यक है कि ये तीनों तत्त्व एक ही इकाई के विभिन्न पहलू हैं। इनका प्रभाव व्यक्तिगत नहीं सामूहिक है जिसके कारण भीत गोविन्द 'गीत गोविन्द' है। इन बातों की दृष्टि में रखकर यहाँ पूर्ववर्ती और पत्रवर्ती गीति-साहित्य से जयदेव के लेन-देन पर विचार किया जायेगा।

भगवल्लीला गान

भगवल्लीला-गान की परम्परा बहुत पुरानी है। गोपाल कृष्ण विषयक सब से अधिक कथाएँ हरिवंश पुराण में हैं। इस पुराण में कृष्ण के चरित्र को गोपियों के साथ सम्बद्ध कर लिया है। विष्णुपर्व के १२८ अध्यायों में कृष्ण जीवन की पूरी कथा दी गयी है और कृष्ण के सौन्दर्य का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। पूतना-वध, शकटासुर-वध, यमलार्जुन-पतन, मालिन-चोरी, गोवर्धन-धारण आदि सभी लीलाओं का इसमें विषद वर्णन है। पाश्चात्य विद्वानों ने हरिवंश पुराण का रचना-काल ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग माना है और अपने कथन की पुष्टि में हरिवंश पुराण में आये हुए 'दीनार' शब्द का रखा है।^१

जैसा कि कहा जा चुका है, कृष्ण-चरित में बाल-लीलाओं का समावेश आभीर जाति के प्रभाव के कारण हुआ। आभीरों में बाल-देवी और बाल-देवता की उपासना प्रचलित थी। बाल-देवता के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसका जन्म नीच घराने में हुआ और पालन-पोषण एक दूसरे कल्पित पिता के यहाँ जिसे यह ज्ञान था कि वह उसका अपना बच्चा नहीं है और उसके बहुत से निरीह भाइयों की हत्या हो चुकी है। धेनुक-वध आदि की कथाएँ भी इन्हीं आभीरों के कारण कृष्ण

कथा में स्वान पा गयी।¹ गोपियों के साथ कृष्ण की केलियों के विषय में भण्डारकर का मत है कि “धूमकड़ु घाभीर जाति के साथ जब धार्यों का निर्बाध संपर्क हुआ तो वासुदेव धर्म में कृष्ण-गोपी-लीलाधों का भी समावेश हो गया। अवश्य ही घाभीर स्त्रियाँ आकर्षक और सुन्दर रही होंगी, जैसी कि आजकल अहीर म्वालों की स्त्रियाँ होती हैं।”²

भक्ति के विकास-क्रम में नाम-कीर्तन और गुण-गान के साथ-साथ ही लीला-गान की परम्परा का भी विकास हुआ। सामयिक परिस्थितियों के कारण शृंगारिक लीलाधों के गान को घोर लोगों की प्रवृत्ति अधिक रही होगी और काल-भेद और देश-भेद के कारण लीला-गान की परम्परा में कुछ परिवर्तन भी हुए होंगे। इस प्रकार लीला-गान की एकाधिक परम्परा में कुछ परिवर्तन भी हुए होंगे। इस प्रकार लीला-गान की परम्पराएँ अस्तित्व में आ गई होगी जिन्हें यथावसर शास्त्रीय रूप दिया गया।

कृष्ण-लीला-गान-परम्परा का प्रमुख ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है। भागवत में महाभारत में लेकर पुराणकाल तक कृष्ण-चरित में समाविष्ट सभी तत्त्वों का समन्वित रूप उपलब्ध होता है। यहाँ धाकर कृष्ण को अन्य सब अवतारों की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिला है और वे भगवान् के पूर्ण अवतार मान लिये जाते हैं :—

एते चांशकलाः पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् । श्री मद्भागवत १।३।२८॥

भागवत की रचना संभवतः नवीं शताब्दी में दक्षिण देश में हुई। श्री शंकराचार्य का अद्वैत मत प्राचीन भागवत धर्म का पोषक था। भक्ति पद्धति में जिन नवीन तत्त्वों का समावेश आनवार और अदियार भक्तों के सम्पर्क से बढ़ रहा था, उन्हें शंकराचार्य ने अपने मत में कोई स्थान नहीं दिया और न ही भक्ति को सर्वोपरि माना। श्रीमद्भागवत में इसके विरोध में ही भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। भागवत में यह उल्लेख है कि कलियुग में नारायण के भक्त कहीं-कहीं होंगे परन्तु द्रविड़ देश में, जहाँ नाभ्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी और महानदी नदियाँ बहती हैं, विशेष रूप से होंगे। इन नदियों के जल का पान करने वालों के हृदय शुद्ध होंगे³। इससे प्रतीत होता है कि भागवत की रचना दक्षिण में हुई और उस समय तमिल देश में कृष्ण-लीला-गान का पर्याप्त विकास हो चुका था।

जयदेव के समय में उत्तरी भारत में भी अपनी लीला-गान-परम्परा अवश्य रही होगी। जिस क्षेत्र में कृष्ण का लीला-धाम स्वयं मौजूद हो उसमें उनके गायन की

1. जनरल आफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, सन १६५७ पृष्ठ १८१।

2. The dalliance of Krishna with cowherdess, which introduced an element in consistent with the advance of morality into the 'Vasudeva religion, was also an after-growth consequent upon the freer intercourse between the wandering Abhiras and their more civilised Aryan neighbours... Besides, the Abhiran women must have been fair and handsome as those the Ahir Gavaliyas of the present day are. (Quoted by Dr. H. L. Sharma, *Sur aur Unka Sahitya*, p. 192-93.)

3. श्रीमद्भागवत १.१।५ ३१-४०।

परम्परा न रही हो ऐसा हो नहीं सकता। भागवत तथा गीतगोविन्द के रास-वर्णन से इस तथ्य की पुष्टि भी होती है।

गीतगोविन्द में छोटे-छोटे बारह सर्ग हैं। सर्व प्रथम मङ्गलाचरण, प्रस्तावना रचनोद्देश्य और कवि परिचय के चार श्लोक हैं। इसके पश्चात् एक पद्य में दशावतारों का वर्णन है। यह सब इस कृति का प्राक्कथन मात्र है। तत्पश्चात् मूलग्रन्थ का आरम्भ होता है। एक सखी विरहोत्कण्ठिता राधा के समक्ष वसन्त का वर्णन करती है और दूर से गोपाङ्गनामों के साथ रासासक्त कृष्ण को दिखाती हुई राधा को उनके रास से भवगत कराती है। इस पर ईर्ष्या-कषायित-हृदया राधा मान धारण कर लेती है। जब कृष्ण को इस बात का पता चलता है तो वे ग्रन्थ गोपियों का साथ छोड़कर राधा का विरह अनुभव करते हुए यमुना तट के एक कुञ्ज में राधा की याद करने लगते हैं तथा राधा के पास एक दूती (सखी) भेजते हैं जो राधा को कृष्ण की विरह-वेदना की सूचना देती है। राधा की सखी भी कृष्ण के पास जाकर राधा की विरहावस्था का वर्णन करती है और कृष्ण को उससे मिलने के लिए प्रेरित करती है। इसी समय चन्द्रमा उदित हो जाता है और कृष्ण के भ्रान्ति में विलम्ब जान कर राधा पुनः मानिनी बन जाती है। कृष्ण भ्रान्त हैं और मान-मोचन का प्रयास करते हैं किन्तु राधा नहीं मानती। कृष्ण चले जाते हैं, सखी राधा को समझाती है और अभिसार की सलाह देती है। राधा का प्रसाधन होता है। इसके पश्चात् राधा के अभिलाष का वर्णन है। कृष्ण की उत्कण्ठा का वर्णन करके सखी राधा को अभिसाराद्य शीघ्रता करने के लिए कहती है। अभिसार सम्पन्न होता है। इसके बाद में कृष्ण की रतिश्रान्ति और राधा की कृष्ण से पुनः प्रसाधन की प्रार्थना का वर्णन कर गीतगोविन्द की प्रशंसा के साथ कवि अपनी कृति को समाप्त करता है।

गीतगोविन्द के इस कथानक से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि ने राधा-कृष्ण की रास-लीला का ही वर्णन किया है। ग्रन्थ लीलाधरों की अपेक्षा कृष्ण चरित की यही विशेषता जयदेव जैसे रसिक कवि को जिसका उद्देश्य सहृदयों के विलासकला-कुतूहल को भी शान्त करना था, अधिक आकृष्ट कर सकती थी। श्रीमद्भागवत के रास से गीत गोविन्द के रास में मौलिक भेद यह है कि भागवत का रास शरद्-रास^१ है और गीत गोविन्द का वसन्त रास।^२ भागवत की गोपियाँ कृष्ण का वेणुगीत सुनकर मन्त्र-मुग्ध हो सब कुछ छोड़ कर यमुना तट पर उनके पास पहुँचती हैं। कृष्ण उन्हें समझाते हैं और पतिव्रता-धर्म का उपदेश देते हुए घर लौट जाने के लिए कहते हैं, किन्तु जब वे अपने प्रकार से अपनी भक्ति की दुहाई देती हुई प्रार्थना करती हैं।^३ तो दयादर्त होकर योगेश्वर आत्माराम श्री कृष्ण उनके साथ रमण करते हैं।^४ रास के

१. श्री मद्भागवत, ११।५।३८-४०.

२. मगलानि ता रात्रीः शरदोऽफुल्लमल्लिकाः।

वीक्ष्य रन्तुं मन्त्रस्थके योगमायासुप्राभितः (भागवत, १० पू०, २६-२७।

३. विहरति हरिश्चि सरसवन्ते, गीत गोविन्द प्रबन्ध १।

४. श्रीमद्भागवत १० पू०-२६-३१।

५. प्रबन्ध सव्यं गोपीरत्नागामोऽप्यरीरमः, भागवत, १०-२६-४२।

इस पूर्व-प्रसंग का समावेश गीतगोविन्द में नहीं है। भागवत के रास का स्थान कुमुदामोदवायु यमुना का पुलिन^१ है किन्तु गीतगोविन्द का लवङ्गगन्ध से कोमल मलय-समीर वाला कोकिल-कूजित-कुञ्ज-कुटीर कानन^२ ।

कृष्ण को अपने साथ रास-रत देखकर भागवत की गोपियों के मन में अभिमान का संचार हो जाता है जिसके व्योह के लिए कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। वियोगिनी गोपियाँ रोती-बिसूरती उन्हें खोजती हैं और उनकी लीलाओं का स्मरण एवं निरूपण करती हैं। लता-वृक्षों से कृष्ण को पृथ्वी हुई वे वन में किसी विशेष गोपिका की पद-पंक्ति कृष्ण के पद-चिन्हों के साथ देखती हैं और उसके सौभाग्य को सराहती हैं, किन्तु जिस गोपी के साथ कृष्ण अन्तर्हित हुए थे वह भी कुछ दूर जाकर सौभाग्यमय के कारण कृष्ण से कहती है कि मैं चलने में असमर्थ हूँ, आप जहाँ चाहे मुझे स्वयं ले चले। इस पर कृष्ण उसे भी छोड़कर अन्तर्हित हो जाते हैं। कृष्ण को खोजती हुई गोपियाँ अपनी इस सखी को वियोगा-वस्था में वन में भटकती पाती हैं और सब मिलकर कृष्ण का गुन-गान करती हैं जिससे कृष्ण फिर प्रकट होकर रास करते हैं। भागवत में विशिष्ट गोपी की, जिसके साथ कृष्ण अन्तर्हित हुए थे और जिसका भागवत में कोई नाम नहीं दिया गया है, जो स्थिति है लगभग वही गीतगोविन्द में राधा की है। गीतगोविन्द में राधा की सखी उसे अन्य गोपियों के साथ रामासवत कृष्ण को दूर से दिखाती है जिससे राधा मानिनी बन कर सखी को कृष्ण के पास भेजती है। इसके बाद कृष्ण रास छोड़कर चले जाते हैं। यद्यपि गीतकार ने कृष्ण के रास छोड़ने का कोई कारण नहीं बताया है तथा वानीरकुञ्ज में उन्मत्तस्क बैठे हुए कृष्ण का उल्लेख^३ यह संकेत करता है कि वे राधा के रोप के कारण ही रास छोड़कर चले गए हैं। इस प्रकार कृष्ण के रास छोड़ जाने के कारण भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर गोपियों की जो दशा हुई उसका भागवत में विस्तृत वर्णन है किन्तु गीतगोविन्द में इस घटना के पदचात् गोपियों का कोई उल्लेख नहीं, केवल राधाकृष्ण ही रगमञ्च पर रह जाते हैं। भागवत में पुनः प्रवृत्त रास में सभी गोपियाँ भाग लेती हैं किन्तु गीत-गोविन्द में केवल राधाकृष्ण की ही केलियाँ चलती हैं। इस प्रकार गीतगोविन्द का घटना-चक्र भागवत के घटना-चक्र से सर्वथा भिन्न है। दोनों का पृष्ठभूमि में भी पर्याप्त अन्तर है। सबसे बड़ा अन्तर भावना अथवा दृष्टिकोण का है। भागवत का रास आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से नीचे नहीं उतरता। गोपियाँ कृष्ण की सर्वान्तर्धामिता ईश्वरता और प्रलीकता को आद्यन्त दृष्टि में रखती हैं।^४ और कृष्ण अनासक्त रूप में रास में प्रवृत्त होते हैं क्योंकि गोपियाँ उनकी छाया ही तो हैं।^५ स्वयं गोपियाँ भी

१. भागवत, १०-२२-४५ ।

२. गीत गोविन्द संग ४, प्रबन्ध ३ ।

३. वही ३-१ ।

४. भागवत, १० पृ० २६-४१ ।

५. रेमे रमेशो मल्लन्दरीमिर्यथामैकः । स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः । श्रीमद्भागवत १०।३३।१७

देहाभिमान बोध से ऊपर उठी हुई है।^१ रास-वर्णन में शृंगारिक चेष्टाओं का भी संयत वर्णन है। गीतगोविन्द में भी यद्यपि प्रत्येक प्रबन्ध के अन्त में कवि ने अपने नामोल्लेख के साथ हरि-स्मरण की याद भी दुहराई है किन्तु उद्दाम शृंगारिक चेष्टाओं और मुरत-भ्यापारों की प्रचुरता को देखते हुए यह सब कुछ नगण्य है। भागवत के कृष्ण गोपियों में अभिमान को झलक पाते ही उनकी उपेक्षा कर अन्तर्धान हो जाते हैं। जिस विशिष्ट कृपापात्र गोपी के साथ वे अन्तर्हित होते हैं उसे भी, जब सोमाग्य-मदाविष्ट पाते हैं, छोड़ जाते हैं। इस विशिष्ट गोपी के वियोग की भी कोई प्रतिक्रिया उनके हृदय पर नहीं होती क्योंकि वे वास्तव में ध्यात्माराम हैं। पश्चात्ताप के रूप में प्रायश्चित्त कर लेने पर ही गोपियाँ पुनः कृष्ण के दर्शन पा सकी। किन्तु गीतगोविन्द के कृष्ण पर राधा के मान की जबदस्त प्रतिक्रिया होती है। वे रास छोड़ देते हैं, राधिका के पास दूती भेजते हैं, उसके विरह में अत्यन्त दुखी होते हैं और स्वयं उसे मनाने जाते हैं। ये सब तत्त्व इसी बात की पुष्टि करते हैं कि भागवत के कृष्ण अलौकिक पुरुष हैं और गीतगोविन्द के कृष्ण लौकिक नायक। अर्थात् जयदेव का दृष्टिकोण प्रधानतः शृंगारी है। सूक्ष्म कथानक के लघु-सूत्र में नायिका के अनेक प्रकारों का चित्रण, प्रणय के विविध पक्षों में प्रमाणानुसार उद्भूत होने वाली भावनाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, कृष्ण द्वारा राधा के मान-मोचन-प्रयास आदि 'विलास-कथा' के ही आकर्षण को प्रमाणित करते हैं।

भागवत और गीतगोविन्द के रास-वर्णन में कही-कही कुछ साम्य भी दिखायी देता है यथा—

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरभिभ्रता ।

उन्निग्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ।^२ भागवत १०-३३-१०॥

करतल-ताल-तरल-बलयावलि-कमित-कल-स्वन-वंशे ।

रास-रसे सह नृत्यपरा हरिणा सुवतिः प्रशशंसे ।^३ गीतगोविन्द १-४-७॥

तत्रकांसगतं ब्राह्मं कृष्णस्योत्पल-सौरभम् ।

चन्दनलिप्तमाध्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ।^४ भागवत १०-३३-१२॥

कापि कपोततले निलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले ।

चाव चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले ।^५ गीतगोविन्द १-४-५॥

१. शरदकौमुदस्तापान भूषणामुहुरीरितम् ।

देहाभिमानं बोधं मुकुन्दो अजयोक्षिताम् ॥ वहाँ २०/२१/४०

२. कोई मुकुन्द के साथ स्पष्ट स्वर में उसके साधुवाद से सम्मानित होकर गान करता था ।

३. हरि करतलों से ताल देने में बचल बलियों से मुखरित रास के आनन्द में नाचती हुई युवती को प्रशंसा करते थे ।

४. उनमें से एक ने अपने कंधे पर रखी हुई कृष्ण की कमलगन्ध चन्दन-लिप्त बाहु को चूम लिया ।

५. किसी गोपी ने कान में कुछ कहने के बहाने पुलकित होकर प्रियतम के कपोल को चूम लिया ।

नृत्यन्ती गायतो काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।

पाश्वर्स्थाब्धुतहस्ताब्जं ध्वान्ताघास्तनयोः शिवम्^१॥ भागवत, १०-३३-१४१।

पीन-पयोधर-भारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम् ।

गोपवधूरनुयावति काचिद्वदञ्चितपञ्चमरागम्^२॥ गीतगोविन्द १-४-३॥

सम्भव है जयदेव ने श्रीमद्भागवत को देखा हो और उससे कुछ प्रभावित भी हुए हों किन्तु प्रतिपादित भेद को देखते हुए केवल इस साम्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि जयदेव ने रास वर्णन के लिए पूरा कथानक भागवत से ग्रहण किया। स्पष्ट है कि उत्तरी भारत में लीलागान की कोई स्वतन्त्र परम्परा रही होगी। इस विषय में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—‘सम्भवतः १० वीं ११ वीं शताब्दी में भागवत परम्परा से भिन्न भी कोई लीला गान की शास्त्रीय परम्परा थी। जयदेव का गीतगोविन्द पूर्णरूप में भागवत परम्परा का ग्रन्थ नहीं है।’^३ डा० एस० के० डे० ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं^४। संक्षेप में भागवत और गीत गोविन्द के लीलागान की तुलना में हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१— भागवत में आध्यात्मिकता का स्वर प्रबल है और गीतगोविन्द में लौकिकता का।

२— जयदेव की कृति का आधार भागवत-परम्परा से भिन्न लीला-गान-परम्परा है जिस से जयदेव ने अपनी विषय ग्रहण किया और उसे अपनी प्रतिभा के बल पर अधिकाधिक काव्योपयोगी बना लिया। शायद भागवत में भी वे कुछ प्रभावित हुए हों।

३— राधा-पात्र की मृष्टि में पौराणिकों का उद्देश्य चाहे जो कुछ रहा हो किन्तु जयदेव ने प्रथम बार उसे प्रेम की प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित किया। भारतीय गीतिकाव्य की सबसे बड़ी देन है ‘राधा’, और उसे साहित्यिक रमञ्ज पर सर्वप्रथम उतारने वाले कवि है जयदेव।

जयदेव के विशद शृंगार-वर्णन को देख कर भले ही कुछ लोग उसमें असलीलता अथवा भद्देपन (वल्गर एलिमेण्ट्स^५) का अनुभव करें किन्तु उसका एक सामयिक सामाजिक महत्त्व भी है। जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों से स्पष्ट है, शृंगार-सुरा के व्यसनी समाज की चिकित्सा आवश्यक थी जिसका श्री गणेश जयदेव ने बड़ी कुशलता के साथ किया। शृंगार के आसब में थोड़ी सी

१. नाचती गायी किसी गोपी ने, जिसका मेखला और नूपुर बज रहे थे, पास में ही स्थित कृष्ण के हस्तकमल को धक्कर अपने कुर्ची पर रख लिया।

२. कोई-कोई गोपवधू सानुराग अपने पीन पयोधरों से कृष्ण का आलिङ्गन कर पञ्चम स्वर से अनुगान करती थी।

३. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १३७।

४. एस० एन० दास गुप्त एड्ड एस० के० डे० हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३१०।

५. दी स्ट्रिंगल फार दम्पायर, पृष्ठ ४३३।

भक्तिरस की मात्रा मिलाकर उन्होंने कम से कम उसके प्रभाव को हलका कर देने की पद्धति को प्रागे बढ़ाया : समाज से दुरी तरह चिमटी हुई इस भावना के उन्नयन का हमसे घट्टा कोई अन्य उपाय हो भी क्या सकता था ?

शृङ्गार-वर्णन

निःसन्देह शृङ्गारिक वर्णन तथा अन्य साहित्यिक कारणों की दृष्टि से गीत गोविन्द का महत्त्व और भी अधिक है। जयदेव को अपने समय में प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं का पूरा-पूरा ज्ञान था। काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का उन्होंने अध्ययन किया था और शृङ्गार के रसराजत्व से वे भली-भाँति परिचित थे। गीतिकाव्य की जो दो प्रमुख धाराएँ—शृङ्गारिक और धार्मिक—बहुत दूर से समानान्तर चली आ रही थीं, उन दोनों का रस मिलाकर जनता को आश्चर्य कराने की ओर तो कवियों की प्रवृत्ति गायसप्तशती के ही समय से चली आ रही थी। समय की आवश्यकता के अनुसार जयदेव ने उन दोनों धाराओं को जोड़कर एक स्थान पर मिला दिया और ऐसा मिलाया कि विवेकी विद्वद्‌हस भी इस नीर-क्षीर को भलग करने में असमर्थ रहे। इतना ही नहीं, इस नवीन धारा में उन्होंने काव्य-शास्त्रीय नायिका-भेद का संमिश्रण भी कर दिया जिसका स्रोत ऐसी रचनाओं में कहीं कहीं हलकी झलक दिखाता हुआ बह रहा था। इस प्रकार जयदेव ने प्रथम बार उन सब तत्त्वों को भक्ति के क्षेत्र में एकत्र सन्निविष्ट किया जो विशेषतया गौडीय वैष्णवों की परम्परा में पृथक् नायिका-भेद की सृष्टि के कारण बने और सामान्यतया उत्तरकालीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करते हुए अन्त में क्रमशः क्षीणशक्ति होकर रीतिकालीन कवियों की राधा-कृष्ण विधयक उक्तियों में विलीन हो गए। विविध प्रसंगों और परिस्थितियों की कल्पना कर उन्होंने राधा को विभिन्न प्रकार की नायिकाओं की भूमिका में प्रस्तुत किया है। उदाहरण लीजिए—

१ उत्कण्ठिता

सखि हे केशीमधनमुधारम् ।

रमया मया सह सदनमनोरथभावितया सविकारम्^१ ॥ गीत गोविन्द ५ ॥

२. प्रोषितपतिका

निम्बति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति स्नेहमधोरम् ।

व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम् ॥

माधव मनसिजविद्विषमयाविष भावनया त्वयि लीना ।

सा बिरहे तव दीना^२ ॥ गीत गो० ६ ॥

१. सखि ! केशी-संसारक उदार कृष्ण से मेरा मिलन कराओ। मैं काम से पीड़ित हूँ।

२. हे माधव ! वह तुम्हारे बिरह में अत्यन्त दीन हो गयी है, चन्दन और चन्द्रकिरणों की निन्दा करती है। मलयानिल को सर्प-निलय के सर्पों के कारण गरलजुल्य समझती है और काम के कारणों से भवभीत सी भावना से तुम में लीन है।

३. वासक सज्जा

नाथ हरे ! सीधति राधाऽऽवास गृहे ।
 विहितविग्रहवित्तकिसलय वलया ।
 जीवति परमिह तव रतिकलया ॥ नाथ हरे० ४ ॥
 मुहुरबलोकितमण्डनशीला ।
 मधुरिपुरहमिति भावनशीला ॥ नाथ हरे० ५ ॥

यही वासकसज्जा विप्रलब्धा बनकर विलाप भी करती है—

भवति विलम्बनि विगलितलज्जा ।
 विलपति रोदिति वासकसज्जा ॥ नाथ हरे० ॥ ७ ॥

४. विप्रलब्धा

कवित्तमयेऽपि हरिरह न ययौ वनम् ।
 मम विफलमिदमसरूपमपि योवनम् ।
 यामि हे कमिह शरणं सखीजनबचनवञ्छिता ।
 तत्किं कामपि कामिनोमभिरुतः किं वा कलाकेलिभि-
 र्बन्धो बन्धुनिरन्धकारिणि वनाभ्यर्णो किमुवधाम्यति ।^१
 कान्तः कान्तमना मनागपि पथि प्रस्थातुमेवाक्षमः ।
 सङ्कुतीकृतमञ्जुबञ्जुललताकुञ्जेऽपि यन्नागतः ॥ गीत गो० १३ ॥

५. खण्डिता

रजनिजनितगुरुबागररागकथायितमलसनिवेशम् ।
 बहति नयनमनुरागमिव स्फुटमुवितरसाभिनिवेशम् ।
 हरि हरि याहि माधव ! याहि केशव ! मा वद कंसवबाधम् ।
 तामनुसर सरसीरहलोचन ! या तव हरति विवादम्^२ ॥ गीत गो० १७ ॥
 तवेदं पश्यन्त्याः प्रसरदनुरागं बहिरिव ।
 प्रियापादालवतच्छुरितमरणछोति हृवयम् ।
 ममाद्य प्रख्यात-प्रणयभर-भङ्गेन कितव !
 त्वबासोकः शोकादपि किमपि सज्जां जनयति ।

१. हे कृष्ण राधा आवासगृह में दुःख पा रही है । मुन्हाल के बलय धारण कर अलंकृत हुई वह तुम्हारे ध्यान में मग्न है और तुम्हारी रतिकला (की आशा) से ही जीवित है ।

२. बताये हुए समय पर भी कृष्ण नहीं आये । मेरा निर्मल रूप और यौवन व्यर्थ है । सखी जन के बन्धनों से ठगरी हुई मैं किसकी शरण जाऊँ ? इस वेतसकुञ्ज में वे नहीं आये । क्या कहीं अन्यत्र अभिसार किया ? क्या बन्धुओं ने बाँध लिया ? अंधेरे वन में मटक गये या शकाव के कारण न भये ।

३. तुम्हारी आँखें रात भर जागने के कारण रक्तवर्ण तथा अस्तार्ण हुई हैं । वे स्पष्ट अनुराग धारण किये हैं । माधव ! हटो, जाओ, बाँधे मत बनाओ । उसी का अनुसरण करो जो तुम्हारा विषाद हरती है ।

६. कलहान्तरिता

तामस ममयस्त्रिन्ता रत्निरसभिन्ना विभावसंपन्नाम् ।

अनुचिन्तिहरिचरिता कलहान्तरितामुवाच रहसि सखी ॥ गीत० ६११ श्लोक ॥

७. अभिसारिका

मुग्धे मधुमधनमनुयतमनुसर रात्रिके !

घन-जघनस्तनभारभरे ! दरमन्धरचरणविहारम् ।

मुक्षरितमणिमञ्जोरमुपहि विबेहि मरालनिकारम् ।

×

×

×

अघिगतमलिलसखीभिरिव तव वपुर्वि रतिरणसम्पन्नम् ।

चण्डि ! रतितरङ्गनारव द्विण्डिममभिसर सरसमलज्जम् ॥ मुग्धे ३ ॥ ६ ॥

८. स्वाधीन-पतिका

कुच यदुनन्दन ! चन्दनशिशिरतरेज करेण पयोधरे ।

मृगमदपत्रकमत्र मनोभव-मङ्गलकलस-सहोदरे ॥ १ ॥

निजगाढ सा यदुनन्दने क्रीडति हृदयानन्दने ॥ ध्रुवपदम् ॥

×

×

×

रचय कुचयोश्चित्रं पत्रं कुक्ष्य कपोतयो-

घृतय जघने काञ्ची मुग्धस्त्रजा कवरीभरम् ।

कलय वलयश्रेणी पाणी पदे मज्जिनुरा-

चिति निगदितः प्रीतः पीताम्बरोऽपि तथाकरोत् ।

चूल्हार के संयोग और विप्रलम्भ, दोनों पक्षों की विविध अवान्तर्दशाओं और व्यापारों का चित्रण जयदेव ने किया है । गीत गोविन्द का प्रारम्भ ही वसन्त ऋतु के वर्णन से हुआ है जिसे भारतीय कवि समुदाय बहुत पहले से संयोगियों के लिये वरदान और वियोगियों के लिए अभिशाप के रूप में चित्रित करता आया है । जयदेव ने भी परम्परा के ही अनुसार वसन्त के प्रभाव का वर्णन किया है । एक ओर तो वासन्तीनुसुमसुकुमारा घयवा राधा कन्दर्पग्वरजनित चिन्ता से धाकुल है और दूसरी ओर ललितललङ्कारताम्रों का स्पर्श करने वाले मन्द मलय समीर से युक्त तथा मधुकर निकर एवं कोकिलकूजित कुटीर में कृष्ण का व्रजयुवतियों के साथ विहार चल रहा है । कृष्ण के लिये यह वसन्त सचमुच सरस है—

विहरति हरिरिह सरसवसन्ते ।

किन्तु बिरही जन के लिये तो वसन्त दुरन्त ही है—

नृपति युवतिजनेन समं सखि बिरहिजनस्य दुरन्ते ।

दुरन्तता का कारण यह है कि केवड़े की गन्ध वाला वायु ईषद्विकसित मल्लिका के पराग रूपी पटवास से बनों को सुवासित करता हुआ हृदय को जलाया करता है प्रवासी चोग मधु गन्ध के लोभी भीरों से हिलाई हुई आकाशमन्वरी पर

झीझा करती हुई कोयलो को काली से कणज्वर उत्पन्न करने वाले दिनो को प्रियतमा के ध्यानगम्य समागम के रस से जैसे तैसे बिताते हैं ।

वरविदलितमल्लीवल्लिचञ्चत्पराग—

प्रकटितपटवासैर्वासयन काननानि ।

इह हि बहति चेत केतकीगन्धबन्धु

प्रसरदसमबाणप्राणवदगन्धवाह ॥

उन्मीलगन्धगन्धलुब्धमधुपण्याधूतचूताङ्कुर-

श्रीदत्कोकिलकाकलीकलरवदगीणकणज्वरा ।

नोयन्ते पथिकं कथ कथमपि ध्यानावधानक्षण

प्राप्तप्राणसमासमागमसोल्लासरमी वासरा ॥

माधवी एव मल्लिका वं परिमल से ललित वसन्त मुनियो के मन पर भी मोहनी बाल देता है । (प्रयमियो को अनायास रत्यनुकूल करने के कारण) यह तरुणजनों का अकारण बंधु है—

माधविकापरिमलललिते नवमालिकयातिसुगन्धौ,

मुनिमनमामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ।

इसी वसन्त का प्रभाव है कि मुखवधूण भी प्रीटा समान रमण करती है—

हरिरिह मुखवधूनिकर विलासिनि विलसति केलिपर ।

पीनपयोधरभारभरण हरि परिरभ्य सरागम ।

गोपवधूरनुगायति कान्तिवदञ्चितपञ्चमरागम ॥ ३ ॥

कापिविलासविलोलविलोचनखेलनजनितमनोजम ।

ध्यायति मुखवधूरधिक मधुसूदनवदनसरोजम ॥ ४ ॥

कापि कपोलतले मिलिता सपितु किमपि धृतिभूले ।

चाह बुबुब्ब नितम्बवती दयित पुलकैरनुकूले^१ ॥ ५ ॥

गीतगोविन्द का वसन्तवर्णन सयोग शृङ्गार की झीझाओं के चित्रण की पृष्ठ-भूमि है । वसन्त वर्णन ही नहीं जयदेव का सारा ही प्रकृतिचित्रण शृङ्गार के उददीपन की दृष्टि से चित्रित हुआ है । इसकीसर्वे प्रबन्ध में अभिसारिका राधा को सकेतकुञ्ज में प्रविष्ट होने के लिये प्रेरित करती हुई सखी के द्वारा कुञ्ज का वर्णन देखिए—

मञ्जुतरकुञ्जतलकेलिसदने ।

विलसरतिरभसहसितयदने ।

मुदुचलमसयपथनसुरभिजीते ।

विलस मदन-शर निकरभीते ।

विलसबहुबलिनवपल्लवधने ।
विलस विरमलसपीनजधने ।
मधुमुदितमधुपकुलकलितरावे ।
विलस कुसुमशरसरसभावे ।
मधुरतरपिकनिकरनिनवमुखरे ।
विलस वशनरुचिरुचिरशिखरे ।

प्रकृति का यह चित्रण नायक-नायिका का उद्दाम शृंगार-क्रीडाओं की भूमिकामात्र है। नायिका के तन्पारोहण से लेकर सुरतविमर्दविगलित प्रसाधन के पुनः प्रसाधित करने तक के व्यापारों का वर्णन जयदेव ने बड़ी रुचि के साथ किया है जिस पर पूर्ववर्ती शृंगारिक कवियों का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है। उदाहरण लीजिए—

त्वं मुग्धाक्षि ! विनैव कञ्चुकिका घत्से मनोहारिणीम् ।
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्दीप्तिकासंस्पर्शि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्तमानन्दितो ।
निर्यातः शनैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ध्रुवरुक् २७ ॥

‘अग्रि मुग्धाक्षि ! इस कञ्चुकिका के बिना ही तुम मनोहर छवि धारण करती हो’ यह कहते हुये ज्यों ही प्रिय ने कञ्चुकी की ग्रन्थि का स्पर्श किया त्योंही शय्या के छोर पर बैठी हुई नायिका की आँखों में भरे हर्ष से आनन्दित सखी-वर्ग घीरे से झूठे-सच्चे बहाने बनाकर खिसक गया।

ध्रुवरुक् के इस श्लोक का उत्तरार्ध जयदेव के निम्नलिखित श्लोक के पूर्वाध में व्याप्त है—

भजन्यास्तत्पान्तं कृतकपटकश्रुतिपिहित-
स्मितं पाते गेहाद्बहिरवहितालीपरिजनेः ।
प्रियास्थं पदयन्त्याः स्मरपरवशाकृतसुभगं
सलज्जा लज्जापि व्यगमदिव दूरं मृगदशः ॥ गीत गो० सर्ग ११ ॥

झूठी खजलाहट से अपनी मुसकान को छिपाती हुई, शयन के एक ओर बैठी प्रेयसी की सावधान सखियाँ एवं परिजन घर से बाहर निकल गये तो काम-बशा प्रिय के मुख को सामिप्राय देखती हुई उस मृगनयनी की लज्जा भी मानीं सजाकर दूर खिसक गयी।

1. स्ति के नेग से सस्मित मुख वाली ! सुन्दर कुन्जों के केलिगृह में विलास कर । काम के शरों से अयसीत ! कोमल मन्द और ज्वल मलवपवन से सुगन्धित एवं शीतल कुन्जगृह में आनन्द योग । अलसित और पुष्ट जङ्घाओं वाली ! फैली हुई अनेकानेक लताओं के किसलयों से सज्जन केलिकुन्ज में विलास कर । आदि ।

और उत्तरार्धं अमरक के एक दूसरे श्लोक से प्रभावित प्रतीत होता है—

मुप्तोऽयं सखि मुप्यतामिति गताः सख्यस्ततोऽनन्तरं
प्रेमावेशितया मया सरलया न्यस्तं मुखे तन्मुखे ।
ज्ञातोऽलीकनिमीलने नयनयोर्धूतस्य रोमाञ्चतो
लज्जासौन्मम तेन साप्यपहृता तत्कालधोर्म्यं कर्मः । अमरक ३७ ।

‘सखि यह सो गया है, तू भी सो जा’ कह कर जब सखियां चली गयीं तो मैंने प्रेम के आवेश में अपना मुख सीधे-स्वभाव प्रिय के मुख पर रख दिया किन्तु इस धूर्त के रोमाञ्च से उसके झूठे ही नयन मूंद लेने का भेद खुला तो मुझे लज्जा आ गयी किन्तु उसने समयोचित व्यापारों से उसे भी हर लिया ।

जयदेव ने मनुष्य की धन्यता का मानदण्ड यह माना है—

ईधन्मीलितदृष्टिमुग्धचित्तसत्सोत्कारधारावशा-
व्यक्तकालकेलिकाकविकसहस्रान्तंशुधोताधरम् ।
शान्तस्तब्धपयोधरं भृशपरिष्वङ्गात्कुरङ्गीदृशो
हर्षोत्कर्षवियुक्तनिःसहतनोर्धन्यो धयत्याननम् ॥ गीत गो० सर्ग १२

वह पुरुष धन्य है जो गाढ प्रालिप्तन के कारण शान्त एवं स्तब्ध उरोजों वाली तथा हर्ष के आधिक्य से विधिलित शरीर वाली मृगनयनी के कुछ-कुछ मुंदीसी आँखों और सीत्कार की परम्परा एवं प्राकुल केनियों के कारण फँसती हुई दन्तकान्ति से अलंकृत अधर वाले मुख का पान करता है ।

उरसि निपतितानां अस्तबन्ध्मिलकानां ।

मुकुलितनयनानां किंवदुन्मीलितानाम् ।

उपरि सुरतखेदस्विन्नगण्डस्थलीनाम् ।

अधरमधु धवनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ।^१

जयदेव की इस चुम्बन-चतुर नायिका को भी देखिये—

कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिश्रुले ।

चारु च्चुम्ब नितम्बवतो वयितं पुष्करनुकूलं^२ ।

अमरक का नायक भी ऐसा ही है जिसकी शिकायत नायिका अपनी सखी से कर रही है—

अहं सेनातृता किमपि कवयामीति विजने ।

समीपे चासीना सरसहृदयत्वावबहिता ।

ततः कर्णोपान्ते किमपि ववताप्राय ववनं ।

तूहीता धन्मिल्ले स च मया गाढमधरे^३ ।

१. शतक त्रयादि सुभाषित, पृष्ठ ४८ ।

२. गीतगोविन्द प्रबन्ध ४ ।

३. अमरक ६८ ।

‘तुम्हें एकान्त में कुछ कहना है’ यह कह कर प्रिय ने मुझे बुलाया और मैं बड़े ध्यान के साथ पास बैठ कर सुनने लगी, तब कान के समीप कुछ कहते हुए उन्होंने मेरा मुख धूम बिया और केश पकड़ लिये तब मैंने भी कसकर उनका धरर पकड़ा लिया ।

भालिगन-धुम्बन का ही चित्रण करके जयदेव तृप्त न हो सके । विपरीत रति का भी उन्होंने खलकर चित्रण किया है । एक बार नहीं तीन-तीन बार—

उरसिमुरारे इषहितहारे धन इव तरलबलाके ।

तद्विधिव पोते रतिविपरीते राजसि मुकूतचिपाके ।¹

पुण्यशालिनि ! चंचल वक-पक्ति से युक्त मेघ के समान मुक्ताहार से शोभित कृष्ण के वक्षस्थल पर विपरीत सुरत के समय, तुम बिद्युत् के समान शोभा पायी हो ।

स्मरसमरोचितधिरचितवेशा ।

गलितकुसुमदरविलुलितकेशा ।

कापि मधुरिपुणा विलसति युवतिरधिकगुणा ॥ १ ॥

हरिपरिरम्भणवलितविकारा ।

कुचकलशोषरितरसितहारा ॥ २ ॥

बिचलवलकललिताननचन्द्रा ।

तदधरपानरभसकृततन्द्रा ॥ ३ ॥

चञ्चलकुण्डलवलितकपोला ।

मुखरितरसनजघनगतिलोला ॥ ४ ॥

दयितविलोकितलज्जितहसिता ।

बहुविधकूजितरतिरसरसिता ॥ ५ ॥

विपुलपुलकपृष्णवेपथुभङ्गा ।

श्वसितनिमीलितविकसवनङ्गा ॥ ६ ॥

भ्रमजलकणभरसुभगशरीरा ।

परिपतितोरसि रतिरणधोरा ॥² ७ ॥

कोई उत्तमगुणशालिनी युवति स्मर-समय के योग्य वेष धारण कर मधुरिपु के साथ विलास कर रही है । उसका केश-पाश शिथिल हो गया है जिसमें बुंधे हुए पुष्प गिर गये हैं । हरि के भालिगन से उसका काम-विकार उदीप्त हो गया है । कुच रूपी कलशों पर पड़ा हुआ हार चंचल हो उठा है । भ्रमकों के खिसक जाने से उसका मुखचन्द्र और भी शोभित हो रहा है और वह प्रिय के धर-मधु के नखे में डूबी सी जा रही है । चपल कुण्डलों के प्राधात से उसके कपोल पिसे जा रहे

1. गीत गोविन्द प्रकम्भ ११ ।

2. वही ,, १५ ।

हैं। प्रिय दृष्टि मिलने पर वह लजाती हुई मुसका देती है। सुरत-जन्य विविध रसितों (ध्वनियों) से वह मुन्नरित है। उसका शरीर रोमाञ्चित और कम्प से युक्त है, सांस फूल रहा है। आँखें मूँदी जा रही हैं। काम बढ़ रहा है, शरीर पसीने से लथपथ है और लो रति-रण में डटकर सामना करने वाली वह युवती प्रिय के स्तर पर गिर पड़ी।

बोभ्यां संयमितः पयोधरभरेणापीडितः पाजिर्ज-

राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः शोषीतटेनाहतः।

हस्तेनानमितः कचेऽधरमधुस्पन्देन संमोहितः।

कान्तः कामपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गतिः।

भुजाओं में बाँधा हुआ, पयोधर-भार से पीडित, नखों से आविद्ध, विक्षत-अधर पुट, जघन-प्रदेश से आहत और हाथ से कच-ग्रहपूर्वक भुकाकर अधरमधु के प्रभाव से सम्मोहित प्रिय ने अद्भुत तृप्ति का अनुभव किया। आश्चर्य! काम की गति कैसी उल्टी होती है?

वामाङ्गे रतिकेलिसंकुलरजारम्भे तथा साहस-

प्रायं कान्तजयाम किञ्चिदुपरि प्रारम्भि यस्यध्रमात्।

निष्पन्वा जघनस्थली शिथिलिता दोर्बलितरुक्कम्पितं।

वक्षो मीलितमक्षि पोरुधरसः स्त्रीणां कुतः सिद्ध्यति।

रति केलियों से व्याप्त सुरत-समर आरम्भ होने पर उसने प्रियतम को जीतने के उद्देश्य से प्रचानक ऊपर धाकर जो साहसिक कार्य किया उससे उसका जघन-स्थल निस्पन्द हो गया, भुजलताएँ शिथिल हो गयीं, (सांस फूलने से) वक्ष कौपने लगा और आँखें बन्द सी हो चलीं। भला स्त्रियों में पुरुषार्थ कहाँ सिद्ध हो सकता है?

उपर्युक्त उदाहरण गीत गोविन्द की शृंगाररसनिर्भरता का परिचय देने के लिये पर्याप्त है। इन्हें एक आध ही स्थान पर 'हरि' का नाम जोड़ देने से भक्ति-परक नहीं माना जा सकता। समूचा वर्णन साधारण नायक-नायिका-परक ही सिद्ध होता है। गीत गोविन्द के कथावस्तु से अलग करके देखने पर तो ये तथा अन्य ऐसे ही पद सामान्यतया भ्रमरुक जैसे शृंगारी कवियों की रचना से टक्कर लेते दिखाई देते हैं और कथानक के प्रसंग में भी भक्ति की अपेक्षा शृंगार रस के प्राधान्य की ही धारणा को पुष्ट करते हैं जिससे यह सशय होने लगता है कि हिन्दी के रीतिकालीन कवियों का 'राधिका कन्हौई सुमिरन को बहानो' कहीं इन्हीं से तो प्रोत्साहित न हुआ हो। प्रेम का वैसा ही विलासमय आदर्श जयदेव के इस श्लोक में देख लीजिए—

प्राप्तलोपावनं बुम्भनावन् नक्षोत्तेसावनं स्वान्तज—

प्रोद्बोधावनं संभ्रमावनं रतारम्भावनं प्रीतयोः।

अन्याथं गतयोर्ध्वं भान्मिलितयोः संभाव्येर्जानतो-

दम्पत्योरिह को न को न तमसि ब्रीडाविमिश्रो रसः ॥

‘अन्य नायिका तथा नायक से समागम के प्रयोजन से (अलग-अलग) गये हुए पति-पत्नी अंधरे में (संयोग से) भ्रमवश (एक दूसरे को वही समझते हुए जिस के लिए गए थे) मिल गए और क्रमशः आलिंगन, चुम्बन, नखोत्प्लेख, कामोद्दीपन और मुरत-आरम्भ से प्रसन्न होते हुए जब वार्तालाप से एक दूसरे को पहिचान गए तो उनका मुरत रस अकथनीय लज्जा से परिपूर्ण था ।’

यह श्लोक लीलागान से अकस्मात् ही कुछ विषयान्तरित कवि की सामान्य उक्ति नहीं है अपितु ‘पूरोत्पीडे तडागस्य परोवाहः प्रतिक्रिया’ के अनुसार उसके मानस का स्वाभाविक उद्गार है जो उसके भावजगत् को अनेक आवरणों से बाहर लाकर स्वाभाविक रूप से सामने रख देता है ।

विरह की अनेक दशाओं, शृंगार के अन्तर्गत अनेक सञ्चारियों और कामशास्त्रीय ढंग की रतिकेलियों, कचग्रह, चुम्बन, नखच्छद, रदच्छद, वस्त्रपरिवर्तन आदि के चित्रण और मान मनाव, दूती-संप्रयोग आदि बातें शृंगार की मुक्त परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं । उदाहरण लीजिए—

अमिलाष

सखि हे केशीमधनमुदारम् ।

रमय मया सह भवनमनोरथभावितया सविकारम् ।

चिन्ता

त्यजति न पाषितलेन कपोलम् ।

बालशशिनमिव सायमलोलम् ।

× × ×

किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण ।

किं धनेन जनेन किं मम जीवितेन गृहेण ।

स्मरण

हरिरिति हरिरिति जपति सकामम् ।

भरण

विरहविहितभरणेव निकामम् ।

व्याधि

कन्दर्पञ्चरसञ्चरातुरतनोराहस्यमस्यामिचरम् ।

चेतश्चन्दनचन्द्रमः कमसिनोचिन्तासु सताम्यति ।

किन्तु बलान्तिवशेन शीतलतनुं स्वामेकमेव प्रियं ।

ध्यायन्ती रहसि स्थिता कथमपि क्षीणा क्षणं प्राप्ति ।

आवेग

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमलीख कुरापम् ।

विलपति हसति विषीवति रोदति चञ्चति मुञ्चति तापम् ।

वितर्क और चिन्ता

भूचाये निहितः कटाक्षविशिखो निर्मातु मर्मव्यथा ।

श्यामात्मा कुटिलः करोतु कबरीभारोऽपि मारोक्षमम् ।

मोहं तावदय च तन्नि तनुतां बिम्बाधरो रागवान् ।

सद्वृत्तः स्तनमण्डलस्तव कथं प्रार्थयामि कीदृशम् ॥

असूया

नायात, सखि निदंयो यदि शठस्त्वं व्रूति किं व्रूयसे ?

स्वच्छन्दं बहुवत्सलभः स रमते किं तत्र ते व्रूषणम् ?

दैन्य

बाधां विधेहि मलयानिल ! पञ्चबाण !

प्राणान् गूहाण न गूहं पुनराश्रयिष्ये ।

किं ते कृतान्तभग्नि ! क्षमया तरङ्ग-

रङ्गानि सिञ्च मम शाम्यतु वेहदाहः ॥

चिन्ता मूर्च्छा आदि सञ्चारियों के साथ पुलक, वेपथु और स्वेद आदि सात्विक भावों का यह मिश्रण शृंगाररस का ही पानक प्रस्तुत करता है—

सा मां द्रक्ष्यति वक्ष्यति स्मरकथां प्रत्यङ्गमालिङ्गनं ।

प्रोति यास्यति रक्ष्यते सखि ! समागम्यति चिन्ताकुलः ।

स त्वां पश्यति वेपथे पुलकयत्यानन्दति स्विद्यति ।

प्रत्युद्गच्छति मूर्च्छति स्थिरतमःपुञ्जे निकुञ्जे प्रियः ॥

वियोगियों के लिए वियोगवस्था में चार प्रकार के मनोविनोद स्थानों का उल्लेख मल्लिनाथ ने मेघदूत की टीका में किया है । प्रियसदृशवस्तु का दर्शन, प्रिय के चित्र का दर्शन, स्वप्नगत प्रिय का दर्शन और प्रिय द्वारा स्पृष्ट पदार्थों का स्पर्श । गीतगोविन्द में इन सब का समावेश हुआ है—

विलसति रहसि कुरंगमयेन भवन्तमसमशरभूतम् ।

प्रणमति मकरमधो विनिधाय करे च शरं नवभूतम् ॥ (प्रबन्ध c)

यहाँ कवि ने अपनी प्रतिभा के उन्मेष से प्रियसदृशवस्तु एवं प्रिय के चित्र दोनों को मिलाकर एक कर दिया है । कामदेव राधा के प्रियतम कृष्ण के ही समान है अतः वह कृष्ण का चित्र कामदेव के रूप में चित्रित करके दर्शन और प्रणाम करती है । विरहावस्था में नींद तो कहाँ ? राधा ध्यानलीन होकर कल्पना से कृष्ण को सामने उपस्थित कर लेती है—

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमलीख कुरापम् ।

विलपति हसति विषीवति रोदति चञ्चति मुञ्चति तापम् ।

श्रीर कृष्ण राधा के प्रेम का स्पर्श करने वाले पवन से उड़ायी हुई धूलि को ही वाकर कुतकृत्य से हो जाते हैं—

बहु ममुतेऽतनु ! ते तनुसङ्गतपवनचलितमपि रेणुम् । (प्रबन्ध ११)
कालिदास के यक्ष की भी यही दशा थी। उसी के शब्दों में सुनिए—

निश्चा सद्यः किललघुपुटादेवदाहनुमाणां ।
ये तत्क्षीरक्षतिसुरभयो वक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषारात्रिवाताः ।
पूर्व स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ (मे० दू० उ० ४४) ॥

प्रिय-मिलन-जनित हर्ष का भी एक उदाहरण लीजिए—

अतिक्रम्यापाङ्गं भवणपथपर्यन्तगमन—
प्रयासेनेवाश्वोस्तरलतरतारं गमितयोः ।
इवानौ राधायाः प्रियतमसमायातसमये ।
पथात् स्वेदाम्बुप्रसर इव हर्षाभ्दुनिकरः ।

सुरत-श्रम से त्विन्न लजीली नायिका की मनोहरता जयदेव ने इस प्रकार चित्रित की है—

व्याकोशः केशपाशस्तरलितमलकः स्वेदमौक्त्य कपोलौ ।
बिलष्टा बिम्बाधरश्रीः कुचकलशश्चाहारिता भ्रमरपट्टिः ।
काञ्चीकान्तिहृताशा स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्यः ।
पश्यन्ती सत्रपा सा तदपि बिलुलिता मुग्धकातिघिनोति ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि गीत गोविन्द में भगवल्लीलागन के अंकुर पर प्रचलित शृङ्गारिक भावना की कलम रोपी गयी है जिससे उसका स्वरूप ही परिवर्तित हो गया। यद्यपि उसका धार्मिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि साधारण सहृदय उसे शृंगार-प्रधान काव्य ही मानेगा। इसीलिए श्री वरदराजाचारी का कथन है कि यद्यपि भक्तिभावपूर्ण गीत की दृष्टि से उसका मूल्य कम नहीं किया जा सकता तथापि शृङ्गारिक गीत की दृष्टि से इसका मूल्य और भी अधिक है।¹ डा० एस० एन० दास गुप्त का मत है कि यद्यपि यह काव्य शृंगारिक स्वरूप लिए हुए है—विशेष रूप से साधारण पाठक के लिए—किन्तु हरि-भक्तों के हृदय में इसके गीत किसी प्रकार की यौनभावना का सञ्चार नहीं करते—बल्कि उनके हृदय में राधा और कृष्ण की भक्तिकी सीलाश्रों का प्रकाश आलोकित करते हैं। यह कृष्णरूपी परमात्मा प्राप्ति के लिये राधा रूपी आत्मा की कामना

1. Although its value as a devotional lyric cannot be minimised, its value as an erotic lyric, is greater. (A History of the Sanskrit. Lit. p. 95)

को उसकी अभिव्यक्ति नहीं करता। एक सच्चे वैष्णव के लिए यह राधाकृष्ण की 'परम बीलाभों का चित्रण है जिनमें भक्त धार्मिक अनुभूति और भक्ति के साथ प्रविष्ट होता है।' इसके विपरीत डा० एस० के० डे का कथन है कि यह काव्य कोई 'प्रशस्तिपूर्ण स्तोत्र नहीं है अपितु राधा कृष्ण की रासलीला के अत्यन्त श्रृंगारमय कथानक से सम्बद्ध है।' आगे वे फिर लिखते हैं कि जयदेव द्वारा राधा-कृष्ण के कथानक का घोर श्रृंगारिक रूप में चित्रण ब्रह्मवैवर्तपुराण के कथानक से मिलता जुलता है किन्तु इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं कि जयदेव उससे प्रभावित हुए हो।¹ इसमें सन्देह नहीं कि चैतन्य सम्प्रदाय वालों ने गीतगोविन्द को पूर्ण-रूपेण सम्प्रदायिक महत्त्व प्रदान किया है और उनका सम्बन्ध विद्यापति की ही भाँति किसी न किसी प्रकार अपने सम्प्रदाय से जोड़ा है। उनकी दृष्टि में गीतगोविन्द एक सुन्दर काव्य मात्र नहीं है अपितु एक परम पवित्र धार्मिक ग्रन्थ है जिसकी मगति वे अध्यात्म ज्ञान तथा रस शास्त्र से बँटाते हैं। इस बात को हम भी मानते हैं कि गोडीय रसशास्त्र गीतगोविन्द से प्रभावित हुआ। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि जयदेव इस सम्प्रदाय के गुरु थे। वास्तविक बात यह है कि गीतगोविन्द का धीम और स्फिरिट ऐस है जो गोडीय रसशास्त्र से संबद्ध किये जा सकते हैं। वस्तुतः इस काव्य का प्रणयन रसशास्त्र के प्रकाशन से तीन सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने उसकी अपनी भावनाओं के अनुकूल व्याख्या कर ली। इससे न तो जयदेव ही उस सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित सिद्ध होते हैं और न ही गीतगोविन्द सर्वथा धार्मिक या साम्प्रदायिक ग्रन्थ प्रमाणित होता है। बिहारी-सतसई के श्रायुर्वेदपरक और शान्तपरक अर्थ भी लोगों ने किये हैं किन्तु बिहारी न तो श्रायुर्वेद के आचार्य ही थे और न ही सन्यासी।

हमारी दृष्टि से तो जयदेव परवर्ती साम्प्रदायिक आचार्यों की भाँति किसी प्रकार के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से प्रेरित होकर कवि-कर्म में प्रवृत्त नहीं हुए। 'हरिस्मरण' की बात उन्होंने सवा सोलह आनं समाम्प्रदायिकता के साथ कही है। वे जन्मजात कवि थे, सरस्वती के कृपा-पात्र और प्रतिभा के चहेते थे। उनका कवि होने का दावा प्रत्येक गीत में मुखरित हुआ है और वे सब से पहले कवि हैं, बाद में कुछ और। हरि का भजन भी वे करते होंगे। किन्तु उनका भक्त-रूप कविरूप की अपेक्षा निश्चयपूर्वक कम झलक पाया है और उनके भावुक हृदय ने राधा-कृष्ण के प्रेम-कथानक का जो भावमय कवित्वपूर्ण चित्रण किया है उसमें मानवीय प्रेम का पूरा चित्र उभर आया है। यह उनके व्यक्तित्व का और विशेषतया काव्य का आकर्षण था जिसके कारण अनेक सम्प्रदाय उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ने का लोभ

1. *A History of Sansk. Lit.* by S. N. Das Gupta and S. K. De, Editor's note 667.

2. वही पृष्ठ ३४०।

3. वही ,, ३४२।

संवरण न कर सके। चैतन्य सम्प्रदाय के प्रतिरिक्त बंगाल का सहजिया सम्प्रदाय भी उन्हें अपना आदि गुरु तथा नौ रसिकों में से एक समझता है^१। उनके असाम्प्रदायिक होने का यह भी एक सबूत है कि बहुत से सम्प्रदाय उनसे सम्बन्ध जोड़ने में गौरव का अनुभव करते हैं।

श्री विनयमोहन शर्मा ने ठीक ही कहा है कि गीतगोविन्द में लयशृंगार की प्रधानता सम्भवतः युगधर्म कही जा सकती है। यदि गीतों के आध्यात्मिक सकेतों को पृथक् कर दिया जाय तो वे शुद्ध-कला-सौन्दर्य के प्रदर्शक रह जाते हैं।

डा० डे का यह कथन सर्वथा उचित है कि—

Jayadeve, it is true, emphasises the praise and worship of Krsna, but his work is not, at least in its form and spirit, the expression of an intensely devotional personality in the sense in which Lilashuka's poem is, and no influence of Lilashuk is traceable in Jayadeve.

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, जयदेव ने अपने पहले से चली आती हुई शृंगारिक गीति परम्परा तथा लीलागान की परम्परा को परस्पर मिला दिया। इतना ही नहीं, डा० एस० के० डे के अनुसार भले ही गीतगोविन्द प्रशस्तिपरक स्तोत्र न हो किन्तु उस परम्परा से प्रभावित अवश्य है। प्रत्येक संग के अन्त में जो आशीर्वादात्मक उक्तियाँ हैं उनमें से बहुत सी शृंगारिक मुद्राओं और चेष्टाओं का ही चित्रण प्रस्तुत करती है किन्तु अनेक में कृष्ण-चरित्र-विषयक अन्य लीलाओं का भी संकेत जिस ढंग से किया गया है वह गुणगानात्मक स्तोत्र-परम्परा से, जो लीलागान से अलग अपना वैशिष्ट्य रखती है और जिसके अन्तर्गत शंकराचार्य के भक्ति-स्तोत्र आते हैं, स्पष्ट रूप में प्रभावित है।

एक अन्य और इलोक में कृष्ण को सफलतापूर्वक वीर रस का आश्रय चित्रित किया गया है किन्तु उसके मूल में भी कवि का रतिभाव ही है—

जयश्रीविषयस्तेर्महित इव सखारकुसुमैः ।

स्वयं सिन्धूरेण द्विपरणमुवा मुश्रित इव ।

भुजापीडक्रीडाहलकुललयापीडकरिणः ।

प्रकीर्णसुग्मिन्दुजयति भुजदण्डो मुरजितः^४ ॥

अर्थात् खेल खेल में ही अपनी भुजाओं से कुलयापीड हाथी का वध करने वाले मुरविजेता कृष्ण के, हाथी के रधिरकणों से व्याप्त होने के कारण जयलक्ष्मी

1. S. K. De, *Hist. of Sans Lit.* pp. 392

2. हिन्दी गीत गोविन्द की भूमिका ।

3. *Hist. of Sans. Lit.* p. 392.

4. गीतगोविन्द संग ११ ।

द्वारा मन्दार-कुण्डों से पूजित एवं सिन्दूर से मुद्रित सा प्रतीत होते हुए भुजवण्ड की बय !

इस प्रकार जयदेव ने शृंगार, लीलायान तथा स्तोत्र परम्परा का मद्तितीय समन्वय कर दिया। शृंगार के क्षेत्र को उन्होंने व्यापकता प्रदान की। उनकी रचना पर विहंगम दृष्टि डालने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि शृंगारिक जगत् में पहले से चली आती हुई रूढ़ियों को ही उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया और इस दृष्टि से उन्होंने उससे लिया ही, दिया कुछ नहीं, किन्तु तनिक ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र में भी उन्होंने क्रान्तिकारी काम किया है। उनकी मौलिक उद्भावना की छाप शृंगार के कोमल कलेवर पर इतनी गहरी बैठी कि छाताब्दियों तक वह कवियों की तत्सनीनता का कारण बनी रही। यह उद्भावना राधा को शृंगार के रगमञ्च पर एक सर्वथा नये रूप और वेश में प्रस्तुत करती है। राधा-कृष्ण को नायक-नायिका का रूप देकर मानवीय प्रेम-चित्रण की परम्परा का श्रीगणेश यहीं से होता है। जैसा कि इस अध्याय की भूमिका में हम कह आये हैं, इससे पूर्व शृंगारिक रचनाओं में विशेषकर मुक्तकी में नायक नायिका का नाम निर्देश नहीं हुआ करता था। 'स सा' आदि सर्वनाम रूपों से ही काम चला लिया जाता था। यद्यपि शिव-पार्वती, गोपी-कृष्ण आदि मिथुन अभिधान भी यत्र तत्र दृग्गोचर होते थे किन्तु इस प्रकार की रचनाएं नगण्य थीं। जयदेव ने शृंगार के मन्दिर में राधा-कृष्ण की पूर्णतया प्रतिष्ठा की और उनका स्वरूप इतना आकर्षण बनाया कि उत्तरवर्ती कवियों के लिए वे स्वयं आदर्श बन गए। संस्कृत के ही नहीं, क्षेत्रीय भाषाओं के कवि भी उनकी राधा को अपने काव्य की नायिका बनाकर कृतार्थ हो गए। मैथिली के विद्यापति, बंगला के चण्डीदास तथा ब्रज के अनेक कवियों ने कृष्ण और राधा को प्रेम तथा प्रतीति का पर्याय मानकर चित्रण किया। धार्मिक जगत् में भी उसका स्वागत हुआ। उसके स्वरूप की बड़ी भारी प्रतिक्रिया हुई। अनेकानेक वैष्णव सम्प्रदायों ने उसे अपनाया और गौडीय आचार्यों ने तो उसके आधार पर अलग से भक्ति के क्षेत्र में नायिका-भेद की प्रतिष्ठा की। व्यापकता गम्भीरता और आकर्षण की दृष्टि से यह एक महान् प्रभाव था जो जयदेव के युग-प्रवर्तक होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। किन्तु जयदेव के महत्त्व की कहानी यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी कलात्मकता में है।

मेघपद शैली

संस्कृत के पुराणपन्थी छन्दों की धवहेलना न करते हुए भी जयदेव ने कविता को एक नया परिधान दिया और ध्रुवक देकर पद लिखने की परम्परा को बल दिया। यह सत्य है कि संस्कृत में पद लिखने की प्रथा छुट-पुट रूप में उनसे पहले भी रही थी किन्तु गीतगोविन्द में उसका इतना प्राञ्जल और प्रौढ स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है कि आगे के कवियों के लिए यही प्रेरणा का स्रोत बन गया और इसके

अनुकरण पर दर्जनों काव्यों की रचना हुई। इस रचना की गेयपद शैली जो अश्वी-तक संस्कृत साहित्य में अनदेखी सी ही थी एकबारगी अप्रत्याशित सवृक्ष प्रकट हुई। यह एक ऐसा जबर्दस्त परिवर्तन था जिस को देखकर पिल्लेस तो चकरा ही गये। गीतगोविन्द की प्रसाधारण शैली को देखकर उन्होंने सोचा कि यह भजनकी वस्तु संस्कृत के बाने में कही अन्यत्र से आ घमकी है। उन्होंने चट से अनुमान कर लिया कि मूलतः गीतगोविन्द अपभ्रंश में लिखा गया होगा। यह संस्कृत संस्करण उसी का अनुवाद है^१। यह मत मैक्समूलर के 'प्राकृतमत' (Prakrit theory) के समान ही निराधार तथा हेय है। इसमें तो सन्देह नहीं कि गेयपदशैली का प्रादुर्भाव पहले अपभ्रंश में ही हुआ और अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सर्वप्रथम सरहपा ने इसका साहित्य में प्रयोग किया किन्तु उनके समकालीन शंकराचार्य के नाम से प्रचलित स्तोत्रों में भी ध्रुवक देकर अन्य तुक सहित पद्य मिलते हैं। हमारा अनुमान है कि गीत शैली को सरहपा ने लोकसाहित्य से अपनाया। शंकराचार्य की रचनाओं में इस शैली का जो कुछ प्रभाव लक्षित होता है वह भी कदाचित् लोक-साहित्य का ही प्रभाव है। इस विषय पर पाँचवे अध्याय में विचार किया जा चुका है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि सरहपा की भाषा तत्कालीन लोक-भाषा से बहुत भिन्न नहीं है। धीरे धीरे साहित्यिक और लोक अपभ्रंश में अन्तर होता गया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि अपभ्रंश के गान करने योग्य पदों का बहुत अधिक साहित्य था। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में दो प्रकार की अपभ्रंश की चर्चा की है। एक तो वह अपभ्रंश जिसकी चर्चा उन्होंने अपने अपभ्रंश व्याकरण में की है। यह साहित्यिक भाषा थी, दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश जो सम्भवतः लोकभाषा थी और जीवित थी। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह भाषा अधिक प्रसर भाषा है। इस प्रकार की ग्राम्य अपभ्रंश भाषा में रासक डोम्बिका आदि श्रेणी की गेयरचनाएँ लिखी जाती थीं। ग्यारहवीं शती के अन्दुल रहमान का सन्देशरासक भी ऐसा ही है, गेयपदों का अपभ्रंश साहित्य बहुत थोड़ा ही बचा है^२।

डा० डे का कथन है कि पदावली, जो गीतगोविन्द के कलेवर के अधिकांश में व्याप्त है, वास्तव में जनभाषा में प्रचलित अभिव्यक्ति पद्धति का प्रतिरूप है, संगीतमय छन्द तथा अन्य तुक और ध्रुवक प्राचीन संस्कृत साहित्य में कठिनता से ही कहीं प्रयुक्त हुए होंगे। स्वयं 'पदावली' शब्द का प्रयोग भी, जो बाद के बंगाली शीतों में इतना प्रचलित हुआ, संस्कृत में इस प्रर्थ में कहीं नहीं हुआ है अपितु जन साहित्य से ही ग्रहण किया गया है^३। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि गीतगोविन्द का प्रणयन उस युग में हुआ था जब संस्कृत कविता ह्रासोन्मुख हो चली थी। अतः ऐसे समय में किसी प्रतिभाशाली कवि के हृदय में सभसामयिक

1. *Die Hofdichter des Laksmansena*, p. 22.

2. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १४-१५।

3. S. K. De, *Hist. of Sansk. Lit.*, p. 394.

जनभाषा-साहित्य की उचित प्रवृत्ति का समावेश कर उसमें स्पन्दन भरने की भावना का उन्मेष होना अस्वाभाविक नहीं था। इसके अतिरिक्त, गीतगोविन्द की पदावलियों में संस्कृत साहित्य की परम्पराएँ—शृंगार वर्णन की रुढ़ियाँ, भक्तकृत वर्णन शैली, अनुप्रास और यमक का आधिक्य—अपने मौलिक रूप में सन्निहित हैं और यह सब कुछ आयासजन्य नहीं है अपितु इस रचना की साहित्यिक अभिव्यक्ति का अविभाज्य अंग है। ये विशेषताएँ अपभ्रंश और प्राकृत साहित्य में प्रायद ही कही लक्षित होती हों।

एक उदाहरण लीजिए—

दशो तथ मदालसे बदनमिन्दुसंशोषकं ।

गतिजंनमनोरमा विजितरम्भमुखद्वयम् ।

रतिस्तव कलावती रुचिरचित्रलेखे भ्रूषा—

वहो बिम्बधयोषत वहसि तन्वि ! पृथ्वीगता ॥

शब्द-महिमा द्वारा राधा में मदालसा, मनोरमा, रम्भा आदि अनेक अप्सराओं की प्रतिष्ठा इस पद्य में कर दी गई है। यह प्रवृत्ति संस्कृत की अपनी है जिससे परिचित कोई भी विद्वान् यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हो सकता कि यह किसी अपभ्रंश पद का अनुवाद है। यह तो स्वयं भी अन्य किसी भाषा में अनुदित नहीं किया जा सकता। अस्तु, अपभ्रंश से गेयपदशैली संस्कृत में आयी और उसने गीतगोविन्द को प्रभावित किया; यह तो माना जा सकता है, किन्तु गीतगोविन्द किसी अपभ्रंश रचना का अनुवादमात्र है यह अविश्वसनीय हो नहीं भ्रान्त और उपहसनीय भी है। डा० कीष का मत भी यही है। वे लिखते हैं कि

“यह नितान्त असम्भव है कि इस काव्य का मूलरूप संस्कृत के अतिरिक्त अन्यत्र रहा हो। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि तुक (अथवा अन्त्यानुप्रास) के प्रयोग ने जो अपभ्रंश साहित्य में अनिवार्यतः मौजूद है, गीत गोविन्द के रचयिता को प्रभावित किया हो।” (सं० सा० इति० पृष्ठ १९७)

वस्तुतः लीला के पद बहुत पहले से लिखे जाते रहे थे। कब से लिखे जा रहे थे यह तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों के गेयपदों में कुष्ण लीलागान करने की प्रथा अवश्य चल रही थी। बौद्ध सिद्धों के गान, चण्डीदास के पद और विद्यापति के पद बंगाल और उसके आस पास में रचे गए थे। जयदेव का जन्म भी बंगाल में ही हुआ था। उनकी साधनाभूमि भी वहीं थी। इन तथ्यों के आधार पर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि उड़ीसा और बंगाल में इस प्रकार के गान लोकभाषा में बहुत दिनों से प्रचलित रहे होंगे^१ और उन्हीं के अनुकरण पर जयदेव ने ये गान लिखे होंगे। इस दृष्टि से जयदेव पर

१. सं० सा० इति०, पृष्ठ १९७।

२. वही पृष्ठ १९८।

लोकसाहित्य का प्रभाव असम्भव नहीं किन्तु पूर्वी भारत में ही नहीं पश्चिमी भारत में भी टेक या ध्रुवक देकर पद लिखने की परम्परा जयदेव से शताब्दियों पहले से चली आ रही थी। राजपूताने के नाथ-सिद्धों के भजन बहुत पुराने हैं। लोकभाषा में ही क्यों, संस्कृत में भी ऐसे पद लिखे जाने लगे थे। दशम शताब्दी के काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने दशावतारचरित में गोविन्दों के मुख से जो गीत गवाया है वह गीत-गोविन्द के पदों की ही जाति का है। वह गीत यह है—

ललित-विलास-कला-मुख-खेलन !
ललना-लोभन-शोभन-यौवन ! मानितनवमदने ।
प्रलिकुलकोकिलकुवलयकञ्जल ! कालिकुलवमने ।
कालकलिनन्दमुताविषलज्जल ! कालियकुलवमने ।
केशिकिशोरमहामुरमारण !
वारुण गोकुलदुःखविदारण ! गोवर्धनधरणे ।
कस्य न नयनयुग रतिसंगे
मज्जति मनसिजतरसतरंगे, वररमणीरमणे ।

इससे सूचित होता है कि पश्चिम भारत में भी लोकभाषा में उस प्रकार के गीत प्रचलित थे जिस प्रकार के गीतगोविन्द में मिलते हैं। सारांश यह है कि दीर्घ-काल से समूचे उत्तरी भारत में पूर्व से पश्चिम तक इस प्रकार के पद जनता में प्रचलित थे और, जैसा कि द्विवेदी जी ने अपने हिन्दी साहित्य में लिखा है, जनता के गीतों में दो ही बातों की प्रधानता रहती है। शृङ्गार की और धर्म की। इस अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों में तत्कालीन सामाजिक दशा की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। उस दशा में जो जनता के गीतों में इन तत्त्वों की प्रमुखता और भी अधिक स्वाभाविक सिद्ध होती है। इस दृष्टि से जयदेव का उनसे प्रभावित होना असम्भव नहीं है। अपने काव्य का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है—

यद्गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद्वैष्णवं ।
यच्छृङ्गारविवेकतत्त्वरचनाकाव्येषु लीलायितम् ।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णकृतानात्मनः ।
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः ।

गान्धर्व कलाओं में जो कुछ कौशल है, जो कुछ वैष्णव उपासना है, शृङ्गार-विवेक के तत्त्वों से युक्त काव्य रचनाओं में जो कुछ लीला है, कृष्ण में निरतमना जयदेव पण्डित द्वारा समाहित इन विशेषताओं की सुधीजन गीतगोविन्द में आनन्द-पूर्वक प्राप्त करें।

निःसन्देह संगीत और भगवल्लीलागान के अतिरिक्त शृङ्गारमय काव्यों में जो कुछ तत्त्व मिलते हैं वे भी गीतगोविन्द में समाविष्ट हैं। इस श्लोक में 'गान्धर्व कला-

कौशल' शब्द विशेषतया उल्लेखनीय है। संगीत के अभूतपूर्व समावेश के साथ गीत-गोविन्द का काव्य-सौष्ठव चमक उठा है। यही कारण है कि संस्कृत से अनभिज्ञ लोग भी इसकी पक्तियों को सुनकर आनन्द से झूम उठते हैं। इन पक्तियों के लेखक ने ऐसे समाज पर गीतगोविन्द के सम्मोहन का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा है जिसमें संस्कृत तो क्या हिन्दी जानने वाले भी बहुत कम थे। जब हम गीतगोविन्द के गान्धर्वकौशल पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि कवि का तात्पर्य शास्त्रीय संगीत की साधना नहीं था। गीतगोविन्द का प्रचार शास्त्रीय संगीत के कारण नहीं हुआ। यह सङ्कुचित विचार उसके रचयिता के व्यापक दृष्टिकोण में आ ही नहीं सकता था। उसकी प्रतिभा इस बात को जानती थी कि पदबद्ध पद्धति से जनसाधारण की रुचि के अग्रिक निकट पहुँचा जा सकता है और वे भी संगीत का आस्वादन कर सकते हैं। फिर भी इस रचना के विषय में कुछ बहुत भ्रान्ति फैल रही है। उदाहरणार्थ पटना से प्रकाशित 'साहित्य' शीर्षक पत्रिका के मार्च १९५१ के अङ्क के ५ वें पृष्ठ पर कहा गया है "संस्कृत काल में भारतीय संगीत का जो शास्त्रीय रूप निमित्त हुआ था और जो 'रुद्रिग्रस्त' होकर दूर जा पड़ा था उसकी मुक्ति की आकांक्षा में ही गीतगोविन्द की संगीतकला फूट पड़ी थी।" किन्तु भारतीय संगीत के मान्य विद्वानों की सम्मति में न तो संस्कृत संगीत शास्त्र में इस प्रकार की रुद्धिग्रस्तता उत्पन्न हुई थी और न इस कल्पित इतिहास का गीतगोविन्द से कोई सम्बन्ध ही है। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के संगीत विभाग में दोष प्राचार्य श्री दानीएल नेथी डा० सिद्धेश्वर वर्मा को उनके एक पत्र के उत्तर में १३-१-५१ को लिखा था कि 'गीतगोविन्द ने भारतीय संगीत शास्त्र में एक नए युग का संचालन कर दिया, इसका कोई प्रमाण विद्यमान नहीं, उस युग का शास्त्रीय संगीत रुद्धिग्रस्त हो गया था, इसका भी कोई सबूत नहीं। इतना ही नहीं, उक्त प्रो० साहव के अनुसार गीतगोविन्द सम्भवतः उन पुरानी रचनाओं में से है जिनमें कविता को संगीत में विशेष स्थान दिया गया है, परन्तु संगीत की दृष्टि से यह मानदण्ड की अप्रयोगिता का ही परिचायक है'। यही विचार 'हिन्दुस्तानी संगीत' नामक ग्रन्थ के यशस्वी लेखक प्रो० रानाडे ने भी व्यक्त किया है। उनका कहना है कि गीतगोविन्द ने संगीत-शास्त्र की उन्नति पर कोई विशेष छाप नहीं डाली है। संगीत की दृष्टि से गीतगोविन्द का स्थान

-
1. By no existing evidence can the Geet Govind be stat'd to have created a new era in Indian Music.....There is no existing evidence that the classical music of the time may have been stereotyped... It may have been one of the early compositions in which the poem is given a prominent part in relation to the music itself. This of course musically has to be considered as a lowering of standard.

(See Dr. Siddheshwar Varma's Preface to Hindi-Geet-Govind.)

गीत ही है। शाङ्गदेव ने अपने 'संगीत रत्नाकर' में इसका उल्लेख तक करने की परवाह नहीं की^१। संगीत शास्त्र के इन विशेषज्ञों के उक्त मत इस बात की पुष्टि करते हैं कि जयदेव का प्रमुख उद्देश्य संगीत-साधना नहीं था प्रत्युत काव्य-साधना की गम्भीरता में उतरकर अपनी कृति को एक सर्वथा नूतन परिधान देना था। यह सत्य है कि जयदेव ने संगीत के विकास पर कोई छाप नहीं छोड़ी किन्तु यह उससे भी अधिक प्रत्यक्ष है कि उन्होंने गीतिकाव्य के विकास पर अपनी अमिट छाप लगा दी। अपने गान्धर्व-कोशल को उन्होंने कवि कर्ब के ऊपर सवार न होने दिया अपितु संगीत को ही अपनी सरस्वती का मराल-वाहन बनाया।

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, जयदेव की वाणी का परिधान गांवों के गीतों में शताब्दियों से चले आते हुए सूत्र से निर्मित हुआ, फिर भी वह ग्राम्य नहीं है, क्योंकि उसकी काट-छाँट इस नये कलाकार के हाथों हुई जिसने उसके स्वरूप को सुविभक्त और सुदोल ही नहीं बनाया बल्कि शास्त्रीय पद्धति का हल्का सा रंग देकर सौभाग्य सूचक भी बना दिया। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने ठीक ही कहा है कि 'यूँके राग के विशेषज्ञ प्रचलित भाषा से स्वतन्त्र ही रहना चाहते हैं। उनकी प्रवृत्ति तो यह होती है कि वे एक दो शब्दों को लेकर उन्हीं को भिन्न भिन्न रूप से तोड़ मरोड़ कर गाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि गीतगोविन्द का संगीत शास्त्रीय संगीत से स्वतन्त्र होता हुआ एक सर्वसाधारण ग्राह्य स्वरूप रखता है जिसका आधार लोकगीत समझना चाहिये'^२। टेक अथवा ध्रुवक के विषय में डा० कौथ का कथन है कि निःसन्देह ध्रुवक का प्रभावशाली प्रयोग धार्मिक कृतियों से लिया गया है। यह ऋग्वेद में मिलता है तथा कलात्मिक धार्मिक गीतों में भी, जिसमें तुक का भी प्रयोग हुआ है^३।

ऋग्वेद में 'स जनास इन्द्र ? तस्मै देवाय हविषा विधेम' जैसे ऋक्चरण को प्रत्येक ऋक् के अन्त में पुहराया गया है। इसे टेक का पूर्वरूप मान भी लें तो भी उसके बाद के साहित्य में इन प्रकार की रचनाओं का बहुत दूर तक बाहुल्य नहीं पाया जाता। यदि इसके पुक्के दलों में कहीं यह विशेषता मिलती भी है तो वह आकस्मिक है क्योंकि उसका लगातार प्रयोग नहीं हुआ। शंकर के नाम से प्रचलित कुछ स्तोत्रों में अवश्य ही योजनापूर्वक टेक का प्रयोग किया गया है किन्तु उसका सम्बन्ध मण्डूक्यनुति न्याय से ऋग्वेद से नहीं जोड़ा जा सकता। इसे समसामयिक अपभ्रंश रचनाओं का ही प्रभाव मानना पड़ेगा।

1. Geet Govind has not made any special marks of its own in the advancement of music. Musically Geet Govind has a minor place which Sarnga Deve did not even care to mention in his Sangit Ratnakar. (हिन्दी गीतगोविन्द की भूमिका)
2. हिन्दी गीतगोविन्द की प्रस्तावना, पृष्ठ ३।
3. Hist. of Sans. Lit., p. 198.

चौपाई और दोहा अपभ्रंश के अपने छन्द है। यद्यपि चौपाई की तर्ज संस्कृत के विद्युन्माला छन्द से मिल जाती है किन्तु दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि चौपाई एक मात्रिक छन्द है जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं, जबकि विद्युन्माला वर्णिक छन्द है जिसके प्रत्येक पाद में दो मगण और उनके बाद दो गुरु अक्षर होते हैं। अर्थात् उसके प्रत्येक पाद में आठ गुरु होते हैं जो सोलह मात्राओं के बराबर हैं। दोनों की तर्ज की समानता का कारण यही है। चाहे चौपाई का विकास विद्युन्माला से ही हुआ हो किन्तु मात्रिक होने के कारण उसका प्रयोग विद्युन्माला की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक है। संस्कृत के काव्यों में चौपाई छन्द का प्रयोग नहीं मिलता। इसका आविर्भाव अपभ्रंश साहित्य के साथ ही हुआ। जयदेव ने कई प्रबन्धों की रचना इसी छन्द में की है। पहली शताब्दी के बाद ध्रुवक देकर वे आगे भी प्रत्येक शताब्दी के बाद उसे दुहराते रहे हैं। उदाहरणार्थ गीत-गोविन्द के नवम, द्वादश तथा चतुर्दश प्रबन्ध द्रष्टव्य हैं।

इसी प्रकार अपभ्रंश का दूसरा अत्यन्त प्रचलित छन्द है दोहा। यह एक मात्रिक छन्द है जिसके पूर्वाध और उत्तरार्ध में चौबीस चौबीस मात्राएँ होती हैं और ग्यारह तथा तेरह मात्राओं पर यति होती है। गीतगोविन्द के एक प्रबन्ध में यह छन्द भी प्रयुक्त हुआ है। मात्राएँ दोनों पंक्तियों में दोहा के ही समान हैं, केवल यति का पालन नहीं किया गया है—

मामिय चलिता विलोभ्य त्तं मधुनिचयेन ।

सावराधतया मयापि न वारिता भयेन ।

हरि हरि हतावरतया गता सा कुपितेव । ध्रुवपद ॥

किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण ।

किं धनेन किं जनेन किं मम जीवितेन गृहेण । हरि हरि ॥

चिन्तयामि तदानन कुटिलभ्रूकोपभरेण ।

शोणपद्मममिषोपरि भ्रमताकुलं भ्रमरेण ।

जयदेव के उपर्युक्त गीत की तुलना हिन्दी के आधुनिक कवि प्रसाद के इस गीत से की जाए—

आज इन जीवन के माषवी कुंज में कोकिल बोल रहा ।

मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम प्रलाप ।

त्रिधिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप ।

लाज के बन्धन छोल रहा । कोकिल¹ ॥

कीथ के अनुसार गीतगोविन्द जैसे काव्य की रचना उल्लेखनीय मौलिक कृति है क्योंकि यह यात्राओं के लोकगीतों से अत्यन्त सुन्दर कलात्मक काव्य के प्रणयन की दिशा में एक महान प्रयत्न है² ।

1. प्रसाद, चन्द्रगुप्त ।

2. कीथ, डिग्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १६३ ।

विद्वानों का अनुमान है कि केवल गेयपदशैली की दृष्टि से ही नहीं गीत-गोविन्द का पूरा बहिरंग लोकसाहित्य से प्रभावित है। अर्थात् गेयपद तथा पाठ्योग्य (recitable) श्लोको का साथ-साथ प्रयोग करने और कही-कही पदों का साराश अनुपद ही श्लोक में दे देन की प्रवृत्ति का उद्गम भी वही है। मैकडानल का कथन है—

It is probable that he took as his model popular plays representing incidents from the life of Krishna, as the modern Yatras in Bengal still do. The latter festival plays even now consist chiefly of lyrical stanzas, partly recited and partly sung, the dialogue being but scanty, and to a considerable extent left to improvisations. On such a basis Jayadeva created his highly artificial poem.¹

यह खेद की बात है कि मैकडानल जैसा बिवेकी विद्वान् गीतगोविन्द को कृत्रिम (artificial) विशेषण दे। यदि वे भूल से कलात्मक (Artistic) के स्थान में इस शब्द का प्रयोग कर गये हो तो उतना शोचनीय नहीं। किसी खण्डहर के ऊपर नव सामयिक सामग्री का प्रयोग कर एक सर्वथा नूतन भवन का निर्माण, यदि सच्ची कला के प्राणों से स्पन्दित है तो, आर्टिफीशियल कभी नहीं कहा जा सकता। गीत-गोविन्द की रचना हुए सात सौ से अधिक वर्ष अतीत हो चुके। आजकल का 'यात्रा साहित्य' उस समय वर्तमान रूप में निःसन्देह नहीं रहा होगा। इस दीर्घकाल की अवधि में उसमें भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हुए होंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गीतगोविन्द से, जिसका विशेषतया बगीच वृष्णवों में और सामान्यतः जन साधारण में इतना अधिक प्रचार रहा है, यह यात्रा-साहित्य स्वयं तो प्रभावित नहीं हुआ है। व्रजक्षेत्र में जो रासलीला का स्वरूप आजकल प्रचलित है वह भी कुछ इसी ढंग का है जिसमें गेयपद, पाठ्य और वार्ता सदृश सामग्री रहती है। जब हृष जयदेव पर लोकसाहित्य के प्रभाव की बात कहते हैं तो हमें प्रश्न के इस दूसरे पहलू को भी नहीं भुला देना चाहिये। यह सत्य है कि लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य के पारस्परिक आदान-प्रदान में शिष्टसाहित्य जितना लेता है उतना देता नहीं। किन्तु इसका एक कारण है, वह यह कि अनेक कारणों से शिष्ट साहित्य का जन-साधारण में प्रचार नहीं हो पाता। उनके जितने अंश का प्रचार हो जाता है वह अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। इस का प्रत्यक्ष उदाहरण जयदेव के ही समकालीन जगन्निक द्वारा रचित 'माल्हा खण्ड' नामक ग्रन्थ है जो अपने मूलरूप में आज प्राप्त नहीं है किन्तु जिसने प्रचार की व्यापकता के कारण, हिन्दी क्षेत्र के लोक-साहित्य को विराट् रूप से प्रभावित किया है। उसके अनुकरण पर एक बहुत बड़ा साहित्य लोक कवियों ने रच डाला है। आधुनिक स्वांगों में भी इसका प्रभाव लक्षित होता है।

1. मैकडानल हिन्दी आर्य संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३४५।

अन्त्यानुप्रास अथवा तुक का ग्रहण भी जयदेव ने अपभ्रंश से किया। यह सत्य है कि संस्कृत में इससे मिलता जुलता स्वरूप श्लोक के पादान्त में आये हुए यमक का होता है। वासुदेव का यमक काव्य (अध्याय ४, ७) घटकपंर, नखोदय, आनन्दतीर्थ का यमकभारत (मद्रास, ग्रन्थ-सूचीपत्र २०-७६५४) और श्रीवत्साङ्क का यमकरत्नाकर ऐसी ही रचनाएँ हैं।

प्राचीन काव्य शास्त्रियों ने इस प्रकार के यमक का बल्लेख और नामकरण भी किया है। प्राकृत साहित्य में भी इस प्रकार का यमक प्रयुक्त होता था। हेमचन्द्र ने गलिनक छन्द में, जिसका प्राकृत में पर्याप्त प्रयोग हुआ है, पंक्तियों के अन्त में यमक निर्धारित किया भी है। किन्तु वास्तविक तुक, जिसमें व्यञ्जन साम्य की उतनी परवाह न करके पंक्तियों के अन्तिम शब्दों में स्वरसाम्य लाया जाता है, विश्वनाथ से पहले संस्कृत के काव्यशास्त्रियों को मान्य न हो सकी। विश्वनाथ ने प्रथम बार उसे अन्त्यानुप्रास के नाम से परिभाषित किया। पीछे कहा जा चुका है कि तुक का आगमन संस्कृत में अपभ्रंश से ही हुआ। उसे यमक का विकास समझना ऐतिहासिक और साहित्यिक विकास की स्पिरिट के विरुद्ध होगा क्योंकि संस्कृत में शंकर के बाद भी इसका प्रयोग यत्र तत्र केवल सायोगिक रूप में ही देखा जाता है। यह तो अपभ्रंश के साहित्य की ही जो संस्कृत साहित्य के साथ ही साथ पनप रहा था, अपनी अनिवार्य विशेषता थी। इस शैली में गीतगोविन्द ही सबसे प्रथम प्रौढ रचना है जिसका अनुकरण अन्य कवियों ने भी किया। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने जयदेव की कृति से प्रभावित होकर ही अन्तुतुक को अन्त्यानुप्रास के नाम से स्वीकार कर लिया। इस आधार पर साहित्यशास्त्र में इस नूतन अलंकार के प्रवेश का बहुत कुछ श्रेय जयदेव के बाँटे पड़ता है।

जयदेव की कारयित्री प्रतिभा इस नवीन ढंग के अनुप्रास की कोरी नकल करके ही सन्तुष्ट नहीं हो सकती थी। उसने इसके प्रयोग में अन्य प्रकार के वैचित्र्य का समावेश कर उस पर अपनी छाप लगा दी। तुक का प्रयोग उन्होंने अन्त में ही वहीं मध्य में भी किया है—

रतिमुखसारे गतमभिसार भवनमनोहरवेषम् ।

न कुरु नितम्बिनि ! गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ।

धीरसमीरे यमुनातीरे वसति बने वनमाली ।

गोपीपीनपयोधरमदनचञ्चलकरयुगशाली^१ ॥

यद्यपि यह मध्य तुक संस्कृत साहित्य के लिए कोई अपरिचित वस्तु नहीं है। ऋग्वेद में ही इस की खोज की जा सकती है—

त्रातारामिन्द्रं अवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्^२ ।

१. गीतगोविन्द प्रकल्प ११ ।

२. ऋग्वेद ६-४७-११ ।

शंकराचार्य के देवीदामापनस्तोत्र का यह श्लोक भी देखिए—

इषपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा ।

निरातङ्गो रङ्गो विहरति चिर कोटिकनकैः ।

तथापणं ! कर्णं विशति मनुष्येण फलमिदं ।

जनः को जानीते जननि ! जपयनीयं जपविधौ ।

तथापि जयदेव की मध्यानुप्रास-योजना इससे भिन्न प्रकार की है। जिस प्रकार अन्त्य तुक सममात्रिक अथवा समवर्णिक पंक्तियों के अन्त में रखी गई है उसी प्रकार जहाँ कहीं उन्होंने मध्य तुक का प्रयोग किया है वहाँ भी इस सन्तुलन को ध्यान में रखा है जब कि इन वक्तियों में यह बात नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ जयदेव की उपर्युक्त पंक्तियों को ही ले लीजिए। प्रत्येक पंक्ति-मिथुन की प्रथम पंक्ति में मध्यतुक का समावेश किया गया है जिसकी प्रथम सोलह मात्राओं को आठ-आठ मात्राओं के द्विकों में विभाजित कर लिया गया है जिनमें प्रथम चार मात्राओं के अन्त में चार-चार मात्रा वाले शब्दों द्वारा तुक की सृष्टि की गई है और पूरे प्रबन्ध में इसी क्रम का निर्वाह किया गया है जिससे तुक संगीत का एक अविभाज्य अङ्ग बन गई है—

पतति पतत्रे विचलति तत्रे शङ्खितभववृषपानम् ।

\uparrow \uparrow
 मूलरमधीर त्यजमञ्जीरं रिपुमिव केतिमुलोलम् ।

विगलितवसनं परिहृतस्नानं घटय जघनमपिधानम् ।

प्रत्येक पक्षित में रेखांकित चतुष्कलो के पश्चात् के चतुष्कल, जो तीर के चिह्न द्वारा दिखाये गये हैं, तृक की सन्धि करते हैं।

यह तो हुई एक श्रृंखला पवित्र के मध्य में तुक-सृष्टि की बात। कहीं-कहीं पवित्र-मिथुन की दोनों पत्नियों के अन्त में जिस प्रकार तुक का विधान किया गया है उसी प्रकार मध्य में भी, अन्तर केवल इतना है कि मध्यतुक में पहली पवित्र की अपेक्षा दूसरी में एक मात्रा कम कर दी गई है—

बहति मलय समीरे मदनमुपनिधाय ।

स्फुटति कसुमनिकरे विरहिहृदयदलनाय ।

दहति शिशिरमयस्त्रे मरणमनुकरोति ।

पतति मदनविशिखे विलपति विकसतरोऽति ।

प्यनति-मध्यपसमूहे श्रवणमपिदधाति ।

मनसि कलितविग्रहे निशि निशि हजमपयाति ।

उपयुक्त उदाहरण से तथा समस्त तुकान्त कविता के अध्ययन से पता चलता है कि तुक-सृष्टि में पहली पंक्ति के कम से कम अन्तिम दो अक्षरों के स्वर दूसरी पंक्ति में अवश्य दुहराये जाते हैं, किन्तु उक्त गीत के ही मध्य में जयदेव ने केवल एक अक्षर के स्वर एवं व्यञ्जन को दुहराकर तुक की प्रतिष्ठा की है। पंक्तियों के

अन्त की तुक प्रचलन के ही अनुसार है। इस प्रकार की मध्यतुक को हम तुकार्थ कह सकते हैं।

जयदेव से पूर्व संस्कृत के कवियों की यह प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने अपनी कृतियों में प्रायः अपना पूरा परिचय तो जया नाम तक भी देने की परवाह नहीं की। हाँ कुछ नाटकों को इसका अपवाद अवश्य कहा जा सकता है। नाटकों की प्रस्तावना में कवि और कृति के नामोन्लेख की प्रथा पुराने समय से चली आ रही थी किन्तु मुक्तक रचनाओं अथवा छन्दों में यह सवंधा अपरिचित थी। जयदेव ने प्रत्येक अष्ट-पदी के अन्त में अपने नाम का उल्लेख भी किया है। उन्होंने प्रायः सर्वत्र 'जयदेव-भणितम्' का प्रयोग किया है। नामोन्लेख की यह प्रथा निश्चयपूर्वक लोकसाहित्य की प्रवृत्ति थी। आज भी अशिक्षित लोककवियों के भी स्त्रियों की सभी रागिनियाँ उनके नाम की छाप से अंकित है। अपभ्रंश साहित्य में यह प्रथा बहुत पहले से चली आ रही थी। उदाहरणार्थ पाचवे अध्याय में उदाहृत सिद्ध कवि सरहपा के गीत की यह अन्तिम पंक्ति देखिए—

जामे काम कि कामे काम, सरह भणइ अचिन्त सो घाम।

'सरह भणइ' और 'जयदेव भणितम्' का साम्य विशेष रूप से लक्षितव्य है। इस प्रकार प्रचलित अपभ्रंश काव्यशैली से जयदेव ने बहुत कुछ लिया, फिर भी उनकी शैली उनकी ही है। अभिव्यक्ति की नवीनता जो सर्वदा और सर्वशः काव्य में रमणीयता के नाम से प्राप्त हुई है, उनकी शैली में स्पष्टतया भासित होती है। भावानुकूल शैली-प्रयोग की कला जयदेव को खूब आती थी। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

सखि ! हे केशीमधनमुदारम् ।

रमय मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम् ।

प्रथमसमागमलजितया वटुष्ठाटशतैरनुकूलम् ।

मृदुमधुरस्मितभावितया शिथिलीकृतजघनद्वूलम् ॥ सखि० ॥

किसलयशयननिवेशितया चिरमुरसि ममैव शयानम् ।

कृतपरिरम्भणकुम्भनया परिरभ्य कृताघरपानम् ॥ सखि० ॥

अलसनिमीलितलोचनया पुलकावललितकपोलम् ।

भ्रमजलसकलकलेवरया वरमदनमवाधतिलोलम् ॥ सखि० ॥

कोकिलकलरवकूजितया जितजनसिजतन्त्रविचारम् ।

श्लथकुमुमाकुलकुन्तलया नखलिखितघनस्तनभारम् ॥ सखि० ॥

चरणरजितमणितनपुरया परिपूरितसुरतवितानम् ।

मुखरविभृङ्गलमखलया सकलप्रहङ्गुम्भनदानम् ॥ सखि० ॥

रतिमुखममररसालसया वरमकलितनयनसरोजम् ।

निःप्रहृतिपतिततनुलतया मधुसूदनमृदितमनोजम् ॥ सखि० ॥

इस गीत में कृष्ण के मनागम के लिए राधा की उत्कण्ठा का वर्णन है।

ध्रुवक वद में राधा द्वारा सखी से कृष्ण-समागम कराने की प्रार्थना की गई है। इस के पश्चात् प्रत्येक पवित केवल दो विशेषणों से बनी है जिनमें एक राधा का है और दूसरा कृष्ण का। राधा स्वयं समागम-प्राधिनी है इसलिए उसकी उत्कण्ठा का व्यंजक विशेषण पहले आना ही चाहिए। ये विशेषण सुरतव्यापृत नायिका और नायक के व्यापारों और अनुभावों का ऐसा क्रमिक चित्र उपस्थित करते हैं कि सुरत के प्रारम्भ से अन्त तक का एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित हो जाता है। नायिका की प्रथम समागम के प्रारम्भ की लज्जा से लेकर निःसहनिपलितननुलता तक के व्यापार और अनुभावों के समानान्तर नायक के चाटु वचनों से लेकर मुदितमनोजता (कामयन्तुष्टि) तक की क्रियाएँ और भाव निधुवन का चरमसीमा तक क्रमिक विकास प्रस्तुत करते हैं जिससे राधा की उत्कण्ठा की तीव्रता का अभिव्यञ्जन होता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति की भावानुकूलता गीतगीोविन्द के सभी गीतों की विशेषता है जिससे जयदेव की 'संवर्धशुद्धि गिरा जानीते जयदेव एव' गर्वोक्ति भली-भाँति सार्थक प्रमाणित हो जाती है।

जयदेव की एक अन्य विशेषता है गौड़ी तथा वैदर्भी रीति का अमृतपूर्व समन्वय। आचार्यों ने भी गौड़ी रीति को शृंगारादि कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं माना है तथा समास की प्रचुरता को इस दृष्टि से हेय बतलाया है। भोजः समास-भूयस्त्वमेतद्गच्छस्य लक्षणम् कह कर समास-बाहुल्य को गद्य में ही अधिक प्रशंस्य माना गया है। जयदेव ने आचार्यों की इस मान्यता को चुनौती दी। भोजःपूर्ण शब्दों को तो उन्होंने नहीं अपनाया किन्तु समासों का खलकर प्रयोग किया है। कहीं कहीं तो गीत की एक एक पवित में केवल एक ही समस्त पद समा सका है। यथा—

ललित-लवंगलता-परिशोभन-क्रोमल-बलय-समीरे ।

मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुंजकुटीरे ।

इतना ही नहीं प्रायः पूरा गीत एक वाक्य में ही समाप्त होता है। उदाहरणार्थ ऊपर उल्लिखित 'सखि हे केशीमधनमुदारम्' वाला गीत ही ले लीजिए। पूरे गीत में एक ही क्रिया है—'रमय' इस प्रकार का समास-बाहुल्य तथा वाक्य-विन्यास देखकर महाकवि बाण की कावम्बरी की याद आ जाती है। यह सब कुछ होने पर भी जयदेव की पदगय्या इतनी ललित और स्पष्ट है कि प्रसाद गुण भाषा के प्रवाह का साथ कहीं नहीं छोड़ता। ध्रुवपद में समास का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। अनुप्रास की समस्वरता का ध्यान भी सर्वत्र रखा गया है।

समूची रचना में ऐसे शब्द खोज निकालना कठिन है जो भावनाओं के ही अनुरूप कोमल न हों। शब्दों के अंतःसंगीत का जैसा माधुर्य इस रचना में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि गीतगीोविन्द का कलात्मक स्वरूप मस्तिष्क के सूक्ष्म व्यापारों का निदर्शन है तथापि स्पष्टता, सरसता और सरलता के कारण उसमें कृत्रिमता का कहीं भी आभास नहीं होता।

जयदेव ने कुसल जौहरी के समान शब्दों के नगों को एक एक करके यथा-स्थान जड़ दिया है 'उसमे कला की बारीकी अवश्य है पर वह आधुनिक रुचि की कसौटी पर भी श्रम की बरबादी सिद्ध नहीं होगी। इस विषय मे डा० कीच का मत उल्लेखनीय है—

.....In poems which were to be sung and to be used at popular festivals artificiality was obviously out of place, and though they can never have been intelligible to the mass of their admirers without the readily given aid of vernacular interpretations, the songs are such as, once explained, would doubtless easily be comprehended and learned.¹

गीतगोविन्द की इन अदृष्टपूर्व विलक्षणताओं के कारण ही गेटे ने उसकी मेघदूत तथा अभिज्ञानशाकुन्तल के समान ही प्रशंसा की है²। सर विलियम जोन्स द्वारा गीतगोविन्द के एक विकृत अनुवाद को देखकर उस ने कहा था कि यदि उत्कृष्ट काव्य का यही लक्षण है कि उसका अनुवाद करना प्रसम्भव है तो जयदेव का काव्य वस्तुतः ऐसा ही है।

Jayadeva's work is a masterpiece and it surpasses in its Completeness of affect any Indian poem. It has all the perfection of the miniature word-pictures which are so common in Sanskrit poetry, with the beauty which arises as Aristotle asserts from magnitude and arrangement.³

अपने आकार प्रकार की दृष्टि से भी गीतगोविन्द अपने समय तक के साहित्य मे एक मिलकुल अजनबी व्यक्तित्व लेकर उपस्थित हुआ है जिसे पहचानने में आधुनिक विद्वानों को कठिनाई हुई है। विलियम जोन्स इसे पशुचारकीय रूपक (Pastoral Drama) और लासेन संगीतकाव्यात्मक रूपक (Lyric-Drama) कहते हैं; पिरेल ने इसे मधुर रूपक (Melodrama) की श्रेणी में रखा है तो वानश्रोडर परिष्कृत यात्रा (Refined Yatra) कहना पसन्द करते हैं। लैबी इसको गीत और रूपक का मध्यवर्ती काव्य मानते हैं। किन्तु जयदेव का उद्देश्य शायद प्रबन्धकाव्य रचना था। इसलिए उन्होंने इसका विभाजन सर्गों में किया है। यदि उन्हें इसका नाटकीय रूप और अभिनेयता अभिप्रेत होती तो वे अवश्य ही अङ्कों और दृश्यों में इसका विभाजन करते तथा अभिनय की सुगमता के लिए उचित संकेत देते।

1. *Hist. of Sans. Lit.*, p. 195.

2. वही।

3. वही, पृष्ठ १४४।

गीतगोविन्द के अन्तरङ्ग और बहिरंग दोनों का ही अनुकरण हुआ। गीत-गोविन्द में सखी राधा को प्रिय युवतियों के साथ राम में आसक्त कृष्ण को दिखाती हुई कहती हैं—‘विहरति हरिरिह सरसदसतो’ और इसके पश्चात्—

कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपिश्रुतिमूले ।
 चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले ।
 करतलतालतरलवलयावलि कलितकलस्वनवशे ।
 रासरसे सह नृत्यपरा हरिणा युवतिः प्रशशसे ।
 श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम् ।
 पश्यति स स्मिनच्चारुतरामपरामनुगच्छति वामाम्^१ ॥

इन पंक्तियों के अनुकरण पर हर्षाचार्य के जानकीगीत का यह पद लीजिए—

क्रीडति रघुमणिरिह मधु-समये ।
 पश्य कृशोदरि ! भूपतितनये ।
 जानकि ! हे वदितयौवनमये — ध्रुवपद ।
 कापि विचुम्बति तं कुलबाला ।
 गायति काचिन्मूढधृतताला ॥ १ ॥
 कामपि सोऽपि करोति सहासां ।
 कलयति काञ्चन कामविकाशाम् ॥ २ ॥
 हरिर्वर्णितमिवमनुरध्वीरम् ।
 निवसतु चेतसि सरससनोरम् ॥^२

इसी प्रकार ‘गीतराघव’ के नाम से दो रचनाएँ प्रचलित हैं जिनमें एक प्रभाकर द्वारा सन् १६१८ में लिखी गई जिसका उल्लेख श्री रामकृष्ण गोपाळ भण्डारकर ने अपनी सन् १८८२-८३ की रिपोर्ट में किया है। दूसरी रचना किन्हीं हरिशंकर^३ आचार्य की कृति है। हरिनाथ के नाम से एक रामविलास काव्य भी मिला है। इसी प्रकार रामगीतगोविन्द की हस्त-प्रतिलिपि इण्डिया लाइब्रेरी में सुरक्षित है।^४ १८ वीं शताब्दी में विश्वनाथसिंह जू ने संगीत रघुनन्द की रचना की। इन सभी रचनाओं में गीत-गोविन्द के अनुकरण पर गीत रचे गए हैं और राधाकृष्ण के स्थान पर सीताराम की लीलाओं का गान किया गया है।^५

शिव पार्वती की शृंगारिक चेष्टाओं का भक्ति से मेल बिठाकर शिव-भक्तों ने

1. गीतगोविन्द प्रपञ्च ४ ।

2. जानकी गीत संग्र १ ।

3. सरपगुद शास्त्रा, Notices of Sans. Mass. Report, 1895-1900. *

4. Eggeching's catalogue of Sans. Mss. in the India Library, Vol. III London, 1891.

5. रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ १८५-१८६ ।

भी इस प्रकार के काव्यों का प्रणयन किया जिनमें भानुदत्त का गीत-गीरीश विशेष उल्लेखनीय है। यह बम्बई से 'ग्रन्थ रत्नमाला' के अन्तर्गत सन् १८८८ में और उसके पश्चात् सन् १९१६ में गोपालनरायन कम्पनी से प्रकाशित हुआ। कल्याण का गीत गङ्गाधर, रामभट्ट का गीतगीरीश और वशमणि का गीत-दिगम्बर भी ऐसी ही रचनाएँ हैं। इन रचनाओं पर भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से गीत-गोविन्द का भारी प्रभाव परिलक्षित होता है—

जयदेव

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम् ।

विहितवह्निचरित्रमलेदम् ।

केशवधृतमीनशरीर !

जय जगदीश हरे ।

भानुदत्त

अमसि जगति सकले प्रतिलवमविशेषम् ।

शमयितुमिव जनस्त्रेभमशेषम् ।

पुरहर कृतमारुतवेष !

जय भुवनाधिपते ।

जयदेव

निभूतनिकञ्जगृहं गतया निशि रहसि निलीय वसन्तम् ।

चकितविलोकित-सकलदिशा-रतिरभस-रसेन हसन्तम् ।

सखि हे केशीमन्वनमुवारम् ।

रमय मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम् ।

भानुदत्त

अभिनवयौवनभूषितया वरतरसितलोचनतारम् ।

किञ्चिदुदञ्चितविहसितया चलदविरलपुलकविकासम् ।

सखि ! हे शङ्करमुदितविलासम् ।

सह सङ्गमय मया नतया रतिकीतुकवशितहासम् ।

राधा कृष्ण को लेकर संस्कृत में ही नहीं मैथिली, बंगला आदि प्राधुनिक भाषाओं में भी गीतगोविन्द के अनुकरण पर गीत लिखे जाने लगे। इसी जाति के गीतों को वल्लभाचार्य के पुत्र विठ्ठलाचार्य ने अपने शृङ्गाररसमण्डन नामक ग्रन्थ में स्थान दिया है।

जिस प्रकार गीतगोविन्द के प्रारम्भ में सखी राधा को दूर छे व्रजयुवतियों के साथ राससक्त कृष्ण को दिखाती है उसी प्रकार शृङ्गाररसमण्डन में भी। उदाहरण नीजिए—

(वसन्तरागेण गीयते)

हरिर्हि व्रजयुवतीशतसङ्गे ।

विलसति करिणीगणावृतवारणवर इव रतिपतिमानभङ्गे । १ । ध्रुवपदम् ।
 विभ्रमसंभ्रमलोलविलोचनसूचितसञ्चितभावम् ।
 कापि दृगवलकुवलयनिकरैरञ्जति त कलरावम् ॥ २ ॥
 स्मितरुचिरुचिरतराननकमलमुदीक्ष्य हरेरतिकन्दम् ।
 क्षुब्धति कापि नितम्बवती करतलधूनचिबुकममन्दम् ॥ ३ ॥
 उदभटभावविभावितचापलमोहननिधुवनशाली ।
 रमयति कामपि पीनघनस्तनविलुनितनयवनमाली ॥ ४ ॥
 प्रियपरिरम्भविपुलपुलकावलिद्विगुणित-सुभग शरीरा ।
 उद्गायति सखि ! कापि सम हरिणा रतिरसरणधीरा ॥ ५ ॥ ध्रुव० ॥^१
 और तब राधा सखी से कहती है—

कदाररागेण गीयते ।

कथमपि मधुमयनं मया सह मनोभवकोटिकिरम् ।
 रमय कामरसमप्यारस नय रसिकं मुचिरम् ।
 कुजे निलीयरचितकुसुमशयन गतया कथमपि रहसि ।
 रतिरभसेन हसन्तीभीषत्तलजितया चाहभावे चेतसि ।^२

फिर राधा-कृष्ण के मान-मनाव और अभिमार की यही कहानी कही गयी है जो गीतगोविन्द में है । गीतगोविन्द की ही भांति राधा द्वारा कृष्ण से स्वशृंगार-प्रसाधन की प्रार्थना और कृष्ण के उसे स्वीकार करने के साथ इसका उपमहार होता है ।

नारायणतीर्थ की कृष्णलीलातरङ्गिणी^३ और रू गोस्वामी की गीतावली भी गीतगोविन्द के अनुकरण पर रचे हुए गीतों से भरी पड़ी है । लीलागान विषयक ग्रन्थों के अतिरिक्त दृश्य काव्य तथा गद्य साहित्य पर भी जयदेव का बड़ा भारी प्रभाव परिलक्षित होता है । रामानन्द राय का जगन्नाथ-वत्सल नाटक विशेषरूप से उल्लेखनीय है जिसे स्वयं लेखक ने संगीत नाटक कहना पसन्द किया है । चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों की प्रायः सभी कवि-कृतियाँ इस प्रकार के गीतों से ओत-प्रोत हैं । उदाहरणार्थ कवि कर्णपूर का ध्यानन्दवृन्दावनचम्पू, जीव-गोस्वामी का गोपालचम्पू तथा प्रबोधानन्द का संगीतमाधव इस दृष्टि से बड़े महत्व के हैं । इन सब के उदाहरण देना यहाँ सम्भव नहीं । गीतगोविन्द का आकर्षण कुछ ऐसा अनोखा है कि उसने आधुनिक युग तक की कृतियों को प्रभावित किया है । उदाहरणार्थ शिवराजविजय का यह गीत ले लीजिए—

१. शृङ्गाररसमगडन, मूलचन्द लेलावाला पृष्ठ, ५६ ।

२. वही, पृष्ठ ५८ ।

३. Eggeling, India office catalogue, VII, No. 3881.

सखि हे नन्दतनम आगच्छति ।

मन्दं मन्दं मुरलीरननः समधिकमुखं प्रयच्छति ॥ ध्रुवपदम् ।

भैरवरूपः पापिजनानां सतां सुलकरो देवः ।

कलितललितमालतीमालिकः सुरवरवाञ्छितसेवः ।

सारङ्गः सारङ्गमुन्दरो दूषिभनिषीयमानः ।

चपलचमत्कृतिवसनो विहितमनोहरगानः ।^१

डा० दशरथ श्रोभा का मत है कि जयदेव का प्रभाव आधुनिक लोक-गीत-कारों पर भी अत्यधिक परिलक्षित होता है ।^२ उनके गीतगोविन्द ने मैथिल, ब्रज, गुजराती, मराठी आदि सभी भाषाओं को प्रभावित किया । लोक-नाटकों पर भी इसका अधिक प्रभाव पड़ा । हम काव्य की प्रमुख विशेषताओं में एक विशेषता शब्द-संगीत की है । नादात्मक सौन्दर्य के द्वारा संगीत के प्रभाव की नृष्टि का सामर्थ्य विरले ही कवियों में होता है । यो तो सैकड़ों वर्ष पहले से कवि लोग अनुप्रास और यमक अलंकारों द्वारा वैचित्र्य का आधान अपनी रचनाओं में करते आ रहे थे । 'दण्डिनः पदलालित्यम्' लोगों की प्रशंसा अर्जित कर चुका था, किन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जयदेव का पदलालित्य केवल जैसे तैसे ध्वनिसाम्य के उपकरणों को एकत्र कर चमत्कार-नृष्टि तक ही सीमित नहीं है । भावानुकूलता उसका प्रमुख उद्देश्य है । जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उन्होंने गीत शैली अपभ्रंश से अपनायी और संस्कृत साहित्य की अनेकानेक परम्पराओं का समावेश कर उसे पुष्ट किया, किन्तु उनसे पहले की रचनाओं में उस ढंग की शब्द-योजना शायद ही कहीं हो जिस ढंग की उन्होंने की है । इसलिए यह उनकी मौलिकता ही कही जायेगी । अपभ्रंश में पदरचना की परम्परा तो थी किन्तु शैली का यह परिष्कार और लालित्य का ऐसा उदात्त रूप वहां दुर्लभ था । अतः उत्तरवर्ती गेयपदशैली में रचित रचनाओं में जो यह नवीत तत्त्व देखा जाता है उसके प्रवर्तक जयदेव ही सिद्ध होते हैं । हिन्दी के मध्यकालीन कवियों पर और विशेषतया कृष्ण भक्त कवियों पर यह प्रभाव बहुत ही अधिक मात्रा में दीख पड़ता है । इसका कारण यही है कि हिन्दी के समानान्तर ही विभिन्न सम्प्रदायों में राधाकृष्ण-भक्ति विषयक साहित्य का प्रणयन संस्कृत में भी हो रहा था और, जैसा कि प्रमाणित किया जा चुका है, संस्कृत की इन रचनाओं पर जयदेव का सर्वाङ्गीण प्रभाव पड़ा है । स्वयं गीतगोविन्द के गाने का प्रचार भी विभिन्न सम्प्रदायों में कुछ कम नहीं था । अतः यह स्वाभाविक ही था कि इस श्रेणी की हिन्दी रचनाएँ भी उससे प्रभावित होतीं । बिहार और बंगाल में अब भी गीतगोविन्द के पद विभिन्न धार्मिक उत्सवों पर जनसाधारण तक में गाए जाते हैं । ब्रज की रासलीलाओं में भी इस प्रकार के कुछ पदों का गान होता है ।

१. शिवराज विजय प्रथम समुच्चवास ।

२. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ४४८ ।

ब्रजभाषा में ही आधुनिक रास खेलने वाले जो पद गाते हैं उनमें भी शब्द-संगीत का निर्वाह करने का प्रयत्न बराबर अनुभव किया जा सकता है। इन तथ्यों की दृष्टि में रखते हुए यह असम्भव नहीं कि वर्तमान लोकनाटककारों पर भी जयदेव का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ गया हो। बिहार राज्य के भिखारी ठाकुर के गीतों में स्वरमाधुर्य, शब्दसंगीत और अर्थसंगीत का कहीं कहीं सुन्दर सामञ्जस्य पाया जाता है। 'मैनागुजरी' स्वांग (लोकनाटक) के एक संभाषण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

शाहजादा

गुज्जर पं ब्या मोही है गुज्जर लोक गुम्राल ।

गुज्जर गुज्जर बहुत भले मेरे शाही लोग के काल ।

बावशाह ! शाही लोग के काल ।

यहाँ 'गुज्जर' का 'गुज्जर' और गोपाल का 'गुम्राल' रूपान्तर केवल शब्द-संगीत का प्रभाव लाने के लिए ही है। 'गुज्जर' शब्द रखने से एक तो भाषा के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है और दूसरे अर्थगत कर्कशता से भी उसका सामञ्जस्य नहीं बैठता। अतः भावना के पुरुषत्व की अभिव्यक्ति के लिए 'गुज्जर' शब्द के स्थान में 'गुज्जर' ही अधिक उपयुक्त है। ध्रुवपद के बार बार दुहराये जाने के कारण अभिव्यञ्जनीय भाव में स्थिरता प्राप्ति है। इसीलिए तो इसे ध्रुवक कहा भी जाता है।

ब्रजक्षेत्र के प्रसिद्ध लोक-नाटककार नट्याराम शर्मा के संगीत-स्याहपोश का मञ्जलाचरण देखिये—

करन कष्ट सब नष्ट दुष्टगंजन मंजन प्रतापन ।

शमन अमञ्जल मूल दमन क्रोधादि मानमदपापन ।

अष्टभुजो आठों भुज विक्रम धारि स्वर्ग शरचापन ।

अमुर मारि भयहारि देव इन्द्रादि करे अस्थापन ।

इन उदाहरणों से लोकनाटककारों की भी शब्दसंगीत के प्रति अभिरुचि सिद्ध होती है। यह सत्य है कि ऐसे नाटककार लोक में विरल ही होते हैं किन्तु साहित्यिक जगत में भी अर्थ और शब्द की ध्वनि का पूर्ण समन्वय कर सकने वाले कलाकार कभी-कभी ही अवतरित होते हैं। जयदेव ऐसे ही कलाकार थे और लोक-नाटककारों की इस अभिरुचि के सम्पादन में उनका प्रत्यक्ष तो नहीं किन्तु अप्रत्यक्षतः बड़ा हाथ था।

जयदेव के इस व्यापक प्रभाव की दृष्टि में रखते हुए हम डा० एस० के० डे० के इन शब्दों में अपने सिद्धान्त का प्रतिबिम्ब पाते हैं कि—

In its novelty and completeness of effect, Jayadeva's poem is unique in Sanskrit and it can be regarded as almost creating a new literary genre.¹

इस विवेचन के आधार पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं.—

- १ जयदेव का गीतगोविन्द भागवत-परम्परा से भिन्न लीलागान-परम्परा का साहित्यिक उदाहरण प्रस्तुत करता है।
- २ जयदेव ने शृङ्गारिक गीति परम्परा और स्तोत्र परम्परा का एक ऐसा समन्वय कर दिया जो एक ओर तो भक्तिरस के विकास में योग देता हुआ गोडीय रस शास्त्र की प्रेरणा का मूल बना और दूसरी ओर शृङ्गार के क्षेत्र में राधा-कृष्ण को सामान्य नायक-नायिका की भूमिका में प्रस्तुत करने की पद्धति का प्रवर्तक सिद्ध हुआ।
- ३ संस्कृत में पद लिखने की शैली को उन्होंने उज्जीवित किया और एक ऐसी शैली की नींव डाली जो शताब्दियों तक गीत-लेखकों का आदर्श बनी रही।

उपसंहार

संस्कृत-गीति-काव्य का उदात्त स्वरूप शृङ्गारिक गीतियों में या कुछ धार्मिक स्तोत्रों में दिखाई देता है। किन्तु शृङ्गारिक और धार्मिक विषयों के अतिरिक्त कुछ नीतिकथन तथा वैराग्य-परक उक्तियों में भी उच्चकोटि का कवित्व मिलता है। नीति कथन भारतीय कवि का एक प्रिय विषय रहा है और प्रायः सभी कवियों ने अपने काव्य में कुछ न कुछ नीति विषयक श्लोक अवश्य कहे हैं। शृङ्गार के प्रति अधिक भुकाव होने पर भी उदात्त चारित्रिक धारणा, विषयभोग-न्याय, निरभिलाष जीवन-यापन आदि के सिद्धान्तों में भी कवियों की प्रास्था बनी हुई थी। अनेक प्रकार से ससार की निस्सारता प्रतिपादन द्वारा क्षणिक सांसारिक भोगों से विरति उत्पन्न कर मानव-जीवन के प्रमूल्य क्षणों को ऊँची साधना में लगाये रहने के लिए प्रेरित करने वाले तत्त्व भी समाज में सदा से मौजूद रहे हैं। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के शृङ्गार-प्रधान रीति-युग में उसके पूर्ववर्ती भक्तियुग की छाया स्पष्ट लक्षित होती है उसी प्रकार उपनिषदों के तत्त्व-ज्ञान, बौद्धों के दुःखवाद और स्मृतियों की आचार-प्रवणता की छाया हमारे आलोच्य काल में दीख पड़ती है। यों ही और येरियों की गाथाओं में शान्तरस का जो भव्य स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ उसने अनेक कवियों को आकर्षित किया।

इस परम्परा की सर्वप्रथम प्रसिद्ध कृतियाँ भट्टहरि के वैराग्य और नीति-विषयक शतक हैं। सम्भवतः भल्लटशतक इस परम्परा की सर्वश्रेष्ठ कृति है जिसे गीति-काव्य का उत्कृष्ट निदर्शन कहा जा सकता है। अर्थात् विषय को छोड़ कर शैली,

और रूपविधान (form) की दृष्टि से ये कृतियाँ भी शृंगारिक तथा धार्मिक रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं हैं। नीति-विषयक गीतियों की उल्लेखनीय विशेषता है—अन्योक्ति पद्धति का विकास। अनेक कवियों ने इसी पद्धति को अपनाया और अपनी रचनाओं को नीतिशतक आदि न कह कर अन्योक्ति शतक, अन्योक्तिमुक्तलता आदि नाम देना पसन्द किया।

वास्तव में विषय-वैविध्य की दृष्टि से संस्कृत का गीतिकाव्य अत्यन्त संपन्न है। उसमें कहीं प्रेम की मन्दाकिनी बह रही है तो कहीं करुण रत्न की फल्गुधारा कहीं जीवन के उल्लासमय संगीत है तो कहीं विरह के मर्मोच्छ्वास। संस्कृत गीति-काव्य में प्रकृति का भी एक अपना स्थान है। भारतीय कवियों ने प्रकृति और नारी के सौन्दर्य में अभेद स्थापित किया है। नारी के चरण स्पर्श से अशोक का, आलिंगन से कुबरक का तथा कटाक्ष से तिलक का विकसित होना आदि कविसमय, जो भले ही आज रुढ़ि कहकर हेय समझे जाने लगे हों, इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। वैभव, विलास और कल्पना के अनेकानेक रंगों से चित्रित प्रेम-भावना के चित्रों से संस्कृत गीति-साहित्य भरा पड़ा है। आधुनिक भाषाओं के साहित्य को उसने अत्यन्त प्रभावित किया है और यह बेधड़क कहा जा सकता है कि अन्य भारतीय लोक-भाषाओं से संस्कृत ने जो कुछ लिया है उससे बहुत अधिक दिया भी है। राधा जैसी रस-सृष्टि प्रदान कर उसने आधुनिक भाषाओं के साहित्य के लिए पहले से ही एक नवीन पथ प्रशस्त कर दिया था।

प्रमुख संदर्भ ग्रन्थों की सूची

क—वेद ब्राह्मण, उपनिषद् पुराण तथा स्मृतिग्रन्थ

(१) ऋग्वेद संहिता (सम्पादक मैक्समूलर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) (२) सामवेद संहिता (सं० प० रामस्वरूप शर्मा, १९२७) ३—यजु संहिता (भानन्दाश्रम १९०० ई०) ४—अथर्ववेद संहिता शंकर पाण्डुरङ्ग पण्डित, १८९५ ई०) ५—काठकसंहिता (सं० श्रीपाद शर्मा सातबलेकर १९४३ ई०) ६—वाजसनेयी संहिता (सं० जीवानन्द विद्यासागर, १९०८ ई०) ७—तैत्तिरीय संहिता (पं० सत्यव्रत सामश्रमी, १८९४ ई०) मंत्रयाणी संहिता (श्रीपाद शर्मा सातबलेकर, सं० १९९८ वि०) ८—शतपथ ब्राह्मण (पं० सत्यव्रत सामश्रमी, रायल एशियाटिक सोसायटी) १०—ऐतरेय ब्राह्मण (द्रावणकोर यूनिवर्सिटी, प्र० भा०, १९४२, द्वि० भा० १९५२ ई०) ११—जैमिनीय ब्राह्मण (सं० डा० रघुवीर, नागपुर १९५४) १२—कौशीतकी ब्राह्मण १३—बृहदारण्यकोपनिषद् (भानन्दाश्रम, चतुर्थ संस्करण १९२७ ई०) १४—श्वेताश्वतरोपनिषद् (गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण) १५-१६—छान्दोग्य और कठोपनिषद् (निर्णयसागर 'ईशादिविषोत्तर-शतोपनिषद्' पञ्चम संस्करण के अन्तर्गत) १७—कठोपनिषद् (गीता प्रेस, षष्ठ संस्करण) १८—अग्निपुराण (रायल एशियाटिक सोसायटी) १९—कर्मपुराण (रा० ए० सो० १८९० ई०) २०—वराह पुराण (रा० ए० सो० १८८७ ई०) २१—महाभारत (बम्बई संस्करण, खुला पत्रा) २२—श्रीमद्भागवत (श्यामकाशी प्रेस मथुरा) २३—मनुस्मृति (वेंकटेश्वर प्रेस) २४—याज्ञवल्क्यस्मृति (वेंकटेश्वर प्रेस)

ख—शाब्द, संगीत और काव्य शास्त्र विषयक ग्रन्थ

२५—निष्ठ (डा० लक्ष्मणस्वरूप शास्त्री, लाहौर १९३४ ई०) २६—अष्टाध्यायी, २७—महाभाष्य (चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस, १९५४ ई०) २८—संगीतरत्नाकर (भानन्दाश्रम, १८९७ ई०) २९—संगीत दामोदर, ३०—संगीत दर्पण, ३१—वृत्त रत्नाकर (रामचन्द्र कुशल, १९२५) ३२—सुवृत्ततिलक (काव्यमाला द्वि० गुच्छक द्वि० संस्करण) ३३—नाट्यशास्त्र (चौखम्बा संस्कृत सीरिज) ३४—कामसूत्र (चौखम्बा सं० सी०, १९२९ ई०) ३५—काव्यप्रकाश

भलकीकर, १९३३) ३६—घ्वन्यालोक (ची० सं० सी०, १९३७ ई०)
 ३७—रसगङ्गाधर (निर्णयसागर प्रेस, १९४७) ३८—काव्यादर्श
 पं० जीवानन्द, १८९०) ३९—काव्यालङ्कार सूत्र (श्रीरियण्टल बुक
 एजेंसी, पूना १९२७ ई०) ४०—साहित्यदर्पण (श्री कृष्णमोहन ठाकुर
 १९४७ ई०) ४१—प्राकृतपेङ्गलम् (रा० ए० सी०, बंगाल, १९०० ई०)

ग—पाश्चात्य काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ

४२—पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्त (लीलाधर गुप्त) ४३—बिगिनिंग
 ऑफ पोयटरी (गमरे) ४४—एन इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ दगलिश
 लिटरेचर (हडमन, द्वि० सं० १९१५ ई०) ४५—दि टिपिकल फार्मस
 ऑफ इंगलिश लिटरेचर (यूफ्रेम, मन् १९१७ ई०) ४६—दि निरिक्
 (जानड्रिकवाटर, प्र० सं० १९०२ ई०) ४७—एक्स्प्रेसन ऑफ इमोशन
 (चार्ल्स डार्विन)

घ—विभिन्न इतिहास ग्रन्थ

४८—संस्कृत साहित्य का इतिहास (वीथ, द्वि० सं०) ४९—संस्कृत
 साहित्य का इतिहास (मेक्डानल, प्र० सं०) ५०—संस्कृत साहित्य का
 इतिहास (वरदराजाचारी, १९५२ ई०) ५१—संस्कृत साहित्य का
 इतिहास (डे तथा दासगुप्ता १९४७ ई०) ५२—संस्कृत साहित्य का
 इतिहास (बलदेव उपाध्याय, परिवर्धित सं० १९२७) ५३—पालि-
 साहित्य का इतिहास (भर्तृहरि उपाध्याय, प्र० सं०) ५४—इण्डियन
 लिटरेचर (विटरनिट्ज, १९२७ ई०) ५५—हिन्दी साहित्य का आदि-
 काल (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५२ ई०) ५६—एनजिण्ट
 इण्डिया (मजूमदार, लन्दन १९४० ई०) ५७—भारत का सांस्कृतिक
 इतिहास (हरिदत्त वेदालङ्कार, द्वि० सं० १९५२ ई०) ५८—भारतीय
 संस्कृति और उसका इतिहास (डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार, १९५३ ई०)
 ५९—वैदिक साहित्य और संस्कृति (बलदेव उपाध्याय, १९५५ ई०)
 ६०—वैदिक एज (भारतीय विद्याभवन, बम्बई प्र० सं०) ६१—एज
 ऑफ इम्पीरियल यूनिटी (भारतीय विद्याभवन) ६२—क्लासिकल
 एज, ६३—इम्पीरियल एज, ६४—दि स्ट्रगिल फ़ार एम्पायर (विद्या-
 भवन, प्र० सं०) ६५—हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर (बी० सी० ला०
 लन्दन, १९३३ ई०) ६६—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिटरेचर
 (संक्षिप्त, अष्टम स १९४९) ६७—अपभ्रंश भाषा और साहित्य
 (हरिवंश कोछड़—प्र० सं०) ६८—अलवरूनीज इण्डिया ।

ङ—आलोचनात्मक तथा विविध ग्रन्थ

६९—हिन्दी गीतिकाव्य (डा० रामसेलाबन पाण्डेय, प्र० सं०) ७०—
 हिन्दी गीतगोविन्द (विनयमोहन शर्मा, प्र० सं०) ७१—दोहाकोश

(राहुल सांकृत्यायन, प्र० स०, २००४) ७२—तुलसीदास (रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ स०) ७३—मस्कृत स्टडीज (प्रो० हिरियन्ना, प्र० स० १९५४) ७४—मेघदूत (प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रथम संस्करण) ७५—इण्डिया एज नोन टु पाणिनि (प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल, १९५३ ई०) ७५—इण्डिया वैदिक एण्ड पोस्ट वैदिक (हिलर, प्रथम संस्करण १९५२ ई०) ७७—सूर और उनका साहित्य डा० हरवलाल शर्मा, १९५४ ई०) ७८—साम्स आफ़ सिस्टर्स (श्रीमती रायस डेविड) ७९—हर्षचरित की भूमिका (पी० बी० कारो, १९१८) ८०—साहित्यदर्पण की भूमिका (पी० बी० कारो, तृतीय संस्करण १९५१)।

ब—कोश, संग्रह एवं पत्र-पत्रिकाएँ

८१—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ८२—शब्दकल्पद्रुम, (शक स० १८१०) ८३—मदुक्ति कर्णामृत, ८४—सुभाषितावली, ८५—कवीन्द्र-वचन-समुच्चय, ८६—सिद्ध भारती (स० विश्वबन्धु शास्त्री १९५० ई०) ७८—स्वरूप भारती (स० विश्वबन्धु, १९५४) ८८—हिरियन्ना कोर्मोरेगेशन बाल्युम, प्र० स० १९५२ ई०) ८९—सर आशुतोष सिलवर जुबिली कोर्मोरेगेशन बाल्युम, ९०—सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ (स० डा० नगेन्द्र) ९१—बकिम निबन्धावली (अनु० रूपनारायण पाण्डेय) ९२—जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, ९३—इम्पीरियल गज़टियर (सन् १९०६ ई०) ९४—अवतिका किजल्क राजस्थानी आदि पत्रिकाओं की पुरानी फाइलें।

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल न० २८१ परमा

लेखक शास्त्री परमानन्द

शीर्षक संस्कृत गीतानाम्यन्त्रविकास

खण्ड ४७५३ क्रम संख्या